हिन्दी साहित्य के विकास की रूप-रेखा

लेखक
रामअवध द्विवेदी

भूमिका

हिन्दी साहित्य के छोटे-बड़े अनेक इतिहास उपलब्ध हैं। अतः किसी का यह पूछना अनुचित न होगा क इस नई पुस्तक की उपयोगिता क्या है। इस सम्बन्ध में निवेदन है कि इतिहास घटनाओं एवं तथ्यों का उल्लेखमात्र नहीं है, अपितु उसमें लेखक का अपना दृष्टिकोण भी आधारभूत होकर निहित रहता है। हिन्दी साहित्य का यह संक्षिप्त इतिहास मेरे अपने विचार और दृष्टिकोण से उद्भूत है। अतः एक प्रकार से मैं इसे अपना आत्मनिवेदन कह सकता हूँ। जहाँ तक तथ्यों की बात है, उनका उपयोग आवश्यकतानुसार ही किया गया है। अनावश्यक अथवा गौण महत्त्व वाले तथ्यों से पुस्तक का कलेवर बढ़ाया नहीं गया है, वरन् ऐसे तथ्यों का ही चयन किया गया है जिनकी सहायता से हिन्दी साहित्य की विकास-रेखा स्पष्ट रीति से सामने आती है। यह अत्यन्त आवश्यक है कि हमारे मन में हिन्दी साहित्य-का समग्र मानचित्र साफ-साफ उभर आये। जहाँ तक विवरणों का प्रश्न है, उनको इच्छा और आवश्यकतानुसार कभी भी भरा जा सकता है। तब भी प्रस्तुत पुस्तक में सभी ज्ञातव्य विषयों का यथासम्भव समावेश किया गया है तथा प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर कुछ-न-कुछ विचार अवश्य प्रकट किये गये हैं। विभिन्न युगों का इतिहास सर्वत्र आध्यात्मिक, दार्शनिक, राजनीतिक एवं सामाजिक शक्तियों और प्रवृत्तियों की पीठिका के साथ-साथ लिखा गया है। लिखने का प्रमुख उद्देश्य है पाठकों में हिन्दी साहित्य की जानकारी उत्पन्न करना तथा उसके प्रति अभि-रुचि जाग्रत करना। यदि प्रस्तुत पुस्तक से इस अभीष्ट की तनिक भी सिद्धि हो सकी तो यह लेखक के लिए परम संतोष का विषय होगा।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
रामनवमी, १९-४-५६

रामअवध द्विवेदी

विषयानुक्रम

हिन्दी साहित्य के विकास की रूप-रेखा

प्रथम प्रकरण

आदि काल

हिन्दी भारतीय आर्य-परिवार की भाषा है और इसका मूलस्रोत वैदिक लोक-भाषा में मिलता है। ईसा से प्राय: १५०० वर्ष पूर्व भारत के पश्चिमोत्तर भाग में ऋग्वेद की भाषा छान्दस् तथा अनेक बोलचाल की भाषाएँ प्रचलित थीं। आर्य धीरे-धीरे पूर्व की ओर बढ़ते रहे और इसके साथ ही उनकी प्रचलित बोल-चाल की भाषा के स्वरूप में कुछ-न-कुछ परिवर्तन होता रहा। तब भी सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि प्राय: एक हजार वर्ष तक अर्थात् ईसा के १५०० वर्ष पूर्व से ईसा के ५०० वर्ष पूर्व तक इसी वैदिक लोक भाषा का इस देश में प्रचलन था। ईसा पूर्व पाँचवीं शती के लगभग वैयाकरणों ने भाषा का एक परिष्कृत रूप स्थिर किया। व्याकरण के नियमों से इस नवपरिष्कृत भाषा को उन्होंने इस तरह बाँध दिया कि वह धीरे-धीरे लोक-भाषा से पृथक् हो गई। यही संस्कृत भाषा है जिसमें आगे चलकर उच्च कोटि का प्रचुर साहित्य निर्मित हुआ। संस्कृत भाषा का सामान्यत: आज भी वही स्वरूप है जो पाणिनि आदि वैयाकरणों ने निर्धारित किया था। संस्कृत के रूप स्थिर हो जाने के उपरान्त भी लोकभाषा का विकास-क्रम बन्द नहीं हुआ। बोलचाल की भाषा को प्राकृत की संज्ञा मिली। इसका सबसे पुराना नमूना पाली में मिलता है जिसको बौद्ध और जैन मतों के प्रवर्त्तकों ने उपयोग में लाकर समृद्ध तथा लोकप्रिय बना दिया। आगे चलकर प्राकृत के अन्य रूप भी विकसित हुए जिनमें तीन विशेष उल्लेख्य हैं: मागधी, शौरसेनी, तथा महाराष्ट्री। इनमें जैसा नाम से ही विदित है, महाराष्ट्री का प्राधान्य था। धीरे-धीरे प्राकृत में भी साहित्य निर्माण होने लगा तथा उसका एक परिनिष्ठित साहित्यिक रूप बन गया जो बोल-चाल की भाषा से भिन्न था। वैयाकरणों ने नियमों द्वारा इसका भी स्वभाव और स्वरूप किसी अंश में स्थिर कर दिया और पंडितों तथा कवियों ने इसमें प्रभूत काव्य और गद्य साहित्य लिखा, किन्तु लोक-भाषा की प्रगति अविच्छिन्न रूप से चलती रही। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि ईसवी की छठीं शती तक प्राकृत से विभिन्न एक नवीन भाषा प्रचलित हो गई थी। इस नई भाषा के

अपभ्रंश की संज्ञा दी जाती है और यद्यपि लोकभाषा के रूप में यह छठीं शताब्दी के लगभग सामने आती है तथापि कई सौ वर्ष पहले से ही इसके नमूने नाटकों तथा लक्षण ग्रन्थों में मिलने लगते हैं। अपभ्रंश का सम्बन्ध भारतवर्ष में बाहर से प्रविष्ट होने वाली आभीर, गुर्जर प्रभृति बर्बर जातियों से था। उनके सम्पर्क से लोक-भाषा को नया बल तथा प्रचलित लोक-साहित्य को एक नवीन प्रेरणा मिली। विकास-क्रम में अपभ्रंश का भी एक साहित्यिक रूप प्रस्तुत हुआ जिसे विद्वानों ने नागर, उपनागर आदि विभिन्न परिनिष्ठित अपभ्रंशों का नाम दिया है। इसी साहित्यिक अपभ्रंश में प्रचुर मात्रा में ग्रन्थों का निर्माण हुआ जिनमें धर्म-ग्रन्थों के अतिरिक्त अनेक सुन्दर तथा मनोरञ्जक काव्यग्रन्थ भी थे। कई शताब्दियों तक अपभ्रंश में साहित्य निर्माण का कार्य हुआ। इस परिनिष्ठित अपभ्रंश से पृथक् लोकभाषा का वह स्वरूप था जो बोलचाल के लिये काम में आता रहा। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि अपभ्रंश ही परिवर्तित होकर अन्ततोगत्वा हिन्दी के रूप में प्रगट हुआ। यद्यपि इस सम्बन्ध में मतभेद है कि हिन्दी का उत्थान किसी परिनिष्ठित अपभ्रंश से हुआ अथवा बोलचाल की भाषा से। इधर कुछ विद्वानों ने इस बात पर जोर दिया है कि हिन्दी का सीधा सम्बन्ध लोक प्रचलित अपभ्रंश से ही है। अपभ्रंश के अनेक भेद किये गये हैं। मुख्यतः तीन भेद माने गये हैं: नागर, उपनागर, ब्राचड। विस्तार की दृष्टि से नागर, शौरसेनी, अर्धमागधी, तथा मागधी इत्यादि विभिन्न रूपों का उल्लेख किया जाता है। अधिकांश विद्वानों ने अवहट्ठ को अपभ्रंश का पर्यायवाची माना है, किन्तु कभी-कभी अवहट्ठ से अपभ्रंश और हिन्दी के बीच स्थित भाषा की उस अवस्था का बोध होता है जिसे हम अपभ्रंश का अन्तिम रूप अथवा हिन्दी का प्राथमिक स्वरूप मान सकते हैं।

सन् १९०२ ई० के पूर्व अपभ्रंश साहित्य के केवल थोड़े-से नमूने विद्वानों के सामने थे, मुख्यतः हेमचन्द्राचार्य के व्याकरण में संग्रहीत उद्धरण तथा नाटकों और लक्षण ग्रन्थों में आने वाले अपभ्रंश के अंश। सन् १९०२ ई० में पिशेल ने जर्मन भाषा में अपना महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया और उसके उपरान्त अनेक विद्वानों ने अपने अध्यवसाय से निरन्तर अपभ्रंश साहित्य से सम्बन्धित ज्ञान की वृद्धि की है। सन् १९१४ में याकोबी ने एक जैन पुस्तक-भण्डार से भविसयत्तकहा को प्राप्त किया और प्रचुर अपभ्रंश साहित्य के उपलब्ध होने की संभावना की ओर संकेत किया। खोज से सचमुच इस प्रकार के बहुसंख्यक तथा महत्वपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध हुए। इसी प्रकार बौद्ध सिद्धों से सम्बन्ध रखने वाला अपभ्रंश साहित्य भी आज उपलब्ध है। महामहोपाध्याय हरिप्रसाद शास्त्री, प्रबोधचन्द्र बागची, सुनीतिकुमार चटर्जी, राहुल सांकृत्यायन प्रभृति विद्वानों ने तत्सम्बन्धी खोज तथा अध्ययन का कार्य किया। इधर कुछ वर्षों से राजस्थान के विद्वान् अपभ्रंश और

पुरानी राजस्थानी के ग्रन्थों के प्रकाशन तथा अध्ययन में संलग्न हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि पिछले पचास वर्षों में अपभ्रंश साहित्य के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने महत्वपूर्ण कार्य किया है और फलतः उसकी विशेषताओं की ओर हमारा ध्यान अधिकाधिक आकृष्ट हुआ है।

अब यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने आता है कि हम अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी के आदिकाल का साहित्य कह सकते हैं अथवा नहीं। यह प्रश्न अत्यन्त विवादग्रस्त है, तब भी कुछ मोटे-मोटे निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं है। अपभ्रंश के पुराने रूप और हिन्दी में अन्तर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है, अतः सम्पूर्ण अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी के अन्तर्गत मानना अनुचित है, इसमें तनिक भी मतभेद नहीं हो सकता। किंतु अपभ्रंश का स्वरूप बदलता गया और उसकी पिछली अवस्था में उसमें और पुरानी हिन्दी में बहुत साम्य दिखाई पड़ता है। प्रसिद्ध विद्वान् पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने लिखा है, "पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से मिलती है और पिछली पुरानी हिन्दी से। अपभ्रंश कहाँ समाप्त होती है और पुरानी हिन्दी कहाँ प्रारम्भ होती है इसका निर्णय करना कठिन किंतु रोचक और बड़े महत्त्व का है। इन दो भाषाओं के समय और देश के विषय में कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती। कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें अपभ्रंश भी कह सकते हैं, पुरानी हिन्दी भी।" महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अपने संग्रह 'हिन्दी काव्य-धारा' में यह दिखा दिया है कि अपभ्रंश उद्धरणों में थोड़े-से पुराने शब्दों को हटाकर उनके स्थान पर तत्सम शब्दों के समावेश से अपभ्रंश और हिन्दी का अंतर बहुत कुछ मिट जाता है। काव्य विषय तथा काव्य रूपों पर ध्यान देते ही अपभ्रंश और हिन्दी का निकट सम्बन्ध और भी स्पष्ट हो जाता है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० रामसिंह तोमर आदि ने यह भलीभाँति सिद्ध कर दिया है कि हिंदी के परवर्ती साहित्य में अपभ्रंश-कालीन विषयों तथा रूपों का निस्संकोच ग्रहण किया गया है और इस प्रकार ७वीं शती से रीति-काल तक विकास-सूत्र अविच्छिन्न चला आता है। विद्वानों के इस प्रकार के अध्ययन भाषा के अध्ययन से भी अधिक मूल्यवान हैं और इस बात को प्रमाणित करते हैं कि कम-से-कम अपभ्रंश साहित्य का एक ऐसा अंश है कि जिसको यदि हम पुरानी हिंदी का साहित्य कहें तो कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इस सम्बन्ध में इससे अधिक तर्क उपस्थित करना आवश्यक नहीं है।

आज से थोड़े ही दिन पूर्व तक यह सामान्य धारणा थी कि अपभ्रंश साहित्य प्रधान रूप से उपदेशात्मक तथा धार्मिक है और इसलिए साहित्यिक दृष्टि से इसकी उपेक्षा होती रही है। अब पर्याप्त मात्रा में अपभ्रंश साहित्य प्राप्त हो चुका है और उस पर विचार करने से उसकी बहुरूपता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इसी भाँति उसमें विशिष्ट साहित्यिक गुणों का विद्यमान होना भी अब अंशतः स्वीकार किया

जाता है। निस्संदेह अपभ्रंश साहित्य का मुख्य स्वर धार्मिक तथा उपदेशमूलक है। ब्राह्मणों द्वारा प्रणीत संस्कृत साहित्य से इसका सीधा विरोध पग-पग पर लक्षित होता है। संस्कृत साहित्य का अभ्युदय और विकास मध्य-देश में हो रहा था किंतु उसके आस-पास के प्रदेशों में अपभ्रंश तथा लोक-भाषा में साहित्य रचना का कार्य संपन्न हुआ। ब्राह्मणों द्वारा समर्थित कर्मकाण्ड और पूजा के विधानों की उपेक्षा करते हुए बौद्ध और जैन सम्प्रदाय के कवियों ने सहज जीवन और सहज उपासना के महत्त्व पर अधिकाधिक जोर दिया। अन्तर्मुखी उपासना पर विशेष आग्रह था। बौद्ध सिद्धों के काव्य में हठयोग और तन्त्र तथा जैन कवियों की कृतियों में नैतिक उपदेशों का भी विशेष स्थान है। इतना होते हुए भी ऐहिकता का अभाव नहीं है। सिद्धों की उलटवासियों में तो शृंगारिकता से बढ़कर अश्लीलता की झलक उनके बाहरी अर्थ में मिलती है और जैन कवियों के चरित-काव्य मुख्यतः प्रेमाख्यान हैं। रूप और प्रेमवर्णन के विषय प्रायः सभी प्रमुख कवियों को प्रिय थे। रासक काव्य तो शुद्धरूपेण शृंगारिक हैं पर उनके अतिरिक्त भी असंख्य शृंगार प्रधान दोहों का संकलन अपभ्रंश साहित्य से किया जा सकता है। अतएव अब अपभ्रंश साहित्य को कोरा धार्मिक साहित्य मान कर अलग नहीं किया जा सकता वरन् उसका अध्ययन और विवेचन आवश्यक है।

उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य को हम चार श्रेणियों में विभाजित करके प्रत्येक का अध्ययन अलग-अलग करेंगे। यह चार श्रेणियाँ हैं,—(१) जैन अपभ्रंश साहित्य, (२) बौद्ध अपभ्रंश साहित्य, (३) नाथपंथ का अपभ्रंश साहित्य और (४) ऐहिक अपभ्रंश साहित्य।

जैन अपभ्रंश साहित्य—

जैन अपभ्रंश साहित्य में मुक्तक तथा प्रबंध काव्य दोनों ही मिलते हैं। मुक्तकों की एक परम्परा रहस्यात्मक थी। इसके प्रमुख कवि हैं योगीन्द्र रामसिंह मुनि तथा सुप्रभाचार्य। योगीन्द्र की प्रधान कृतियाँ **प्रमात्म प्रकाश** और योग सार हैं। इन दोनों के विषय धार्मिक तथा नैतिक हैं। रामसिंह मुनि रचित 'पाहुड़ दोहा' की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश है तथा इसका स्वर रहस्यमूलक है। ईश्वर तथा उपासना के स्वरूप पर विचार प्रकट किए गये हैं और साथ-ही-साथ नैतिक उपदेशों का भी समावेश है। सुप्रभाचार्य के सम्बन्ध में बहुत कम बातें ज्ञात हैं। किन्तु विद्वानों की यह धारणा है कि रामसिंह मुनि की भाँति इनका समय भी प्रायः १०वीं शती के लगभग है। उनकी प्रधान रचना वैराग्यसार में वैराग्य का महत्त्व बताया गया है।

अपभ्रंश मुक्तक काव्य की दूसरी शाखा प्रधानतः उपदेशात्मक है। इसके

प्रतिनिध कवि देवसेन, जिनदत्त सूरि, महेश्वर सूरि इत्यादि हैं। इनकी रचनाओं में संयम, सहज उपासना, तथा कौटुम्बिक जीवन की पवित्रता पर विशेष आग्रह मिलता है।

जैन-साहित्य में अनेक सुन्दर प्रबन्ध-काव्य लिखे गये हैं। इनमें कुछ तो रामायण-पुराण आदि की सुपरिचित कथाओं को जैन विचारों और विश्वासों का पुट देकर नवीन ढंग से प्रस्तुत करते हैं और कुछ अन्य चरित काव्य हैं जो प्रेम-कथानकों के आधार पर जैन-सिद्धान्तों का महत्त्व प्रदर्शित करते हैं। इन दोनों ही प्रकार के प्रबन्ध काव्यों का प्रधान लक्ष्य यद्यपि धार्मिक है तब भी उनमें साहित्यिक सौंदर्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। प्राकृतिक सौंदर्य का उत्कृष्ट चित्रण तथा पात्रों का रूप-वर्णन अनेक रचनाओं में बार-बार उपलब्ध होता है और इस भाँति रोचकता का सहज आविर्भाव हो जाता है। प्रेम के निरूपण में शृंगार-भावना का प्रकाशन हुआ है। इसके अतिरिक्त काव्य निर्माण कला तथा शैली का विशिष्ट सौन्दर्य भी प्रभावोत्पादक है। मुक्तक अधिकांश दोहा और कभी-कभी पदों में लिखे गये हैं किन्तु प्रबन्ध-काव्यों की रचना के लिये पद्धड़िया-बन्ध का ही आश्रय लिया गया है। इन पद्धड़िया-बन्धों में कुछ निश्चित पंक्तियों के बाद धत्ता दिया जाता है। इनमें और हिन्दी-साहित्य के परवर्ती काव्य में प्रयुक्त दोहा और चौपाई के योग से प्रस्तुत किये गए रचना विधान में घनिष्ठ साम्य है।

अपभ्रंश के दो महाकवियों स्वयंभू और पुष्पदन्त ने राम-कथा के आधार पर महाकाव्यों की रचना की है और यह दोनों ही साहित्यिक सौंदर्य तथा धार्मिक भावना की दृष्टि से बेजोड़ हैं। रामकथा की परम्परा प्राचीन काल से चली आई थी और प्राकृत और संस्कृत में इस विषय के अनेक काव्य थे। राम और लक्ष्मण की गणना जैन बलदेवों और वासुदेवों में होती है। इस दृष्टि से भी जैन कवि राम-कथा की ओर आकृष्ट हुए और उन्होंने अपने काव्य में प्राचीन कथा को एक नवीन रूप दिया। कथानक में अनेक स्थलों पर परिवर्तन कर दिया है और जिन पूजा और जैन विश्वासों को प्रमुख स्थान दिया गया है, किन्तु इतना होते हुए भी परम्परागत राम-कथा और इस नवीन रूप में साम्य स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। स्वयंभू अपभ्रंश के सर्वप्रथम महाकवि हैं और उनको हिन्दी का प्रथम महाकवि कहना अत्युक्ति न होगी। इनका समय सभी विद्वान ९वीं शताब्दी ही मानते हैं। इनकी तीन रचनाएँ मिलती हैं, **पउम चरिउ रिट्ठणो मिचरिउ** तथा **स्वयंभू छन्द**। इनमें **स्वयंभू छन्द** प्रकाशित हो गया है और काव्यरूपों के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उदाहरण के रूप में अनेक पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं से उद्धरण दिए गए हैं। इससे पुस्तक का ऐतिहासिक महत्त्व बढ़ गया है। **रिट्ठणो मिचरिउ** का सम्बन्ध हरिवंश-पुराण और महाभारत से है। कवि की सर्वाधिक महत्त्व रखने

वाली कृति **पउम चरिउ** ही है। इस विशाल ग्रन्थ में कतिपय शंकाओं के समाधान के निमित्त पाँच खंडों में रामायण की सम्पूर्ण कथा वर्णित है। हम पहले ही कह आए हैं कि कथा का प्रचलित रूप कहीं-कहीं बदल दिया गया है। उदाहरणार्थ भरत और शत्रुघ्न के कथानक का विकास-भाग प्रायः नगण्य है। [सीता रावण की पुत्री मानी गई है तथा हनुमान कामदेव के अवतार और अन्त में राम और लक्ष्मण जिन मूर्ति की उपासना करते हैं। किन्तु इन परिवर्तनों तथा साम्प्रदायिक तथ्यों और विश्वासों के समावेश के होते हुए भी स्वयंभू का **पउम चरिउ** साहित्यिकता से ओत-प्रोत है। वर्णनों की छटा प्रारम्भ से लेकर अन्त तक मनमोहक है। काव्य मगध देश के सुन्दर वर्णन से आरम्भ होता है और आगे चलकर सर, सरित, पर्वत, उपवन, नगर सभी के सुन्दर और विस्तृत वर्णन मिलते हैं। इस सम्बन्ध में अयोध्या के वैभव का सफल चित्रण विशेष उल्लेखनीय है। इसी प्रकार सीता और मन्दोदरी के रूप का सजीव चित्रण भी मिलता है। इस काव्य में सभी रसों का समावेश हुआ है और रसों की स्थापना में कवि को सम्यक् सफलता मिली है। पुष्पदंत १०वीं शती ई० के कवि थे। इन्होंने अपने महापुराण की ग्यारह सन्धियों में रामायण की कथा को लेकर काव्य-रचना की है। पुराण का यह अंश बिलकुल अलग एक स्वतन्त्र महाकाव्य के रूप में माना जा सकता है। बहुत-सी बातों में इसमें और **स्वयंभू** के पउम चरिउ में साम्य है। दोनों ही शंका निवारणार्थ लिखे गए हैं और कथा भी प्रायः एक ही तरह अग्रसर होती है। छन्दों के चयन में पुष्पदंत अधिक कुशल प्रतीत होते हैं। विभिन्न स्थलों पर उन्होंने बदल कर उपयुक्त छन्दों का प्रयोग किया है। अलंकारों की शोभा भी दर्शनीय है। **महापुराण** के अतिरिक्त पुष्पदंत की अन्य रचनाएँ हैं, **णायकुमार चरिउ** और जसहर चरिउ।

अपभ्रंश के चरित-काव्य विशेष रूप से विचारणीय हैं क्योंकि उनका सम्बन्ध मध्य कालीन हिंदी प्रेमाख्यानों और चरित-काव्यों से प्रत्यक्ष रूप से लक्षित होता है। यह सभी चरित-काव्य धार्मिक अभिप्राय से लिखे गए हैं, कभी जिन पूजा और कभी श्रुतपंचमी व्रत, पंचनमस्कार इत्यादि के महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिए, किंतु साहित्यिक दृष्टि से उनका मूल्य कम नहीं है। प्रायः सभी काव्य प्रेम-कथानकों को आधार बनाकर लिखे गए हैं। रूप-वर्णन, चित्र-दर्शन, अथवा साक्षात्कार से प्रेम का उदय होता है और नायक और नायिका अनेक संकटों और आपदाओं को झेलते हुए अंत में एक दूसरे से विवाह सम्बन्ध द्वारा मिल जाते हैं। उसके बाद भी बार-बार परीक्षा होती है किंतु दैवी कृपा और व्रतादिक के पालन से वे अंत तक सफल रहते हैं। कथानक का अंत सुखपूर्ण शान्त वातावरण में होता है। कथा अनेक विषम परिस्थितियों तथा पात्रों के लिए अत्यन्त संकटमय स्थलों को पार करती हुई अग्रसर होती है, अतः उसकी रोचकता में कमी नहीं आने पाती। वर्णनों की

छटा इन चरित काव्यों में भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। इन काव्यों में कडवक-बद्ध शैली की ही प्रधानता है, यद्यपि कभी-कभी अन्य छन्द भी काम में लाए गए हैं। कथा कहने में सभी कवि अपनी चातुरी का प्रमाण देते हैं और इसलिए हम सरलता से यह मान सकते हैं कि अपने युग में ये वर्णनात्मक कथा काव्य अत्यन्त लोक प्रिय रहे होंगे। प्राप्त चरित काव्यों में केवल थोड़े से ही अभी प्रकाशित हो पाए हैं। इन प्रकाशित ग्रन्थों के नाम हैं :

(१) भविसयत्तकहा—१० वीं शती विक्रम
(२) जसहर चरिउ—११ वीं शती विक्रम
(३) णाय कुमार चरिउ—११ वीं शती विक्रम
(४) करकण्डु चरिउ—१२ वीं शती विक्रम

भविसयत्तकहा को सर्व प्रथम याकोबी ने प्राप्त किया था। यह एक साहसी युवक भविष्यदत्त और उसके भाई बन्धुदत्त के संघर्ष की कथा है। भविष्यदत्त की माता विदुषी है, किंतु बन्धुदत्त की माता उसको कुचक्रों में डालती है। अंत में भविष्यदत्त की ही जींत होती है और वह सिंहासनारूढ़ होकर राज्य वैभव का भोग करता है। इस कथा-काव्य में अनेक सुन्दरियों का रूप वर्णन मिलता है और उनके प्रणय के कारण ही कथा के विकास में अनेक स्थलों पर नवीन उलझन पैदा हो जाती है। भविसयत्तकहा के लेखक धनपाल कवि हैं। पुष्पदंत के **जसहर चरिउ** और **णाय कुमार चरिउ** का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। जसहर चरिउ में जम्बू द्वीपस्थ राजपुर नगर की एक घटना का वर्णन है। यशोधर और उनकी माता एक क्षुल्लक युग्म के रूप में अवतीर्ण होते हैं और उनके प्रभाव से राजा तथा करामात दिखाने वाले योगी सिद्ध जिनधर्म में दीक्षित होते हैं। इसी भाँति **णाय कुमार चरिउ** में मगध देश में कनकपुर के राजा जयन्धर की रानी पृथ्वी-देवी के पुत्र के कुएँ में गिरने और नागों द्वारा पोषित होने की कथा कही गई है। नाग-कुमार के अत्यन्त सुन्दर और साहसी होने के कारण अनेक नागयुवतियाँ उससे प्रेम करने लगती हैं।

कनकाभर रचित करकंडु चरिउ में नायक करकंड के शौर्य तथा प्रेम के आधार पर ही कथा का निर्माण हुआ है। इन प्रकाशित पुस्तकों के अतिरिक्त कई अप्रकाशित चरितकाव्य उपलब्ध हैं। **सुदर्शन चरिउ** में नायक सुदर्शन एक सुन्दर वणिक युवक है। रानी अभया उस पर आसक्त हो जाती है। किंतु चरित्रवान नायक मोह के पाश में नहीं बँधता और अनेक कठिनाइयों को झेलते हुए सुख और यश प्राप्त करता है। अन्य उल्लेखनीय अप्रकाशित चरित काव्यों के नाम हैं :—(१) नेमिनाह चरिउ (१५ वीं शती विक्रम) (२) सुकौशल चरिउ (१५ वीं शती विक्रम) (३) पास चरिउ (संवत् ९९२ के आस पास)

बौद्ध-सिद्ध अपभ्रंश साहित्य—

बौद्ध-सिद्ध अपभ्रंश साहित्य का सीधा सम्बन्ध महायान, अथवा उसके विकसित होने वाले मंत्रयान, वज्रयान, काल चक्रयान आदि रूपों से है। बौद्धधर्म का प्रचार बहुत कुछ वैदिक कर्मकाण्ड के विरोध में हुआ था। यज्ञ और पूजा के जटिल नियमों से ऊब कर धर्म और सदाचार पर जोर देने वाले बौद्धधर्म का भारतीय जनता ने सहर्ष स्वागत किया। आगे चलकर, प्रायः दूसरी शताब्दी ई० के लगभग महायान मत का आविर्भाव हुआ क्योंकि हीनयान लोगों को कुछ अधिक गंभीर, और शुष्क प्रतीत होने लगा था। अश्वघोष तथा शून्यवाद के प्रवर्तक आचार्य नागार्जुन ने अपने समर्थन द्वारा महायान को बल प्रदान किया। उसमें नैतिक और सामाजिक बन्धनों और रुकावटों का अभाव था अतः उसकी लोकप्रियता बढ़ने लगी। ६वीं और ७वीं शती ई० के आस पास महायान में तन्त्र का समावेश हुआ। कुछ विद्वानों का मत है कि तन्त्र का जन्म ही बौद्ध धर्म की परिधि में हुआ था, किंतु अन्य विद्वान् यह मानते हैं कि तन्त्र के कुछ उपकरण तो वेदों से ही प्राप्त हुए थे और अधिकांश तिब्बत, चीन प्रभृति देशों से आकर बौद्ध धर्म में सन्निविष्ट हो गए। विशेष कर तांत्रिक क्रियाओं में जो भ्रष्टाचार मिलता है उसको लोग चीन और तिब्बत से आया हुआ मानते हैं और इसीलिए कभी-कभी उसे चीना चार की संज्ञा देते हैं। जो कुछ भी हो तन्त्र के समावेश से पतनोन्मुख बौद्ध धर्म इस देश में और शीघ्रता से विघटित हुआ। तन्त्र साहित्य की एक विशेषता यह है कि उसके दो अर्थ प्राप्त होते हैं। बाहरी अर्थ अक्सर असंगत और अश्लील होता है किंतु गहराई तक जाने पर सभी बातों की संगति बैठ जाती है और एक रहस्यमय आध्यात्मिक अर्थ उपलब्ध होता है। सिद्धों द्वारा लिखित अपभ्रंश साहित्य इसी कोटि का है। वाहर का अर्थ अत्यन्त वीभत्स और घृणास्पद दिखाई देता है किंतु तह में योग और तन्त्र के सूक्ष्म तत्व छिपे रहते हैं।

सिद्धों की संख्या वैसे तो चौरासी मानी जाती है, किंतु केवल २३ सिद्धों की रचनाएँ अभी तक मिलीं और प्रकाशित हुई हैं। महामहोपाध्याय हरिप्रसाद शास्त्री ने उनकी भाषा को १,००० वर्ष पुरानी बँगला बताया था किंतु महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है कि वह हिन्दी का ही एक पूर्ववर्ती रूप है। कुछ दोहों और पदों में शौरसेनी अपभ्रंश का प्रयोग है किंतु अधिकांश में अपभ्रंश का पूर्वी रूप मिलता है। दोहा और पद आगे चलकर हिन्दी में अधिकाधिक प्रयुक्त हुए हैं किन्तु बँगला में दोहा का प्रायः पूर्ण अभाव है।

इस दृष्टि से भी सिद्धों की रचनाओं का सम्बन्ध हिन्दी से ही अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। सिद्धों की रचनाओं को हम दो श्रेणियों में बाँट सकते हैं। प्रथम श्रेणी की वे रचनाएँ हैं जिनमें कर्म काण्ड के आडम्बर से हटकर अपने भीतर

ही आध्यात्मिक तत्वों की खोज करने के लिए आदेश दिया गया है। सिद्धों की दृष्टि में इस सहज उपासना का सबसे अधिक महत्व था। दूसरी कोटि की रचनाएँ वे हैं जिनमें तांत्रिक क्रियाओं और विश्वासों का अधिक उल्लेख है। सिद्धों की वाणी सब कहीं अटपटी है और उनके अर्थ के समझने के लिए सदा प्रयास करना पड़ता है। प्रयत्न करने पर भी कभी-कभी उनकी उलटवासियों का अर्थ स्पष्ट नहीं होता है, और इसीलिए उनकी भाषा को संध्या भाषा अथवा संधा भाषा कहा गया है। संध्या भाषा से अभिप्राय है ऐसी भाषा का जिसमें अर्थ पूर्णरूप से प्रकाशित नहीं होता है और जिस पर रहस्यात्मकता का झिलमिल परदा पड़ा रहता हो।

प्रमुख सिद्धों में कुछ के नाम निम्नलिखित हैं :—सरहपा (८ वीं शती) शवरपा (९ वीं शताब्दी) लुइपा (९ वीं शती) भूसुकपा (९ वीं शती) गोरक्षपा (९ वीं शती) विरूपा (९ वीं शती)। शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से बौद्ध सिद्धों द्वारा रचित साहित्य का महत्व केवल अल्प है किन्तु उनकी कृतियों में भाषा का एक ऐसा रूप मिलता है जिसका घनिष्ठ सम्बन्ध हिन्दी से है। उनके द्वारा प्रयुक्त दोहा, पदों और उलटवासियों की परम्परा बहुत दिनों तक हिन्दी साहित्य में प्रचलित रही और उनकी अन्तर्मुखी निर्गुण उपासना का प्रभाव हिन्दी के परवर्ती भक्तिकाव्य पर असंदिग्ध रूप से पड़ा। इस बात को ध्यान में रखते हुए भी उनकी रचनाओं का अध्ययन अत्यन्त समीचीन है।

नाथपंथियों का लोकभाषा साहित्य—

नाथपंथ के प्रवर्त्तक गोरखनाथ के समय के विषय में बहुत मतभेद है। कुछ लोग इन्हें दसवीं शताब्दी का मानते हैं तो कुछ लोग इनका काल बारहवीं शताब्दी से लेकर १४ वीं शताब्दी बताते हैं, किन्तु नवीन अनुसन्धान के फलस्वरूप अधिकांश विद्वान् अब यह मानने लगे हैं कि गोरखनाथ और उनके गुरु मत्स्येन्द्र नाथ का समय नवीं शती ईसवी के लगभग था। नाथपंथ एक प्रकार से सिद्ध मत का हिन्दू रूप है। बौद्ध सिद्धों की भाँति ही नाथपंथी योगी योग साधना और तन्त्र में गहरी आस्था रखते थे और उनका भी विशेष आग्रह सहज जीवन और सहज उपासना पर था। नाथपंथी आध्यात्मिक परम तत्व की खोज घट के अन्दर करते थे। अतः मानसिक और शारीरिक शुचिता तथा निष्ठा और एकाग्रता को विशेष महत्त्व देते थे। गुरु का निर्देश शिष्य के लिए परम सहायक माना जाता था किन्तु शिष्य सदैव गुरु का अनुसरण करने के लिए बाध्य नहीं था। नाथसम्प्रदाय पर शैव दर्शन का भी गहरा प्रभाव पड़ा। शिव को नाथपंथी आदिनाथ मानते हैं और सम्भवतः इस कारण भी नाथपंथ में तंत्र का प्राधान्य पाया जाता है। गोरखनाथ की शिक्षा और नाथ मत की यह प्रमुख विशेषता है कि उसमें शुद्ध आचरण

और ब्रह्मचर्य, वाक्-संयम इत्यादि पर बहुत जोर दिया गया है और योगियों के निर्लिप्त जीवन की तुलना में गार्हस्थ्य जीवन की निन्दा की गई है।

नाथपंथ का अधिकांश साहित्य संस्कृत में है किन्तु गोरखनाथ तथा अन्य नाथ पंथी सिद्धों का उपदेश जनता तक पहुँचाने के लिए लोकभाषा का उपयोग किया गया है। स्वर्गीय पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने हिन्दी में रचित चालीस नाथ-पंथी पुस्तकों का पता लगाया था और उनमें से १३ प्रमुख ग्रन्थों को प्रकाशित भी किया था। इन ग्रन्थों में शब्दी, दोहे, पद इत्यादि हैं। शंका निवारणार्थ प्रश्नोत्तर की पद्धति काम में लाई गई है। दो ग्रन्थ '**सबदी**' तथा **मत्स्येन्द्र-गोरख-बोध** विशेष उल्लेखनीय हैं। इन सभी ग्रन्थों का निर्माण नवीं शताब्दी से लगा कर चौदहवीं शताब्दी तक हुआ होगा। अतः इनकी भाषा को अपभ्रंश न कहकर पुरानी हिन्दी कहना ही अधिक उपयुक्त है। नाथपंथियों के इस साहित्य ने आगे चल कर हिन्दी भक्ति काव्य को प्रभावित किया। इनके फक्कड़पन और इनकी निर्गुण उपासना की छाप कबीर, दादू, प्रभृति निर्गुणी सन्तों की रचनाओं में मिलती है। सूफियों की प्रेम गाथाओं में ऐसे स्थल आते हैं जब नाथपंथी योगियों और उनके उपदेश का स्मरण अनायास हो आता है। यह स्पष्ट है कि तुलसीदास नाथपंथियों की सब्दियों से परिचित थे। जैसा डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, नाथपंथी लोक-साहित्य ने परवर्ती हिन्दी काव्य को सचमुच एक दृढ़ कंठस्वर प्रदान किया।

ऐहिकतापरक अपभ्रंश साहित्य—

अभी तक हमने जिस साहित्य का उल्लेख किया है उसका सम्बन्ध किसी न किसी धार्मिक सम्प्रदाय तथा उसके विश्वासों के साथ है। यद्यपि उसमें साहित्यिक सौंदर्य का नितान्त अभाव नहीं है। इसके अतिरिक्त अध्ययन और खोज द्वारा आज हमारे पास अपभ्रंश साहित्य के ऐसे नमूने पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं जिनका स्वर प्रधान रूपेण ऐहिक है। उदाहरण के लिये **विक्रमोर्वशीय** के चतुर्थ अंक में आने वाले अपभ्रंश पद्यों को हम ले सकते हैं जिनमें प्राकृतिक वर्णनों का बेजोड़ आकर्षण है। आनन्दवर्धन के **ध्वन्यालोक** और भोज के **सरस्वती कंठाभरण** इत्यादि में अपभ्रंश के अंश विद्यमान हैं। हेमचन्द्राचार्य के **व्याकरण** में उद्धृत अपभ्रंश पद्यों में शृंगार और वीरदर्पोक्ति, वैराग्य, तथा नीति का समावेश है। इसी भाँति शार्ङ्गधर-पद्धति, प्रबोध-चिन्तामणि, कुमारपाल-प्रतिबोध, और कुमारपाल चरित प्रभृति ग्रन्थों में भी शृंगार और नीति के अनेक दोहे प्राप्य हैं। अब तक उल्लिखित प्रायः सभी काव्य मुक्तक हैं और इनकी परंपरा आगे चलकर रीति काल के शृंगार प्रधान मुक्तक काव्य में परिणत हो गई। इसके अतिरिक्त अब्दुल रहमान का **संदेश रासक** तथा विद्यापति के दो ग्रन्थ, **कीतिलता** और **कीर्तिपताका** भी यहाँ उल्लेखनीय

हैं। समय के विचार से अब्दुल रहमान तथा विद्यापति की रचनाओं का विवेचन अगले अध्याय में किया जायगा। यह भी कह देना आवश्यक है कि **शार्ङ्गधर-पद्धति** प्रबोध-चिन्तामणि, कुमारपाल प्रतिबोध इत्यादि की रचना १०वीं शती ई० के बहुत बाद हुई थी। हेमचन्द्र के व्याकरण की रचना १२वीं सदी के अन्त में मानी जाती है, किन्तु उसमें उद्धृत किए हुए दोहों में से बहुत-से दोहे ऐसे हैं जिनकी रचना बहुत पहले हो गई होगी। १०वीं शती के बाद की रचनाओं में परिनिष्ठित अपभ्रंश का बहुत निखरा हुआ रूप मिलता है और यह स्पष्ट है कि जैसे-जैसे समय बीतता गया अपभ्रंश का सहज लोक-प्रचलित रूप परिष्कृत होकर अधिकाधिक रूढ़िबद्ध होता गया।

भाव-प्रवाह तथा काव्य-रूपों को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट दिखाई देता है कि अपभ्रंश तथा हिन्दी साहित्य में न केवल साम्य है वरन् इनमें घनिष्ठ सम्बन्ध भी है। हमने ऊपर के सिंहावलोकन में इस सम्बन्ध की ओर अनेक स्थलों पर संकेत किया है। भाषा की दृष्टि से भी अपभ्रंश धीरे-धीरे विकसित होकर स्वाभाविक रीति से हिन्दी में परिवर्तित हो गया। अतः अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी साहित्य का प्राथमिक रूप मानने में तनिक भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए। हम देखते हैं कि अंग्रेजी अथवा फ्रेन्च साहित्य का इतिहास लिखते समय पुरानी अंग्रेजी अथवा पुराने फ्रेन्च का परित्याग नहीं किया जाता है न उनको अलग माना जाता है, यद्यपि उन भाषाओं के नवीन और प्राचीन रूपों में बहुत बड़ा अन्तर है। इसी न्याय से हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ यदि हम अपभ्रंश साहित्य से मानते हैं तो इसमें तनिक भी अनौचित्य नहीं है। अपभ्रंश साहित्य का बढ़ता हुआ महत्व तथा अधिकाधिक अध्ययन हमारे लिए अत्यन्त संतोषप्रद है। इस ब्राह्मणेतर साहित्य का संस्कृत साहित्य के साथ-साथ अध्ययन करने से साहित्यिक और ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलेंगे।

द्वितीय प्रकरण

वीरगाथा काल

हिंदी साहित्य के इतिहास में जिस नवीन काल का प्रारम्भ अधिकांश विद्वान् सन् १००० ई० के आस पास मानते हैं उसके नाम और उसकी अवधि के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इसे वीरगाथा काल का नाम दिया है किंतु अब शोध से धीरे-धीरे पता चल रहा है कि जिन प्रशस्त काव्यों को इस युग का लिखा हुआ मान कर नामकरण किया गया था उनमें से अधिकांश का निर्माण-काल अनिश्चित है और सम्भावना यह है कि वे बहुत बाद की रचनाएँ हैं। सभी कथाएँ वीर-गाथाएँ भी नहीं हैं। वीसलदेव रासो में शौर्य की अपेक्षा प्रेम का ही महत्व अधिक है और पृथ्वीराज रासो में भी यह कहना कठिन है कि प्रमुखता शृंगार अथवा वीर-रस की है। इसके अतिरिक्त सन् १००० ई० के उपरान्त भी अपभ्रंश तथा लोकभाषा में धार्मिक तथा ऐहिक रचनाओं का क्रम चलता रहा। नाथपंथियों का प्रभूत साहित्य इस नवीन युग में ही निर्मित हुआ। अतः एक प्रकार से यह नवीन काल प्राचीन परम्परा की ही व्याप्ति है। इधर कुछ विद्वानों ने इसे आदि काल की संज्ञा प्रदान की है। वे कदाचित् पूर्ववर्ती अपभ्रंश तथा लोकभाषा साहित्य को पूर्वपीठिका मान कर हिन्दी साहित्य का वास्तविक आरम्भ १००० ई० के लगभग मानते हैं। किन्तु अनेक कारणों से, जिनका उल्लेख हम प्रथम प्रकरण में कर आए हैं, अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी साहित्य से बिलकुल पृथक् मानना युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता। अपभ्रंश काल ही हिन्दी साहित्य का आदि काल है और इस बात को न मानने अथवा भुला देने से भ्रम उत्पन्न होने की आशंका है। इसे चारण काल कहना भी उचित नहीं है क्योंकि चारणों की कविता डिंगल भाषा में रची गई है और भाटों की कविता पिंगल भाषा में। खोज तथा आलोचनात्मक विश्लेषण से यह धीरे-धीरे स्पष्ट होता जा रहा है कि प्रमुख रासक ग्रन्थों की भाषा मूलतः पिंगल है यद्यपि डिंगल शब्दों का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। ऐसी अनिश्चित परिस्थिति में वीरगाथा काल नाम को ही ग्रहण करना व्यावहारिक दृष्टि से सब से अधिक समीचीन मालूम पड़ता है। इस नाम के पक्ष में कम-से-कम यह बात तो

कही जा सकती है कि इससे तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था का समुचित संकेत हो जाता है। युद्धों की प्रचुरता, शौर्य-प्रदर्शन की लालसा इत्यादि युग की विशेषताओं की ओर इस नाम से हमारा ध्यान अनायास आकृष्ट होता है। इसी तरह इस काल की सीमाएँ भी कुछ अनिश्चित हैं। एक मत यह है कि इस नवीन काल का आरम्भ सन् १२०० ई० के लगभग मानना चाहिए। यद्यपि खुमान और वीसल देव का आविर्भाव उक्त तिथि से कुछ पहले ही हो गया था तथापि उनसे सम्बन्ध रखने वाले कुछ रासक ग्रन्थ बाद में ही लिखे गये हैं। इस प्रकार के ग्रन्थ तो निस्सन्देह सन् १२०० ई० के बाद ही लिखे गये हैं। इसका अभिप्राय यह अन्य है कि सन् १२०० ई० के बाद ही साहित्य में एक नया स्वर सुनाई पड़ा और एक नवीन विशेषता लक्षित हुई और तभी से नवीन युग का प्रादुर्भाव मानना चाहिए। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय तो वीरगाथा काल की अवधि २०० वर्षों की रह जाती है अर्थात् सन् १२०० से सन् १४०० तक। यह ध्यान रखने की बात है कि कतिपय पंडितों ने भारतीय इतिहास के पूर्व-मध्ययुग का अन्त सन् १२०० के लगभग माना है। पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा कुछ अन्य विद्वानों ने वीरगाथा काल का आरम्भ सन् १००० के लगभग तथा उसका अवसान सन् १४०० ई० के कुछ पूर्व माना है। सुविधा के लिए हम भी इन्हीं दोनों सीमाओं को अपने विवेचन के आधार स्वरूप ग्रहण करना उचित समझते हैं।

हर्षोत्तर काल में उत्तर भारत में केन्द्रीय राजनैतिक व्यवस्था का प्रायः पूर्ण अभाव था। यह विशाल भूभाग अनेक राज्यों में विभक्त हो गया था जिन पर राजपूतों के विभिन्न कुल अपने सैनिकों और सामन्तों की सहायता से राज्य करते थे। इन राज-वंशों की मैत्री तथा आपसी विरोध का इतिहास अत्यन्त जटिल है और उसके सम्बन्ध में यहाँ लिखना अनावश्यक भी है। केवल थोड़े-से तथ्यों का निर्देश कर देना ही पर्याप्त है। सन् १००० ईस्वी के बाद दिल्ली के आसपास शक्ति संचय करने वाले राजपूत वंशों में कन्नौज के गहरवालों का एक विशिष्ट स्थान था। इस वंश के ख्यातनामा शासक गोविन्दचन्द्र के शासन काल में राज्य की सीमाएँ बिहार के सुदूर भाग तक फैल गईं। सारा मध्यप्रदेश गहरवालों के अधिकार में था और बहुत दिनों तक वे बंगाल के पालों तथा राष्ट्रकूटों से सफलता पूर्वक लोहा लेते रहे। महोबा के चंदेल गहरवालों से सम्बन्धित थे और उनके राजा परमर्दि देव ने सम्यक् यश प्राप्त किया। अजमेर के चौहानों की कीर्ति विग्रहराज चतुर्थ अथवा वीसलदेव के काल से लेकर पृथ्वीराज के समय तक अक्षुण्ण बनी रही। अजमेर और दिल्ली का राज्य एक हुआ जो चौहानों द्वारा शासित था। अन्हिलवाड़े के चालुक्य, मालवा के परमार इत्यादि भी प्रतिहारों, चौहानों, गहरवालों इत्यादि से विवाह सम्बन्ध द्वारा गुथे हुए होने पर भी समय-समय पर लड़ते रहे। इनके

अतिरिक्त काश्मीर, पश्चिमोत्तर भारत, दक्षिण भारत, पूर्वीय भारत आदि में अनेक शक्तिशाली राजपूत राज्य थे। यह सभी राज्य आपस में निरन्तर लड़ा करते थे। किसी गम्भीर कारण के न होते हुए भी यह आपस में भिड़ जाते थे क्योंकि रजपूती शान की मिथ्या भावना उन्हें चैन नहीं लेने देती थी। उनका यह विश्वास था कि युद्ध के अभाव में शौर्य क्षीण होता है। प्रत्येक नवीन राजा सिंहासनारूढ़ होने पर राज्य विस्तार की आकांक्षा से दलबल सहित दिग्विजय के लिए निकलता था तथा अड़ोस पड़ोस के राज्यों से अकारण बैर मोल लेता था। बहुत-से राजा कामुक और विलासी भी थे और अनगिनत बार इन राजपूत राजाओं में आपस में किसी रूपवती स्त्री को लेकर युद्ध हुआ जिसमें असंख्य वीर आहत हुए। यही शोचनीय अवस्था थी उत्तर भारत की जब देश मुसलमानों द्वारा आक्रान्त हुआ। यों तो अरब लुटेरे भारत के पश्चिमोत्तर भाग में बहुत दिनों से आया करते थे किन्तु महमूद गजनवी और उसके उपरान्त शहाबुद्दीन गोरी के हमलों के फलस्वरूप राजपूत सत्ता नष्ट हो गई। राजपूत अत्यन्त पराक्रमी तथा देशभक्त थे और उन्होंने मुसलमनों का घोर प्रतिरोध भी किया, किन्तु आपसी कलह के कारण भली प्रकार सुसंगठित होकर वे एक बार भी मुसलमानों का मुकाबला करने के लिए तैयार न हुए। दो एक बार हिन्दू राज्यों ने मुसलमानों को रोकने के लिए संघों की स्थापना की किन्तु जल्दी में बनाए हुए ये संघ न तो सुव्यवस्थित ही थे और न तो उनमें स्थायित्व ही था। अतः उनसे कोई विशेष कार्य सिद्ध न हुआ। वीरगाथा काव्य में इसी कलह प्रधान सामन्त शाही व्यवस्था का चित्र प्रस्तुत किया गया है। इस काव्य के प्रमुख विषय हैं युद्ध और विलासिता। इसलिए प्रधानतया इसमें वीर और शृंगार रस का ही समावेश है। यह साहित्य संपन्न अभिजात वर्ग का है। साधारण जनता के प्रतिनिधि जैन, बौद्ध, और हिन्दू नाथपन्थी अपनी धार्मिक रचनाओं के निर्माण में संलग्न थे। अतएव यह न भूलना चाहिए कि इस काल में समाज के दो विभिन्न स्तरों में दो विभिन्न प्रकार का साहित्य रचा जा रहा था। यह भूलकर भी न समझना चाहिए कि वीरगाथा काल में केवल रासो ग्रन्थ ही लिखे गए।

खुमान रासो—

दलपति विजय रचित खुमान रासो में चित्तौर के राणा खुमान द्वितीय के युद्धों का वर्णन है। यह नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में चित्तौर के शासक थे। अतएव बहुत दिनों तक यह धारणा बनी हुई थी कि यह ग्रन्थ राणा खुमान के किसी समकालीन चारण द्वारा लिखा गया था। अधिकांश विद्वान अब इसे सत्रहवीं शताब्दी की रचना मानते हैं क्योंकि इसमें महाराणा प्रताप और राणा राजसिंह तक के समय का वर्णन है। पुस्तक की केवल अपूर्ण प्रति ही उपलब्ध है।

बीसल देव रासो—

यह लगभग दो हजार पंक्तियों का एक गीतकाव्य है। इसका मुख्य विषय युद्ध नहीं, वरन् प्रेम है और इसकी विशेषता इसके कथा-विन्यास में नहीं किन्तु उसके प्रचुर वर्णनों में निहित है। काव्य में बाँधी हुई कथा बड़ी सरलता से वर्णित है :—

धार देश के शासक भोज परमार ने अपनी रूपवती कन्या राजमती के लिए सुयोग्य वर की खोज में अपने एक विश्वासपात्र ब्राह्मण को भेजा। उस ब्राह्मण ने कई राजधानियों का भ्रमण किया और अन्त में अजमेर के राजा वीसलदेव को चुना जिसने राजमती से विवाह करने की स्वीकृति दे दी। लग्न के लिए एक शुभ दिन नियत हुआ तथा अपने इष्ट-मित्रों और सेवकों के साथ वीसलदेव कई अच्छे विश्राम स्थलों पर मार्ग में रुकता हुआ धार पहुँचा। बड़ी धूम धाम से विवाह हुआ तथा राजा भोज ने अपने जामाता को कई राज्य और प्रचुर धन दहेज में दिया। वीसलदेव अजमेर लौटा और अपनी नव-परिणीता रानी के साथ कुछ काल तक सुखपूर्वक रहा। अचानक संभाषण के क्रम में एक दिन पति-पत्नी में झगड़ा हो गया। वीसलदेव रुष्ट हुआ और अपनी नवपत्नी के अनुनय-विनय की अवहेलना करके अपने सम्बन्धियों के भड़काने पर उसे छोड़कर उड़ीसा चला गया जहाँ उसने जीवन के सात वर्ष बिताए। इस लम्बी अवधि में पति से बिछुड़ कर राजमती की दशा शोचनीय हो गई तथा इस काव्य में उसकी विरह व्यथा तथा उदासी का विशद चित्रण है। राजमती की प्रार्थना सुनकर उड़ीसा के राजा ने समझौता कराया और तब वीसलदेव अपने महल में लौट आया। उसने अपने श्वसुर को अजमेर आने का निमन्त्रण दिया। राजमती ने धार की अल्पकालीन यात्रा की। वीसलदेव उसको शीघ्र ही अजमेर लौटा लाया तथा पति-पत्नी ने आनन्द पूर्वक जीवन व्यतीत किया।

रचयिता द्वारा दी हुई ग्रन्थ आरम्भ करने की तिथि को सही मान कर ही सत्यजीवन वर्मा ने वीसलदेव रासो को बारहवीं शती ई० की रचना माना है। इस तिथि को स्वीकार करने में कठिनाई है। मालवा के भोज परमार और शाकम्भरी के यशस्वी शासक वीसलदेव अथवा विग्रहराज चतुर्थ के समय में प्राय: १०८ वर्ष का अन्तर पड़ता है। अत: भोज की पुत्री से वीसलदेव के विवाह की बात ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं है। महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने इस संशय के निवारणार्थ बहुत-सी बातें कही हैं किन्तु तब भी कठिनाई का हल नहीं हो सका है। वीसलदेव रासो के नायक में ऐतिहासिक वीसलदेव के व्यक्तित्त्व की आभा नहीं दिखाई पड़ती क्योंकि काव्य से न तो उसकी वीरता और न उसकी विद्वत्ता का ही पता चलता है। जब हम भाषा

पर विचार करते हैं तब शब्दों के प्राचीन अपभ्रंश रूपों के साथ ही साथ नवीन तत्सम रूप भी मिलते हैं। इसी भाँति इस रचना में डिंगल और पिंगल का मिश्रण है, यद्यपि मूलत: इसकी भाषा पिंगल है। इन कारणों से अब यह माना जाने लगा है कि वीसलदेव रासो सोलहवीं शती ई० की रचना है। इसमें वर्तमान कालिक क्रियाओं का प्रयोग किया गया है किन्तु इस सम्बन्ध में राजपूताने के विद्वानों का कथन है कि चारण काव्य में वर्तमान-कालिक क्रियाओं के प्रयोग की स्वीकृत परिपाटी है अतएव उसके आधार पर हम कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सकते।

पृथ्वीराजरासो—

अपने वृहत्तम रूप में २५०० पृष्ठों में नागरी-प्रचारिणी द्वारा प्रकाशित पृथ्वीराजरासो दीर्घकाल से हिन्दी के आदि कवि चन्द विरचित महाकाव्य के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करता रहा है। अब उसकी छोटी बड़ी अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हो चुकी हैं। अत: यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ है कि यथार्थ में चन्द द्वारा निर्मित काव्य का क्या रूप था अर्थात् काव्य के लघुरूप केवल संक्षिप्त संस्करण हैं अथवा उसके बृहत्तर रूप वास्तविक काव्य के विस्तार-मात्र। इस सम्बन्ध में अत्यधिक जल्पना-कल्पना के बावजूद अभी तक कोई ठोस निष्कर्ष नहीं निकल सका है। रचना काल का प्रश्न और भी विवादग्रस्त है। बाबू श्याम-सुन्दर दास तथा मिश्रबन्धुओं ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि पृथ्वीराज रासो ऐतिहासिक काव्य हैं जो पृथ्वीराज के मित्र और राज्यकवि चन्दवरदायी द्वारा ईसा की १२वीं शताब्दी में लिखा गया था। ऐसी अनुश्रुति है कि चन्द और पृथ्वीराज एक ही दिन पैदा हुए थे और एक ही दिन मरे थे। इसका उल्लेख रासो में भी है। अत: चन्द तथा पृथ्वीराज का सम-सामयिक होना इन विद्वानों द्वारा निश्चित माना गया है। इसके विपक्ष में उन विद्वानों का मत है जो पृथ्वीराजरासो को अप्रामाणिक मानते हैं। सन् १८८३ ई० में जब बुलर महोदय को पृथ्वीराज दिग्विजय की एक खंडित प्रति मिली तब उन्होंने तुलनात्मक अध्ययन द्वारा यह निष्कर्ष निकाला कि पृथ्वीराजरासो ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त अविश्वसनीय है क्योंकि उसमें वर्णित घटनाओं का तारतम्य इतिहास के निश्चित घटना-क्रम से नहीं बैठता। इसके उपरान्त महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने रासो की अप्रामाणिकता पर भली-भाँति प्रकाश डाला तथा अन्य देशी और विदेशी विद्वानों के कथनों से भी उनका समर्थन हुआ। फलत: आज यह माना जाने लगा है कि अपने वर्तमान रूप में पृथ्वीराज रासो का निर्माण अथवा संकलन ईसा की सोलहवीं अथवा सत्रहवीं शताब्दी में हुआ। जहाँ तक पता चला है अकबर के राज्यकाल तक किसी को यह भी पता

न था कि पृथ्वीराजरासो नाम का कोई ग्रन्थ था भी । इसी भाँति चन्दवरदायी के अस्तित्व के सम्बन्ध में भी अनेक शंकाएँ उपस्थित हुईं और कहा गया कि पृथ्वीराज का दरबारी कवि चन्द नहीं किन्तु पृथ्वीभट्ट नाम का कोई अन्य व्यक्ति था। इधर हाल में मुनिजिनविजय तथा कुछ अन्य विद्वानों ने कुछ ऐसा प्रमाण प्रस्तुत किया है कि जिसके आधार पर इस बात में सन्देह नहीं रह जाता कि चन्द वलद्दिय अथवा वरदायी नाम का पृथ्वीराज का एक समकालीन कवि था तथा उसकी कुछ रचनाएँ किसी-न-किसी रूप में रासो की छोटी बड़ी सभी प्रतियों में मिलती हैं। अतएव यह माना जाना स्वाभाविक है कि रासो की मूल कथा चन्द द्वारा लिखित है और निरन्तर उसमें प्रक्षिप्त अंश मिलते गए हैं । इस धारणा का समर्थन रासो में मिलने वाले छन्द रूपों तथा शब्द रूपों के अध्ययन से भी होता है। इधर विद्वानों ने यह भी निर्धारित करने की चेष्टा की है कि विस्तृत रासो के कौन-कौन-से अंश मूल रूप में चन्द द्वारा लिखित हो सकते हैं ।

पृथ्वीराज रासो अपने वृहत् रूप में उन्नहत्तर समयों अथवा सर्गों में विभक्त विशाल काव्य है। मूल कथा के अतिरिक्त अनेकानेक प्रसंगों तथा वर्णनों का समावेश इसमें हुआ है। समकालीन सामन्तशाही व्यवस्था का अच्छा चित्रण मिलता है, यद्यपि तथ्यों और तिथियों की यथार्थता के सम्बन्ध में अनेक स्थलों में संदेह की गुंजाइश है। इसी चित्रण को ध्यान में रखते हुए ग्रियर्सन महोदय ने पृथ्वीराजरासो को अपने युग का सामान्य इतिहास बतलाया है। कथा के आरम्भ में विस्तारपूर्वक वन्दना की गई है। तदुपरान्त पृथ्वीराज का जन्म, बाल्यकाल, शिक्षा-दीक्षा आदि वर्णित है । आगे चलकर युद्धों और विवाहों के प्रसंग बार-बार आते हैं। पृथ्वीराज के विवाहों में तीन--इंछिनी, शशिव्रता, और संयोगिता के साथ, विशेष उल्लेखनीय हैं। युद्धों की संख्या काफी बड़ी है । भीमदेव चालुक्य से पृथ्वीराज का युद्ध, संयोगिता हरण के समय कन्नौज और अजमेर के योद्धाओं की लड़ाई, पृथ्वीराज का महोबा-नरेश से समर, शहाबुद्दीन गोरी के साथ पृथ्वीराज और उनके साथियों के युद्ध विशेष महत्त्व रखते हैं। मूल कथा का सम्बन्ध पृथ्वीराज और जयचन्द की स्पर्द्धा तथा संयोगिता हरण से है । इसके बाद गोरी के दरबार से भगे हुए सरदार हुसेन तथा उसकी परिणीता चित्रलेखा को आश्रय देने के कारण पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन गोरी में मुठभेड़ होती है। पहली लड़ाई में पृथ्वीराज जीतता है किंतु दूसरी लड़ाई में शहाबुद्दीन गोरी उसे हरा कर बन्दी बना लेता है । दूर देश में बन्दी पृथ्वीराज की आँखें निकाल ली जाती हैं और उसके दिन बड़ कष्ट से बीतते हैं । उसका कवि और प्रिय सखा चन्द उससे मिलता है तथा इशारे से शब्द-भेदी बाण द्वारा सुलतान का वध कराता है। तदुपरान्त पृथ्वीराज और चन्द एक दूसरे को मार कर मरजाते हैं।

हम पहले ही कह आए हैं कि शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से इस कथानक में अनेक त्रुटियाँ हैं। रासो में पृथ्वीराज की माता का नाम दिल्ली के तोमर नृपति अनंगपाल की कन्या कमला बताया गया है। किन्तु अब यह बात पुष्ट प्रमाणों द्वारा निश्चित हो गई है कि पृथ्वीराज की माता कर्पूरदेवी विवाह के पूर्व त्रिपुर की राजकन्या थीं। पृथ्वीराज और भीमदेव चालुक्य का युद्ध भी संदिग्ध है तथा पृथ्वीराज की भगिनी पृथा का विवाह समरसिंह से होने की संगति भी नहीं बैठती। अब यह सभी मानते हैं कि शहाबुद्दीन गोरी का वध न तो पृथ्वीराज के हाथों हुआ और न पृथ्वीराज चौहान का वध चन्द के हाथ से। अनेकानेक अन्य इतिहासविरुद्ध घटनाएँ मिलती हैं किन्तु उन सबका यहाँ लिखना अनावश्यक है। साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से कहा जा सकता है कि अत्यधिक प्रसंगों के समावेश से कथानक बहुत बोझिल हो गया है और उसके विकास की रेखा यदाकदा धूमिल हो जाती है। महाकाव्य में जो निर्माण सौष्ठव और संगठन अपेक्षित है वह इस विशाल काव्य में नहीं है। अनेक प्रसंगों का मुख्य कथा के साथ ठीक-ठीक गुंफन भी नहीं हुआ है। किन्तु यदि हम थोड़ी देर के लिए उन अनावश्यक प्रसंगों को जिनमें से अधिकांश प्रक्षिप्त हैं, भुला दें तो हम कथानक को सरलतापूर्वक अनेक मार्मिक स्थलों से होकर अग्रसर होते हुए पाते हैं। इस काव्य में आज का-सा सूक्ष्म मानसिक विश्लेषण नहीं है क्योंकि रासो के युग में न तो आज की मानसिक उलझनें मौजूद थीं और न उनकी अभिव्यक्ति की आवश्यकता ही महसूस की जाती थी। पर कथा में घटनाओं की श्रृंखला समुचित ढंग से बनती जाती है तथा वीर और श्रृंगार रसों की स्थापना भी यथास्थान हो जाती है।

पृथ्वीराजरासो सुन्दर तथा प्रभावोत्पादक वर्णनों से भरा पड़ा है। कहीं रूप वर्णन है तो कहीं घटनाओं का सम्यक् निरूपण। शशिव्रता, संयोगिता आदि के सौन्दर्य को कवि ने अन्त तक सफलतापूर्वक अंकित किया है और इसी भाँति अनुराग की विविध अवस्थाओं और चेष्टाओं के भी अत्यन्त सजीव एवं मनोमुग्धकारी चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। विशेषतया कन्नौज समय का ऋतु वर्णन अपने ढंग का अनूठा है। छन्दों के चयन और उपयोग में प्रचुर वैविध्य दृष्टिगोचर होता है। वीरता पूर्ण स्थलों पर मुख्यतया छप्पय का उपयोग हुआ है। अन्य स्थलों पर दोहा, रोला, पद्धड़ी, त्रोटक प्रभृति विविध प्रकार के छन्द काम में लाए गए हैं। छन्दों का परिवर्तन भावों के चढ़ाव उतार के अनुकूल ही हुआ है। किसी अंश में अपभ्रंश की छन्दोवहुला शैली का समावेश इस काव्य में हुआ है। भाषा का मुख्य स्वरूप तो पूर्वी राजस्थानी अथवा पिंगल है। यद्यपि अपभ्रंश, डिंगल, संस्कृत, फ़ारसी आदि के बहुसंख्यक शब्दों का प्रयोग बेरोक-टोक हुआ है। इस

मिली जुली भाषा से भली भाँति पता चलता है कि कई शताब्दियों तक पृथ्वीराज-रासो में नवीन अंश निरन्तर जुड़ते रहे हैं। भाषा में द्वित्ति तथा अनुस्वार के प्रयोग की प्रवृत्ति पग पग पर दिखाई पड़ती है। सभी बातों पर विचार करते हुए यह मानना पड़ेगा कि ऐतिहासिकता की दष्टि से पृथ्वीराजरासो में जो कुछ भी कमी हो, इसमें प्रभूत साहित्यिक वैशिष्ट्य है, अतः यह हमारे लिए अत्यन्त महत्व का ग्रन्थ है।

परमाल रासो—

जगनिक अथवा जगनायक का आल्हखंड (परमाल रासो) आल्हा और ऊदल नामक दो भाइयों की वीरतापूर्ण कथा के कारण वर्तमान काल में भी भारत के उत्तरी भागों में अत्यधिक प्रचलित है। वर्षा-ऋतु में आज भी गाँव-वाले किसी स्थान पर एकत्र होकर ढोल बजा-बजा कर इसे गाते हैं। अवकाश के समय ग्रामीणों के लिए यह मनोरंजन का अच्छा साधन है। जहाँ तक घटनाओं तथा साहसपूर्ण कार्यों के वर्णन का प्रश्न है विभिन्न प्रान्तों में पाए जानेवाले आल्ह-खंड के विभिन्न रूपों में साम्य है किन्तु भिन्न-भिन्न समुदायों में इसकी भाषा का रूप बदल गया है। कन्नौज के निकट अवध के कुछ जिलों में तथा बुन्देलखण्ड में आल्हखण्ड विशेष रूप से लोकप्रिय है। इन सभी विभिन्न भागों में प्रचलित आल्हखंड की भाषा में अंतर तो है ही, साथ ही साथ उसके गाने के ढंग में भी प्रचुर वैविध्य है। इसका वास्तविक कारण यही है कि यह कथा मौखिक रूप से जनता में बराबर प्रचलित रही है और इसकी मूल प्रतिलिपि का अभी तक पता नहीं लग पाया है। ऐसा कहा जाता है कि जगनिक का मूलकाव्य नष्ट हो गया है और आल्हखंड का वर्तमान रूप उसका केवल रूपान्तर मात्र है। यह कहना कठिन है कि उपरोक्त कथन सत्य है किन्तु एक बात तो निश्चित है कि आल्ह-खंड की भाषा का जो स्वरूप हमें वर्तमान-काल में मिलता है वह बारहवीं शता-ब्दी का नहीं, अपितु वर्तमान काल का है। जगनिक के जीवन काल के सम्बन्ध में भी ऐसी ही शंकाएँ की जाती हैं। पृथ्वीराज रासो के अनुसार जगनिक एक पेशेवर भाट था जो महोबा के चन्देल राजा परमर्दिदेव के दरबार में रहता था। आल्हखंड की प्रचलित कथा के अनुसार जगनिक जाति का राजपूत और परमर्दि-देव का भतीजा था जो कि परमाल नाम से विख्यात थे। कवि के अतिरिक्त वह एक महान् योद्धा और कुशल राजनीतिज्ञ भी था। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो जग-निक का अस्तित्व ही नहीं मानते और कहते हैं कि जगनिक नाम का कोई कवि हुआ ही नहीं। ठीक ऐसा ही विवाद चन्दबरदाई के विषय में भी है।

आल्हखंड का कथानक तत्कालीन तीन राजधानियों दिल्ली, कन्नौज और महोबा में घटित होता है और उसका सम्बन्ध पृथ्वीराज चौहान और परमाल

चन्देल के बीच दीर्घ काल तक चलने वाले पारस्परिक विरोध से है। परमाल चन्देल को जयचन्द और उसके लड़कों की सहायता प्राप्त हुई किन्तु आल्हखंड की कथा में विशेष और अनिवार्य रूप से आल्हा-ऊदल, उनके भतीजों, और मित्रों आदि की वीरता और उनके जीवन का यशोगान है। ये दोनों वीर बनाफर वंश के राजपूत और महोबा के चन्देल राज्य के मुख्य स्तम्भ थे। परमाल अयोग्य शासक था और राज्य का सारा प्रबन्ध उसकी चतुर पत्नी मल्हना किया करती थी। सेना का संचालन आल्हा-ऊदल और तालन-सैय्यद के द्वारा होता था। तालन सैय्यद दोनों भाइयों का घनिष्ठ मित्र और राज्य की सेना का प्रधान था। आल्हखंड की कथा के अंतर्गत मुख्य घटनाएँ ये हैं—संयोगिता का स्वयंवर, करिंघा और बनाफरों के बीच युद्ध, नौलखाहार की कथा, आल्हा-ऊदल, मलखान और ब्रह्मा का विवाह, आल्हा और ऊदल का कन्नौज में ठहरना और वहाँ पर उनके वीरतापूर्ण कार्य, उनका महोवा को लौटना तथा पृथ्वीराज के विरुद्ध युद्धों की शृंखला, पृथ्वीराज की कन्या बेला की कथा जिसका विवाह परमाल के पुत्र ब्रह्मा से हुआ था तथा महोबा और दिल्ली के राजाओं के बीच हुआ अन्तिम समर जिसमें भीषण युद्ध के पश्चात् महोवा के सैनिकों का नाश हुआ।

आल्हखंड अपने वर्तमान रूप में साहित्यिक गुणों से रहित है और निस्सन्देह इसकी रचना केवल जन-साधारण को प्रभावित करने के लिए हुई है। फिर भी इसमें अंकित किए गए कुछ चरित्रों के कारण यह रचना महत्वपूर्ण मानी जाती है। आल्हा और ऊदल राजपूत वीरता और मर्यादा के गौरवपूर्ण आदर्श हैं। मलखान का चरित्र स्वामिभक्त के रूप में अंकित किया गया है और लाखन अपने मित्र ऊदल का विश्वासपात्र दिखलाया गया है।

प्रस्तुत काव्य में स्त्रियों के जो चरित्र आए हैं उनमें अपने पति के राज्य पर शासन करने वाली मल्हना प्रमुख है। वह उस अशान्ति काल में भी बड़ी वीरता और योग्यता के साथ शासन करती है। पृथ्वीराज की कन्या बेला के चरित्र में काम-प्रवृत्ति, गम्भीर प्रेम, और तीव्र घोर घृणा के तत्वों का संयोग है।

शार्ङ्गधर प्रणीत **हम्मीर रासो** की रचना १४वीं शताब्दी में मानी जाती है। यह ग्रन्थ रणथम्भोर के वीर शासक हम्मीर तथा अलाउद्दीन खिलजी के द्वन्द्व को आधार मानकर लिखा गया है। शार्गधर ने **शार्ङ्गधरपद्धति**, शार्ङ्गधर संहिता आदि अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया था किन्तु **हम्मीर रासो** अपने वर्तमान रूप में कहाँ तक प्रामाणिक है यह कहना कठिन है। प्राकृत पैंगलम् में उद्धृत कुछ पद्यों को लेकर इधर हम्मीर रासो के सम्बन्ध में विद्वानों में आपस में काफी मतभेद प्रकट हुआ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल उन पद्यों को शार्ङ्गधर रचित मानते हैं। किन्तु राहुल सांकृत्यायन उन्हें जज्जल भणित मानते हैं। अब्दुर्रहमान

के सुन्दर काव्य **संदेशरासक** का उल्लेख हम अपभ्रंश काव्य के सम्बन्ध में कर आए हैं। इस ग्रन्थ की रचना भी कदाचित् १४वीं शताब्दी में ही हुई थी यद्यपि कुछ विद्वान् इसका रचना-काल ११वीं शती में मानने के पक्ष में हैं। यह ग्रन्थ अत्यन्त ललित काव्य है जिसमें वियोग की विविध अवस्थाओं का मर्मस्पर्शी अंकन मिलता है। विविध ऋतुओं में वियोगिनी की मानसिक अवस्था का अत्यन्त विशद चित्रण है। इस रासक ग्रन्थ में वीर-रस का तनिक भी समावेश नहीं है, यह आद्योपान्त शृंगार-रस से ओत-प्रोत है और कभी मेघदूत और कभी पद्मावत की नागमती के विरहवर्णन की याद दिलाता है।

नाथपन्थ का साहित्य—

यह हम पहले ही लिख आए हैं कि गोरखनाथ के आविर्भावकाल के विषय में बहुत बड़ा मतभेद है। अभी थोड़े दिन पहले तक लोग उन्हें १५वीं शताब्दी के प्रारम्भ अथवा १३वीं शताब्दी के मध्य का एक प्रभावशाली सन्त मानते थे। इधर हाल में उनका समय कई शताब्दी पूर्व माना जाने लगा है। जो कुछ भी हो, इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि १२वीं शती ई० से लेकर १४वीं शती के अंत तक नाथपन्थी साधकों द्वारा हठयोग, कौतुक, शून्य, तथा अलखनिरंजन से सम्बन्ध रखने वाला प्रभूत साहित्य संस्कृत और लोकभाषा में लिखा गया। इन ग्रन्थों में नाथपन्थ के मूल सिद्धान्तों के प्रतिपादन के अतिरिक्त उन विचित्र घटनाओं का उल्लेख भी है जिनसे गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ तथा उनके अनुयायियों की महानता सिद्ध होती है। इन ग्रन्थों का शुद्ध साहित्यिक मूल्य तो अत्यन्त अल्प है किंतु यह स्पष्ट है कि नवविकसित हिन्दी के प्रचलन में इनसे बड़ी सहायता मिली होगी। इसके अतिरिक्त पूर्ववर्त्ती बौद्ध सिद्धों तथा परवर्ती कबीर, दादू आदि निर्गुण सन्तों के बीच यह नाथपन्थी साहित्य एक आवश्यक कड़ी के रूप में माना जा सकता है। निर्गुणी संतों तथा सूफियों के काव्य में भी अनेक स्थलों पर नाथपंथी विश्वासों तथा हठयोग की क्रियाओं का उल्लेख मिलता है। यह नाथ-पंथी धार्मिक साहित्य प्रधानतया उत्तरी पूर्वी भारत में विकसित और प्रचलित हुआ और उसका स्वर पश्चिम में लिखे हुए—चारण साहित्य से एकदम भिन्न है। अतः साहित्यिक इतिहास की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व है।

अमीर खुसरो—

अरबी और फारसी के अप्रतिम विद्वान् तथा सूफी सन्त निजामुद्दीन औलिया के शिष्य अमीर खुसरो दीर्घकाल तक जीवित रहे। उन्होंने गुलाम वंश के अंत से लेकर मुहम्मद तुगलक के काल तक अनेक शासकों का उत्थान और पतन अपनी आँखों से देखा था तथा इस संक्रान्ति युग में रहने के कारण जीवन का

प्रचुर अनुभव प्राप्त किया था। इस अनुभव को उन्होंने काव्य में सन्निविष्ट किया। उनकी पहेलियों, मुकरियों और गज़लों में सूक्ष्म निरीक्षण का स्पष्ट आभास मिलता है। उनमें उनकी जिन्दा दिली और विनोदप्रियता का भी प्रमाण मिलता है। चारण काव्य की ओजस्विता तथा धार्मिक काव्य की गंभीरता उनको आकृष्ट न कर सकी। उन्होंने जीवन की सरल और साधारण परिस्थितियों के अनुभव को लेकर लोकरंजक काव्य लिखा। भाषा की दृष्टि से इनके काव्य का महत्त्व और भी अधिक है। शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित ब्रजभाषा के शब्दों का प्राचुर्य होने पर भी उनकी भाषा दिल्ली और उसके आस-पास बोली जाने-वाली खड़ी बोली है। हिन्दी का साफ-साफ निखरा हुआ रूप पहले-पहल इनकी ही रचनाओं में मिलता है। अतः एक विशेष अर्थ में उन्हें हिन्दी का प्रथम कवि कह सकते हैं। अमीर खुसरो लोक-भाषा हिन्दी के बहुत बड़े हिमायती थे और उन्होने साफ-साफ लिखा है कि फारसी और अरबी की तुलना में हिन्दी किसी प्रकार भी कम नहीं है। १४वीं शताब्दी में इस प्रकार लिखना अमीर खुसरो की सहिष्णुता और साहस दोनों का ही द्योतक है। खालिखबारी में उन्होंने शब्दों के फारसी अरबी और हिन्दी पर्यायवाची प्रस्तुत करके इन भाषाओं के साहचर्य और मिश्रण के लिए रास्ता तैयार किया है और इस भाँति विकासो-न्मुख हिन्दी की बड़ी भारी सेवा की है।

विद्यापति—

तिरहुत-नरेश महाराज शिवसिंह के आश्रित प्रसिद्ध मैथिल कवि विद्यापति का जन्म दरभंगा जिले के बिस्वी ग्राम में सन् १३६० ई० के लगभग हुआ था। उन्होंने अपने दीर्घ जीवन-काल में अतिशय यश तथा धन प्राप्त किया और अभि-नव जयदेव की उपाधि से विभूषित हुए। वंश-परम्परा से वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित तथा कवि थे और संस्कृत में उनकी अनेक रचनाओं का पता लगा है। इसके अतिरिक्त अपभ्रंश अथवा अवहट्ट में **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** नाम की उनकी दो रचनाएँ उपलब्ध हैं। कीर्तिलता की भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश है किंतु उसमें कुछ-कुछ मैथिली का मिश्रण है। गद्य और पद्य दोनों ही काम में लाए गए हैं। अतः यह रचना केवल कविता में लिखे हुए अपभ्रंश चरितकाव्यों से कुछ भिन्न है। रचयिता ने ऐतिहासिक तथ्यों को बदला नहीं है तब भी काव्या-त्मक सौंदर्य का नितान्त अभाव नहीं है। समसामयिक इतिहास के अध्ययन के लिए कीर्तिलता में विश्वसनीय सामग्री मिलती है। कीर्तिपताका की रचना भी अपभ्रंश में हुई है और उसमें चरितकाव्यों की पुरानी परिपाटी का कहीं अधिक निर्वाह हुआ है।

जन-साधारण में विद्यापति की ख्याति मुख्यतः उनके पदों के कारण है।

मैथिली भाषा में लिखे गए ये पद रस और माधुर्य से ओतप्रोत हैं। कुछ थोड़े-से शिव की आराधना के पद मिलते हैं। किंतु अधिकांश राधाकृष्ण के मधुर प्रेम की विविध अवस्थाओं को व्यक्त करते हैं। विद्यापति प्रधान रूपेण भक्ति की अपेक्षा शृंगार रस के ही कवि हैं। शृंगार रस का जैसा सुन्दर परिपाक उनके काव्य में हुआ है वैसा अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। इनके और जयदेव के पदों में पर्याप्त साम्य है। अतः इनको अभिनव जयदेव कहना उचित ही है। रूप तथा प्रणय की चेष्टाओं के वर्णन में विद्यापति बेजोड़ हैं और इसी भाँति प्रेम और भोग से सम्बंधित मानसिक अवस्थाओं का चित्रण भी उन्होंने अत्यन्त चमत्कारपूर्ण ढंग से किया है। छंदों का प्रवाह और संगीत भी विषय के अनुरूप ही हैं। विद्यापति के पद्य प्रगीत मुक्तकों के सुन्दर नमूने प्रस्तुत करते हैं क्योंकि उनमें तन्मयता, भावों की तीव्रता, पद-लालित्य, मधुर संगीत, इत्यादि सभी गुण विद्यमान हैं। परवर्ती काल में राधा और कृष्ण सम्बन्धी इन पदों ने निश्चय ही अनेक भक्त कवियों को प्रभावित किया।

तृतीय प्रकरण

भक्तिकाव्य

चौदहवीं शताब्दी के मध्य से लगा कर १८वीं शती के मध्य तक का काल हिंदी साहित्य के इतिहास में अत्यन्त महत्त्व का है। इस काल को भक्तिकाल की संज्ञा से अभिहित किया जाता है, क्योंकि, यद्यपि अन्य प्रकार की रचनाओं का नितान्त अभाव नहीं था, तब भी प्राधान्य भक्तिकाव्य का ही था। इस युग में कविता का चमत्कारपूर्ण विकास हुआ। पूर्ववर्ती युग की कविता से तुलना करने पर यह बात सहज ही स्पष्ट हो जाती है। अपभ्रंश काव्य तथा चारणों की रचनाओं में प्रयोगशीलता के चिह्न साफ-साफ दिखाई पड़ते हैं किन्तु भक्ति-काव्य सौंदर्य तथा सौष्ठव से समन्वित होने के कारण सफल काव्य माना जायगा। कविता का इस नवीन युग में यह आश्चर्यजनक विकास किन कारणों से हुआ, इस सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। किंतु भक्ति काव्य के वैशिष्टय के सम्बंध में प्रायः सभी एक मत हैं। अब कविता का स्वर और कलेवर दोनों बदल कर उसको नवीन रूप प्रदान करते हैं। उसमें नवीन गम्भीरता तथा प्रभाव का प्रादुर्भाव होता है, जिसके कारण हम उसे उच्चतम काव्य मान सकते हैं।

चौदहवीं शताब्दी तक प्रायः सम्पूर्ण उत्तरी भारत मुसलमानों द्वारा आक्रान्त हो चुका था, और यवन-सेनाएँ दक्षिण की ओर अग्रसर हो रही थीं। दक्षिण के हिंदू राज्य विजयनगर का अधिकार एक विशाल भूभाग पर था, किंतु उस राज्य की सत्ता पार्श्व के मुसलमान राज्य के कारण निरन्तर संकटापन्न थी। मुसलमान केवल विजय से सन्तुष्ट न हुए, अपितु उन्होंने राज्य स्थापित किये, तथा देश पर शासन करने लगे। धर्मान्धता तथा असहिष्णुता के कारण उन्होंने मन्दिरों को लूटा और उनका ध्वंस किया। हिंदू जनता को सब प्रकार त्रस्त करके उसके मन में भय उत्पन्न किया। निरीह हिंदू जनता गहन निराशा के वशीभूत होकर पथभ्रष्ट होने लगी। निम्न श्रेणी के तथा निर्धन वर्ग के हिंदुओं ने त्राण के लिए धर्म बदल कर इस्लाम धर्म ग्रहण किया। उच्च वर्ग के धनी-मानी लोग सक्रिय जीवन से हट कर भोगलिप्सा में लीन हो गए और रंगमहल

के भीतर वासना के नशे में चूर रहकर बाह्य संकट को भुलाने की चेष्टा करने लगे। मध्य वर्ग के लोगों की समस्या अधिक जटिल थी। उनके पास न तो भोग के साधन थे और न धर्म परित्याग करना ही उनके लिए उतन सरल था जितना कि निम्न श्रेणी के लोगों के लिये। अतएव उन्होंने आत्मरक्षा के लिए एक ओर तो धार्मिक कट्टरता का सहारा लिया और दूसरी ओर शक्ति एवं सान्त्वना प्राप्त करने के लिए ईश्वरीय अनुग्रह का आवाहन किया। निस्संदेह भक्ति का अभ्युदय दक्षिण में हुआ। द्राविड़ देश में जन्म पाकर, महाराष्ट्र और गुजरात होती हुई वह उत्तर भारत तक पहुँची। अतः यह कहना कि भक्ति आन्दोलन प्रतिक्रिया मात्र था, न्याय संगत नहीं। तब भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति से उद्भूत निराशा ने उसके विस्तार के लिए एक विशिष्ट परिस्थिति उत्पन्न कर दी। इसी अंश में भक्ति आन्दोलन या हिन्दी का भक्ति-काव्य प्रतिक्रियात्मक है। इस बात पर इससे अधिक आग्रह करना भक्तिकाव्य के वास्तविक स्वभाव को भुला देना है। प्रारम्भ से अन्त तक इन ४०० वर्षों का भक्तिकाव्य तन्मयता तथा आस्था से ओत-प्रोत है और यह मानना कठिन है कि इस प्रकार का उच्च काव्य केवल प्रतिक्रियाजन्य हो सकता है इसके अतिरिक्त वेदों के काल से जो आध्यात्मिक परम्परा एक अविरल स्रोत की भाँति बहती चली आ रही थी उसको भक्तिकाव्य का मूल्यांकन करते समय हम कैसे भुला सकते हैं?

हिन्दुओं के लिए भक्ति के मार्ग में चिर आकर्षण है और केवल इसने ही अपनी मूलभूत पवित्रता को एक निश्चित सीमा तक बनाए रखा था। आध्यात्मिक ज्ञान की जिज्ञासा का ह्रास सूक्ष्म विचारों और रहस्यात्मकता के प्रति प्रेम के रूप में प्रतिफलित हुआ, तथा कर्म या कृत्य का अर्थ गल्ती से क्रियाकर्म, उपवास, और तीर्थयात्रा करना समझा जाने लगा। सापेक्ष रूप से भक्ति निष्कलंक और जीवित रही, अतः पतनोन्मुख लोगों ने इससे आशा और आध्यात्मिक तत्त्व ग्रहण किया। उनके लिए यह सौभाग्य की बात थी कि इस काल में देश में कई महान् सन्त पैदा हुए, जो प्रतिभासम्पन्न कवि भी थे। उनकी जादूभरी वाणी ने करोड़ों निराश भारतीयों को नया जीवन और नयी शक्ति से संयुक्त कर उनके संगठन में योग दिया।

उत्तरभारतीय भक्ति-आन्दोलन तथा उससे सम्बन्धित हिन्दी भक्तिकाव्य के सम्यक् आकलन के लिए राजनीतिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है। इस बात को यहाँ लिखने की विशेष आवश्यकता इसलिए है कि साधारणतया भक्ति काव्य के अध्ययन में दार्शनिक तथा धार्मिक तथ्यों एवं सिद्धान्तों का इतना विशद विवेचन किया जाता है कि उनकी तुलना में राजनीतिक

परिस्थितियों तथा कारणों का महत्व नगण्य प्रतीत होता है। कबीर ने अपना नवीन मत मुख्यतः सांस्कृतिक एवं धार्मिक उत्थान के अभिप्राय से प्रचारित किया। धार्मिक तथा सांस्कृतिक रूढ़ियों का उन्होंने उच्चस्वर से विरोध करते हुए जन-साधारण में आत्मविश्वास की प्रतिष्ठा की। यही बात अन्य सन्तों जैसे दादू, नानक इत्यादि के लिए भी सत्य है। ये सभी सन्त धर्मपरायण साधक थे, जिनका राजनीति से कभी भी सम्बन्ध न था। किन्तु आगे चलकर इन्हीं सन्तों के नाम पर सम्प्रदाय बन गए जिनमें उपासना की रूढ़िग्रस्त पद्धतियाँ धीरे-धीरे आविर्भूत होने लगीं। इनका सीधा विरोध ब्राह्मण धर्म से था जो मुसलमानी कट्टरता के फलस्वरूप स्वयं दिन-प्रति दिन अधिक अनुदार होता जा रहा था। विरोध करते हुए भी सन्त मत कट्टर हिन्दू धर्म की बुराइयों से अछूते न बच सके और इसीलिए तुलसीदास को इन अनेक पन्थों के सम्बन्ध में उपेक्षा तथा तिरस्कार के साथ अपना मत प्रगट करना पड़ा। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस सब का मूल कारण था मुसलमानों की असहिष्णुतापूर्ण धार्मिक एवं राजनीतिक नीति। आगे चलकर अकबर के राज्यकाल में, जब धर्म तथा शासन दोनों के ही क्षेत्र में उदारता का आविर्भाव हुआ तब भक्ति भी बदल कर साकार उपासना के रूप में परिलक्षित हुई। यदि मुसलमान शासकों की कट्टरता बनी रहती तो कदाचित् वैष्णव भक्ति का वैसा विस्तार उत्तरी भारत में न हो पाता जैसा कि हुआ। औरंगजेब के शासन-काल में अत्याचार एवं असहिष्णुता के कारण सन्त काव्य में पुनः परिवर्तन आने लगा। यह बात गुरु गोविन्द सिंह तथा उनके सम-सामयिक सन्तों की रचनाओं के अध्ययन से सहज ही स्पष्ट हो जाती है। कहने का अभिप्राय केवल यह है कि सन्त तथा भक्त कवियों की रचनाओं का सम्पूर्ण अर्थ तथा प्रयोजन ग्रहण करने के लिए राजनीतिक एवं सामाजिक पृष्ठ-भूमि का ज्ञान उसी प्रकार अनिवार्य है, जैसे कि दार्शनिक सिद्धान्तों एवं धार्मिक विश्वासों की जानकारी।

भक्तों की कविता दो विभिन्न भागों में बँट जाती है—(१) सन्त और सूफियों की कविता, जिन्होंने उस सर्वव्याप्त सत्ता और ईश्वरीय अस्तित्व में विश्वास किया जिसका स्वरूप अगोचर और वर्णनातीत है। (२) परम उत्सर्ग और उपासना में विश्वास रखनेवाले सगुण ईश्वरावतार राम और कृष्ण के उपासकों का काव्य। जहाँ तक पहली श्रेणी के कवियों की बात है, उनका भेद हम इस प्रकार कर सकते हैं: (क) सन्त कवि जो रहस्यवादी सुधारक थे, (ख) सूफी कवि जिन्होंने कल्पनालोक की शरण ली। उनके प्रेम के गीत आध्यात्मिक तथा साथ ही लौकिक भी थे। उसी प्रकार दूसरी श्रेणी के कवि दो भिन्न शाखाओं में बँट जाते हैं:—(क) रामभक्ति शाखा, (ख) कृष्णभक्ति शाखा। इस प्रकार भक्त

कवियों की चार शाखाएँ हुईं। अतः उनकी रचनाओं का अध्ययन निम्नांकित चार श्रेणियों के अन्तर्गत किया जायगा :—

(१) सन्त कवि कबीर तथा अन्यान्य
(२) सूफी कवि जायसी तथा अन्यान्य
(३) रामोपासक वैष्णवकवि तुलसीदास तथा अन्याय
(४) कृष्णोपासक वैष्णव कवि सूरदास एवं अन्यान्य।

काव्य की निर्गुण शाखा की परम्परा स्थापित करने वाले सन्त कवियों में कबीर सिर मौर हैं, जिनमें नाना प्रकार के प्रभावों का सम्मिश्रण दृष्टिगोचर होता है। कबीर निर्गुण काव्य-परम्परा के संस्थापक थे तथा उनकी रचनाओं में निर्गुण काव्य के अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। कबीर तथा अन्य निर्गुण सन्तों ने विभिन्न प्रभावों को आत्मसात् करके अपनी रचनायें प्रस्तुत कीं। वेदान्तिक अद्वैतवाद, मुसलमानी एकेश्वरवाद, सिद्धों, गोरखपन्थियों और रहस्यवादी सिद्धान्तों से चालित भारतीय रहस्यवाद की परम्परा, तंत्र और हठ योग, रामानन्द से ग्रहीत वैष्णव विचारों में पायी जाने वाली भावना और शब्दावली, इन सभी तत्वों और प्रभावों को मिलाकर उन्होंने अपने काव्य में धर्म का एक अत्यन्त समृद्ध एवं वैशिष्टच-पूर्ण रूप अंकित किया है। मध्यकालीन सन्तमत में समन्वय का प्रयास निहित है। अनन्य ईश्वर-प्रेम से प्रभावित सन्तों ने न केवल जाति-भेद और धर्म-भेद को भुला दिया, वरन् तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था से उन्हें निर्मूल करने का अथक प्रयत्न किया। हिन्दू और मुसलमानों के बीच बढ़ते हुये भेद को मिटाने का इतना बड़ा प्रयत्न और किसी ने नहीं किया। इन सन्तों ने अपने शब्दों में हृदय का रस उँड़ेल दिया और आग्रह पूर्वक इस महान सत्य को सबके सामने रखा कि ईश्वर के दो टुकड़े कर उसे हिन्दू और मुसलमानों के बीच बांटा नहीं जा सकता; राम और रहमान में भेद केवल नाम के कारण है। काबा उतना ही पवित्र है जितनी काशी। जहाँ तक आध्यात्मिक साधना एवं ईश्वरोपासना के प्रश्न थे उन्होंने जातीय, साम्प्रदायिक और स्त्री-पुरुष सम्बंधी सारे भेदों को अमान्यता दी। यह ध्यान देने की बात है कि इस काल के अधिकतर महान सन्तों का सम्बन्ध दलित जातियों से था। कबीर जाति के मुसलमान जुलाहे थे, दादू धुनिया, रैदास चमार अथवा मोची, सेन नाई और यार मुसलमान। आध्यात्मिकता के साम्राज्य में जाति के कठोर बन्धन को अस्वीकृत करने वाले सर्वप्रथम रामानन्द और नामदेव थे। बाद के सन्तों ने उनके उदार प्रभाव को ग्रहण कर उसकी पुष्टि की। इस प्रकार वे सुधारक भी थे और उनके काव्य का स्वर न केवल उनकी आस्था अपितु उनके सुधार वादी प्रयत्नों से सबल और सुदृढ़ हो गया है। अतिशय ओजस्विता के कारण कभी-कभी छन्द की व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है

और रूप का ढांचा भी खण्डित होता दिखाई देता है । यदि विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से विचार करें तो इन सन्तों के काव्य में कई दोष हैं । परन्तु जीवन की तरह साहित्य में भी सहृदयता असंख्य दोषों का परिहार है, और कोई भी विवेकशील पाठक कबीर अथवा दादू के अनगढ़ काव्य का विनिमय आधुनिक युग के सुनिर्मित, श्रृंगारिक प्रेम-काव्य से करने को तैयार न होगा।

इन सन्त कवियों द्वारा प्रतिपादित निर्गुण दर्शन का मूल सिद्धान्त सर्व-शक्तिमान निराकार ईश्वर की कल्पना है। इस तरह एक ओर तो उन्होंने मूर्ति-पूजा की निंदा की और दूसरी ओर ईश्वर की सर्व-व्यापकता पर बल दिया। परन्तु उनके मतानुसार सर्व व्यापक ब्रह्म का सम्यक वर्णन सम्भव नहीं, क्योंकि वह परम सत्ता रूपरंग तथा आकार विहीन है एवं ज्ञानेन्द्रियों मात्र से उसका ग्रहण नहीं हो सकता। वह कल्पनातीत एवं अनिर्वचनीय है। अतः उपासक के लिये यही मार्ग है कि वह गंभीर चिन्तन, मानसिक एकाग्रता, एवं आत्म-दर्शन द्वारा सर्व-व्यापी ब्रह्म से एकाकार होने की अनुभूति करे। जब आध्यात्मिक अनुभूति जगती है तो साधक यह अनुभव करता है कि वास्तव में जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं और वह केवल भ्रम में पड़ा हुआ था। इन रहस्यवादियों का एक मात्र उद्देश्य है, सान्त में अनन्त को विलीन करना । इस सम्बन्ध में हठयोग के नियमों तथा उनके पालन करने की विधियों का सविस्तार उल्लेख मिलता है।

कबीर तथा कतिपय अन्य संतों के उपदेश तथा उन के दर्शन सूफी सिद्धान्तों से प्रभावित थे। सूफी प्रभाव के और अधिक निश्चित लक्षण मुसलमान कवियों के प्रेम गीतों में प्राप्त होते हैं जो रहस्य भावना से परिपूर्ण तथा वर्णनात्मक होते थे, तथा जिनका विषय था प्रेम जो लौकिक और पारलौकिक भी था।

सूफीमत अब सार्वभौम रूप से इस्लामधर्म का रहस्यमय प्रतिरूप समझा जाता है, यद्यपि इसकी उत्पत्ति पूर्वकालीन यहूदी पैगम्बरों से मानी जा सकती है। इसके अतिरिक्त समय-समय पर उसे प्लैटो, प्लाटिनस आदि दार्शनिकों के विचारों से प्रेरणा और समर्थन भी मिलता रहा। ईसाई रहस्यवाद तथा कुछ भारतीय विचारकों की विचार-धारा से भी इसे प्रेरणा मिली। काफी समय तक सूफी मतावलम्बी मुस्लिम महात्मा शासकों द्वारा परेशान किये गए। उन्हें फाँसी तक का दण्ड भी दिया गया। मन्सूर के अतिरिक्त अनेक महात्माओं को अपने धार्मिक विश्वास के कारण प्राण तक देने पड़े। बाद में चलकर इस्लाम धर्म ने उनकी आध्यात्मिक स्वतन्त्रता और रूढ़िवाद के विरोध को सहन करना सीखा।

सूफ़ी विचारक प्रेम के उपासक हैं, जो उनके लिए केवल तटस्थ पूजा का विषय न हो कर उनके सम्पूर्ण जीवन और जगत में व्याप्त है। पार्थिव स्तर पर प्रेम का सम्बन्ध ऐन्द्रिक उपभोग से रहता है। यह प्रेम का स्थूल रूप है, जो

परिष्कृत होकर आध्यात्मिक प्रेम के लिए मार्ग तैयार करता है। एक सूफ़ी विचारक मानव मात्र से केवल इसलिए प्रेम नहीं करता कि सभी ईश्वर के प्रतिरूप हैं, वरन् इसलिए भी कि इश्क मज़ाजी इश्क हकीकी तक ले जाने में समर्थ है। सूफ़ियों का अन्तिम ध्येय है अनलहक की प्राप्ति। वह अपनी आध्यात्मिक तथा भावात्मक अनुभूति के माध्यम से अपने प्रेमी के साथ एकाकार हो जाना चाहता है। इसकी प्राप्ति पीर पैगम्बरों के पथ-प्रदर्शन द्वारा ही हो सकती है। साथ ही दीर्घकाल के आध्यात्मिक अभ्यास तथा भावात्मक शिक्षण द्वारा भी इसे प्राप्त किया जा सकता है जो कि साधक को "मारफत" के अन्तिम चरण तक पहुँचा देता है, और इस प्रकार हेय अहंभावना से छुटकारा पाकर व्यापक परमानन्द का रसास्वाद प्राप्त होता है। यही उनका आधारभूत विश्वास है जिस पर सूफी विचारकों ने विभिन्न प्रकार से प्रकाश डाला है। साधन रूप में अनेक प्रकार के रूपकों का प्रयोग किया जाता है। आत्मा और ईश्वर के पारस्परिक सम्बन्ध का निरूपण कभी प्रेमिका और प्रेमी, कभी वधू और वर, तथा कभी पत्नी और पति के रूप में किया गया है। सूफियों की कविता का सबसे बड़ा आकर्षण है उपयुक्त रूपकों में आध्यात्मिक संकेत की नियोजना करना।

सूफ़ीवाद दार्शनिक दृष्टि से वेदान्त से मिलता जुलता है, किन्तु साधना में उससे भिन्न है। सूफ़ी कवि परब्रह्म की प्राप्ति आध्यात्मिक रीति से नहीं वरन् भावात्मक रूप से करने पर विश्वास करते हैं और उस अनुभूति को उत्पन्न करने के लिए वे संगीत का सहारा लेते हैं। ईश्वर के प्रति उनका यह प्रेम उनके मस्तिष्क पर नशे की भाँति छा जाता है। इस भाँति सूफ़ी संप्रदाय अनन्य ईश्वरभक्तों का एक ऐसा समुदाय है, जो आध्यात्मिक अनुभूति तथा प्रेम के तीव्र आवेग के कारण उन्मत्त रहते हैं।

इस काल में अनेक मुस्लिम तथा सूफ़ी कवियों ने प्रेम का विषय लेकर लम्बी पद्यमय कथाएँ लिखीं। इन कथाओं में एक अनिवार्य समता है। प्रत्येक कथा में कोई राजकुमार किसी राजकुमारी के प्रेम में पड़ जाता है। वह कठिनाइयों का सामना करता है और अन्त में अपनी प्रेमिका से मिलन का वरदान प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार के रूपक ईश्वरप्रेम के प्रतीक हैं जो प्रारम्भिक कठिनाइयों के बाद अन्त में अनिवार्य सफलता का आश्वासन देते हैं। यद्यपि इन आख्यानों का दार्शनिक आधार सूफ़ी भावना है, तथापि वे हिन्दू राजाओं तथा रानियों और उनके लौकिक जीवन को अपना आधार बनाते हैं। इस प्रकार अपने उदार समन्वयवादी दृष्टिकोण द्वारा इन सूफ़ी कवियों ने हिन्दू और मुस्लिम जनता के बीच प्रेम सम्बन्ध स्थापित किया। सूफ़ी कवियों की ये

कथाएँ सर्वथा मौलिक न होकर हिन्दू घरों में प्रचलित कथाओं पर आधारित होती थीं ।

साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से सूफ़ी कवियों की इन रचनाओं का निर्गुण सन्तों के काव्य की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व है । यह सत्य है कि निर्गुणी सन्तों की रचनाओं में यत्र तत्र आध्यात्मिक अनुभूति की तीव्रता के कारण सहज सौन्दर्य निखर उठा है किन्तु अधिकांश स्थलों पर उनकी शैली अपरिष्कृत है, एवं छन्द के नियमों की भी अवहेलना हुई है । सूफ़ी कवियों ने साहित्यिक विशेषताओं के प्रति उदासीनता नहीं दिखलाई है । उनकी पद्यबद्ध आख्यायिकाओं में घटनाक्रम की शृंखला नहीं टूटती तथा उनमें मार्मिक स्थलों की सुंदर अभिव्यक्ति हुई है। वर्णनों में तो उन्होंने अप्रत्याशित सफलता प्राप्त की है । विभिन्न ऋतुओं के बाह्य प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण के साथ ही मानसिक अवस्थाओं का मर्मस्पर्शी अंकन हुआ है। सूफ़ी कवियों की ये पद्यमय कथाएँ प्रायः अवधी की जन-भाषा में लिखी गई हैं । इसका कारण यह है कि ये कवि मुख्यतः अवध तथा उसके आसपास के जिलों के निवासी थे और सब की रचनाएँ प्रायः चौपाई और दोहों में हैं ।

१४वीं सदी में वैष्णव धर्म का प्रादुर्भाव उत्तर भारत में होने के पूर्व उसका प्रचार दक्षिण भारत में हुआ । दक्षिण भारत में इसकी उत्पत्ति और प्रसार का श्रेय अलवार तथा अन्य धर्म गुरुओं को है, जो परम वैष्णव भक्त थे और जिन्होंने अपनी भावुकतावश इसके प्रचार और प्रसार को सुलभ बनाया । इन धर्मगुरुओं में विशिष्टाद्वैत के प्रवर्तक रामानुज अग्रगण्य माने जाते हैं । आचार्य शंकर ने अपने अद्वैतवाद द्वारा इस भौतिक जगत् को पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या सिद्ध कर दिया था । उनकी दृष्टि में व्यक्ति का अर्थात् आत्मा का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रह जाता है । रामानुज ने इस पर विचार किया और अपने दर्शन को एक नए ढंग से प्रस्तुत किया, जिसके अनुसार इस जगत् को भौतिक शरीर तथा ईश्वर को आत्मा का रूप माना गया। इस नवीन दर्शन में व्यक्ति अर्थात् आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया गया, किन्तु एक अंश के रूप में और वह भी भक्ति के माध्यम से । रामानुज ने अपने दर्शन द्वारा व्यक्ति अर्थात् आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध को व्यक्त किया है, साथ ही भक्ति की प्रकृति और उसके स्वरूप तथा उस ब्रह्म तक पहुँचने के मार्ग को भी बतलाया है ।

हमने देखा कि १४वीं शती में हिन्दू जनता किस प्रकार पराजित और त्रस्त थी, अतः ब्रह्म की भक्ति तथा उसकी प्राप्ति का मार्ग बतलाने वाले वैष्णव दर्शन ने उसे बड़ी सान्त्वना दी । इसका कारण यह विश्वास था कि सब कुछ ईश्वर की दया पर ही निर्भर है। दक्षिण की ओर से उत्तर की ओर इन सिद्धान्तों का प्रसार विशेषरूप से महाराष्ट्र के सन्तों के भक्तिपूर्ण गीतों तथा उपदेशों के द्वारा हुआ ।

रामानुज की इस दार्शनिक मीमांसा का अध्ययन काशी तथा भारत के अन्य सांस्कृतिक केन्द्रों में किया गया। राघवानन्द, रामानन्द तथा वल्लभाचार्य आदि विद्वानों के उद्योग से उत्तरी भारत में यह अत्यधिक प्रभावकारी सिद्ध हुआ।

उत्तरी भारत में सर्वप्रमुख राम सम्बन्धी उत्कर्षान्दोलन १५वीं शताब्दी में रामानन्द के प्रत्यक्ष प्रभाव द्वारा हुआ, जिनका काल फरकुहर ने १४०० से १४७० ई० के लगभग निर्धारित किया है। वे रामानुज के शिष्य थे। उन्होंने काशी को अपना केन्द्र बनाया जहाँ से उन्होंने अपने समुदाय की शिक्षा प्रसारित करने के लिए दूर-दूर तक यात्रा की। उन्होंने अवतारों में राम को सर्वोपरि माना, क्योंकि राम ने मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में अवतरित होकर पाप का दमन तथा नैतिक मर्यादा की स्थापना की। इस प्रकार राम शब्द नैतिकता का पर्यायवाची बन गया और "ॐ रामाय नमः" के नवीन मंत्र का अनुसरण किया जाने लगा। रामानन्द की दूसरी बड़ी देन यह थी कि उन्होंने जाति-भेद के बन्धन को ढीला करके भक्ति का अधिकार स्त्री-पुरुष तथा सभी वर्णों के लोगों के लिए समान रूप से उपलब्ध कर दिया। उनके पूर्व भक्ति द्विजातिमात्र तथा प्रपत्ति शूद्रों के लिए थी। उन्होंने भक्ति का मार्ग सब के लिए खोल दिया और फलतः उनके शिष्यों तथा अनुयायियों में सभी वर्णों तथा जातियों के लोग थे। रामभक्ति का जो प्रचार उत्तरी भारत में हुआ, उसका बहुत बड़ा श्रेय रामानन्द की इस उदार धार्मिक नीति को ही है। इसी भाँति स्वयं संस्कृत के भारी पंडित होते हुए भी रामानन्द ने रामभक्ति के महत्त्व को जनता तक पहुँचाने के अभिप्राय से अपने उपदेश का माध्यम जनभाषा हिन्दी को ही बनाया। उनके उपरांत उनके अनुयायी भक्तों तथा कवियों ने प्रचुर मात्रा में उच्चकोटि का रामभक्ति सम्बन्धी साहित्य हिन्दी में निर्मित किया।

रामानन्द के वैष्णव सिद्धान्तों का कबीर आदि पर परोक्ष तथा तुलसीदास आदि हिन्दी कवियों पर प्रकट प्रभाव पड़ा जो उन्हीं की परम्परा के अन्तर्गत माने जाते हैं। हिन्दी के रामभक्ति काव्य के रचयिताओं में तुलसीदास अग्रगण्य हैं, क्योंकि वे काव्य के परिमाण और वैशिष्टय दोनों ही की दृष्टि से आदरणीय हैं।

रामचरितमानस का कथानक और उसकी काव्यगत विशेषताएँ दोनों समान रूप से प्रशंसनीय हैं, अतएव इस ग्रन्थ ने अमर यश प्राप्त किया है। इसका कारण यह है कि इस ग्रन्थ में गम्भीर आध्यात्मिक सत्य को अतुल सौन्दर्य से सफलतापूर्वक सजाकर प्रस्तुत किया गया है।

कृष्णभक्ति शाखा के प्रवर्तक श्री वल्लभाचार्य (१४७९-१५३१) तेलगू ब्राह्मण थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा काशी में हुई। इन्होंने अपने दर्शन का नाम शुद्धाद्वैत रखा। शंकर के अद्वैत से माया को निकालकर इन्होंने अद्वैत का शुद्ध रूप उपस्थित किया। निम्बार्क के द्वैताद्वैत का प्रभाव भी उन्होंने ग्रहण किया था। भक्ति के माध्यम

द्वारा ही जीव कृष्ण अर्थात् ब्रह्म में लीन हो सकता है। इस परम मिलन के लिए अनुग्रह अथवा पुष्टि परम आवश्यक है। इस दैवी अनुग्रह के कारण ही भक्ति का सूत्रपात होता है। इसीलिए श्री वल्लभाचार्य के वैष्णव मत को पुष्टि-मार्ग भी कहते हैं। शुद्धाद्वैत एवं पुष्टि की भावना इन दोनों के ही आधार पर उनके दर्शन का निर्माण हुआ है, जिसको हम सामान्य रूप में इस प्रकार कह सकते हैं—"कृष्ण ही ब्रह्म हैं, परम सत्य हैं, ज्ञान मय हैं, आनन्द मय हैं, और एक मात्र चिरन्तन हैं। भौतिक जगत् और आत्मा अन्तर्यामी या अन्त:स्थित परमात्मारूप से आग से चिनगारी की तरह अलग होते हैं। जीवों में जो कि ब्रह्म के अंशरूप हैं और ब्रह्म से पृथक् नहीं हैं, तीनों गुणों का सन्तुलन हो जाने के कारण आनन्द का गुण या लक्षण दब-सा जाता है। अत: वे सत् और चित् गुणों से ही युक्त प्रतीत होते हैं। मुक्तआत्मा कृष्ण-लोक में जाते हैं जो विष्णुलोक, शिवलोक तथा ब्रह्मलोक से भी श्रेष्ठ है और वहाँ कृष्ण-ब्रह्म के प्रताप से वे स्वाभाविक ईश्वरीय विशुद्ध दशा को प्राप्त करते हैं।"

कृष्णलोक बैकुण्ठ के नाम से पुकारा जाता है। उसमें स्वर्गीय वृन्दावनादि प्रसिद्ध बन हैं। कृष्ण की माया से राधा की उत्पत्ति होती है तथा कृष्ण और राधा की त्वचा के छिद्रों से असंख्य गोप-गोपियों, पशु और वन के अन्य निवासियों की। अपने भक्तों के साथ कृष्ण और राधा उस स्वर्गीय वृन्दावन में चिर विहार करते हैं। प्रत्येक वल्लभ के हृदय में गोपी बनने की तथा कृष्ण के साथ उनके लोक में विहार करने की उत्कट अभिलाषा होती है। यह धर्मसेवा या कृष्णोपासना के नाम से प्रसिद्ध है। मन्दिरों में प्रति दिन ८ बार पूजा होती है। इस सम्प्रदाय का मन्त्र है, "श्रीकृष्ण शरणं मम"।

कृष्णभक्ति के इस सम्प्रदाय में आनन्द का स्थान बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है, और कृष्ण की पूजा सद्‌गुणों के आदर्श स्वरूप नहीं अपितु आनन्द की प्रतिमूर्ति के रूप में होती है। उनके प्रति उपासकों की भावना राम की तरह आदर्श व्यञ्जक नहीं किन्तु प्रेम के आकर्षण की है। कृष्णोपासना में प्रेम और आनन्द का यह मिश्रण आनन्दातिरेक जन्य विह्वलता की ओर ले जाता है और साहित्य में उत्कृष्ट भक्ति सम्बन्धी सरस और निर्मल गीत काव्य के सृजन का कारण बनता है।

कृष्णभक्ति का केन्द्र ब्रज की भूमि थी जहाँ वल्लभाचार्य और उनके पुत्र बैकुण्ठनाथ बस गए थे। कृष्ण के सौन्दर्य और प्रेम की अद्‌भुत् लीला तथा कार्यों का सारा प्रशंसात्मक काव्य ब्रजभाषा में लिखा गया है, जिस प्रकार रामभक्ति से सम्बन्धित प्रमुख काव्य अवधी में ही मिलता है। जिस भाँति तुलसीदास ने राम की उपासना स्वामी रूप में की है, और उनकी दास्य भावना उनके काव्य में सर्वत्र विद्यमान मिलती है, उसी भाँति कृष्णकाव्य सख्य तथा वात्सल्य भावना से सिक्त है। सूरदास एवं अष्टछाप के अन्य कवियों ने कृष्ण को मधुर प्रेम का आधार माना

है। सूरदास ने यशोदा एवं बालकृष्ण को लेकर वात्सल्य प्रेम से परिपूर्ण अनुपम काव्य की सृष्टि की है। तुलसी के राम के समान इन कृष्णभक्तों के कृष्ण मर्यादा के प्रतीक नहीं, वरन् सौन्दर्य, प्रेम, एवं, उत्कृष्ट आनन्द की प्रतिमूर्ति हैं। फलतः कृष्ण काव्य में हमें जीवन को उच्चतर बनाने के लिए नैतिक उपदेश नहीं मिलते, किन्तु उसका माधुर्य मन मोह लेनेवाला है। उसकी आनन्ददायिनी शक्ति तथा अतुल सौन्दर्य के कारण ही उसकी लोकप्रियता रामभक्ति काव्य से भी अधिक है। सूरदास इन कृष्णभक्ति मार्गी कवियों में निश्चय ही अग्रगण्य हैं, किन्तु उनके अतिरिक्त इस सम्प्रदाय के कई अन्य कवियों की रचनाएँ उच्चकोटि की हैं। परवर्ती हिन्दी काव्य पर इस भक्ति शाखा का प्रभाव रामभक्ति काव्य से कहीं अधिक पड़ा।

चतुर्थ प्रकरण

निर्गुण सन्तकवि

कबीर—

कबीर की रचनाओं में निर्गुण भक्ति का स्वरूप निश्चित रूप से स्थिर हो गया, यद्यपि इनके पहले भी कई निर्गुणी सन्त हो चुके थे, जिनमें नामदेव का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कबीर ने जिस मत की स्थापना की वह आज भी देश के अनेक भागों में सजीव रूप में विद्यमान है और उनके उपदेशों का प्रभाव न केवल जनता पर वरन् उनके सम-सामयिक एवं परवर्ती सन्तों पर भी पड़ा। नानक, दादू, सुन्दरदास, और कई अन्य सन्त अपने विचारों और प्रेरणा के लिए कबीर के ऋणी हैं। निस्सन्देह कबीर निर्गुण सन्त मत के संस्थापक एवं निर्गुण काव्य के प्रवर्तक के रूप में हमारे सामने आते हैं और उनके बाद के सभी सन्तों ने किसी न किसी अंश में उनकी विचार-पद्धति तथा रचना-शैली को ग्रहण किया। अतः हम कह सकते हैं कि कबीर का वास्तविक प्रभाव उनके पन्थ तक ही सीमित नहीं था वरन् व्यापक रूप से दीर्घकाल तक उसने उत्तरभारतीय संत परम्परा को प्रभावित किया। कबीर की वाणी में एक अनुपम तेजस्विता और सहज सौन्दर्य है और उनके विचारों में आध्यात्मिक अनुभूति की ऐसी गम्भीरता मिलती है जिसके कारण आज भी देश और विदेश में उनकी रचनाओं का उच्चतम कोटि के आध्यात्मिक काव्य के रूप में स्वागत हो रहा है।

कबीर के जीवन के सम्बन्ध में बहुत कम बातें ज्ञात हैं। उनके जन्म और मृत्यु की तिथियों के सम्बन्ध में आज तक गहरा मतभेद चला आता है। उदाहरणार्थ, रेवेरेन्ड वेस्ट कॉट के कथनानुसार कबीर का जन्म १४४० ई० और मृत्यु १५२५ ई० में हुई। लेकिन डाक्टर पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के मतानुसार उनके जन्म और मृत्यु की तिथि क्रमशः १३७० और १४४४ ई० माननी चाहिए। कबीर-पन्थियों में निम्नलिखित दोहा प्रचलित है :—

चौदह सौ पचपन साल गए चन्द्रवार एक-ठाठ ठए। जेठ सुदी बरसाइत को रण मासी प्रगट भए। इसकी व्याख्या करते हुए डाक्टर रामकुमार वर्मा ने कबीर

की जन्म-तिथि ज्येष्ठ की अमावस्या सन् १३९८ ई० तथा अन्य विद्वानों ने ज्येष्ठ की पूर्णिमा सन् १३९९ ई० निश्चित की है। मृत्यु-तिथि के सम्बन्ध में तो और भी अधिक मतभेद है। इसी भाँति श्री रामानन्द से दीक्षा प्राप्त करने तथा सिकन्दर लोदी से मिलने की तिथियाँ भी अभी तक निश्चित नहीं हो पाई है। उनका जन्म-स्थान काशी माना जाता है लेकिन इधर कुछ विद्वानों ने यह मत प्रकट किया है कि कबीर की मृत्यु ही मगहर में नहीं हुई, उनका जन्म भी मगहर में ही हुआ था। यद्यपि यह निश्चित है कि उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश काशी में ही बिताया। परम्परागत विश्वास है कि कबीर का जन्म श्री रामानन्द के वरदान के कारण एक ब्राह्मणी विधवा के गर्भ से हुआ, तथा उनका पालन-पोषण नीरू नामक जुलाहे एवं उसकी पत्नी नीमा द्वारा किया गया। इधर हाल में इस सम्बन्ध में सन्देह प्रगट किया गया है, और यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि कबीर के माता-पिता मुसलमान थे। पीपा और रैदास ने कबीर का जन्म मुस्लिम परिवार में ही होना माना है तथा अन्य प्रमाण भी इसी बात की पुष्टि करते हैं। कबीर के विचारों में हिन्दू और मुसलमान विश्वासों का जो मिश्रण मिलता है उसी को ध्यान में रख कर कदाचित् कुछ लोगों ने ब्राह्मणी विधवा के उदर से इनके जन्म की किंवदन्ती प्रचलित कर दी होगी। अधिक मान्य मत यह है कि कबीर के माता पिता उन जुलाहों में थे जो पहले नाथपंथी थे, किन्तु जिन्होंने हाल ही में इस्लाम धर्म स्वीकार किया था, अतः उनके विश्वासों में प्राचीन और नवीन अर्थात् नाथपंथी और इस्लाम दोनों ही धर्मों के सिद्धांतों का समावेश स्वाभाविक है। कबीर की प्रतिभा सर्वग्राही थी और उसके बल से उन्होंने अनेक प्रभावों को आत्मसात् करके अपनी रचनाओं में उनका सुन्दर संश्लेषण उपस्थित किया है। इस दृष्टि से सूफी, वैष्णव, तथा बौद्ध सिद्धों एवं नाथपंथियों के प्रभाव का साथ ही साथ मिलना तनिक भी आश्चर्य की बात नहीं है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का यह कथन कि "कबीर का काव्य विभिन्न मतों और धर्मों का मिलनबिन्दु है", अत्यन्त उपयुक्त है। वे वैष्णव परम भक्त रामानन्द के शिष्य थ, और उन्होंने शाक्तों पर कटु आक्षेप किये हैं, यह निश्चित है। कबीर सूफी प्रभाव में भी आए, यद्यपि उनके मानिकपुर के शेख तकी के शिष्य होने की बात निराधार सिद्ध हो चुकी है। कबीर ने उत्तरी भारत का विस्तृत पर्यटन किया, उन्होंने अपने निर्गुणवाद के सिद्धान्तों का प्रचार किया और अपने समय के प्रमुख हिन्दू और मुसलमान सन्तों से परामर्श अथवा वादविवाद के लिए मिले। कबीर का यश और प्रभाव उनके जीवन-काल में ही फैल गया था। उनके भक्त एवं अनुयायी पंजाब, राजस्थान, मध्यभारत, उत्तरप्रदेश, और बिहार में फैले हुए थे। कबीर विशुद्ध जीवन व्यतीत करने वाले सीधे साधे निश्छल व्यक्ति थे। वे विरक्त नहीं थे तो भी पार्थिव संपत्ति को बहुत कम महत्त्व देते थे। परम्परा के

अनुसार वे अपनी पत्नी लोई, पुत्र कमाल, और पुत्री कमाली के साथ रहते थे। जीविका तथा आतिथ्य-सत्कार के लिए परिश्रम से धन कमाते थे। जब उनके हाथ करघे पर कार्य में व्यस्त रहते थे, तब उनका मन भक्ति-भाव से उत्प्रेरित आध्यात्मिकता के ताने-बाने बुना करता था।

कबीर के काव्य में उनका अध्यात्म-दर्शन एवं उनके नैतिक विचार दोनों ही सन्निहित हैं। नैतिक विचारों का मूल अध्यात्म-दर्शन में ही है, यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से उनका सम्बन्ध मनुष्य के वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन से स्पष्ट रूपेण दिखायी देता है। जीवन को संयत और शुद्ध बनाए बिना आध्यात्मिक साधना अपने चरम लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाती, अतएव सभी सन्तों ने नैतिकता पर पर्याप्त जोर दिया है। कबीर रामानन्द के शिष्य एवं राम के उपासक थे किन्तु उनके राम श्री रामानन्द अथवा गोस्वामी तुलसीदास के राम से कुछ भिन्न थे। उनके लिए राम कोई अवतार नहीं बल्कि सम्पूर्ण स्थावर और जंगम में व्याप्त सत्ता हैं और प्रधानरूप से उनका निवास स्थान मानव हृदय में है। जब अज्ञान का नाश होने पर भेदभाव मिट जाता है, तब अन्तदृष्टि द्वारा साधक अपने भीतर ही अपने उपास्य का साक्षात्कार करता है। शब्दों द्वारा ब्रह्म का स्वरूप निरूपण सम्भव नहीं, किन्तु कबीर ने अपनी कविता में उस आनन्द की ओर संकेत किया है, जिसका अनुभव प्रेमी भक्त अपने प्रिय उपास्यदेव से मिलन के बाद करता है। मिलन न होने पर अथवा वियोग के कारण भक्त बेचैन रहता है, और उसकी आत्मा तड़पती रहती है। निर्गुण भावना एवं आन्तरिक आध्यात्मिक अनुभूति के आधार पर ही कबीर के रहस्यवाद के स्वरूप की वास्तविक कल्पना सम्भव है। यह रहस्यवाद आंशिक-रूप में सूफी मत, वेदान्त दर्शन, तथा पूर्ववर्ती बौद्ध सिद्ध और नाथपंथी परम्परा से प्रभावित है। जैसा हम कह आए हैं भ्रमनिवारणार्थ तथा आत्मशुद्धि की आवश्यकता बताने के लिए कबीर ने अनेक प्रचलित मतों का खण्डन करते हुए नैतिक नियमों के पालन करने का आदेश दिया है। गहन आध्यात्मिक अनुभव का प्रकाशन करते समय कबीर की वाणी अत्यन्त सरल एवं प्रभावोत्पादक हो जाती है, किन्तु जब वह समाजसुधारक की हैसियत से बोलते हैं तब उनके शब्द उग्र और कर्कश प्रतीत होते हैं। उनके काल में अनेक मतों और संप्रदायों का घोर द्वन्द्व चल रहा था और इसके फलस्वरूप जीवन का नैतिक स्तर नीचे गिर रहा था, फलतः कबीर ने अपने उपदेशों को आग्रहपूर्वक उच्च स्वर से तथा आत्म-विश्वास के साथ घोषित करने की आवश्यकता का अनुभव किया होगा। कदाचित् इसीलिए उनके वचनों में कहीं-कहीं कठोरता आ गई है।

कबीर को बहुसंख्यक साखी, शब्दी और रमैनी का रचयिता मानते हैं, यद्यपि निश्चय रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि उनके नाम से प्रचलित काव्य

का कितना अंश स्वयं उनकी रचना है। कबीर ने अपने पद लिखे नहीं और उनके उपरान्त उनके भक्तों ने उनके नाम से अनेक रचनाएँ समय-समय पर प्रसारित की हैं। इस प्रकार यह निर्णय करना कि कबीर की स्वरचित कविताएँ कौन-सी हैं, अत्यन्त कठिन हो गया है। इस समय तीन संग्रह सब से अधिक प्रामाणिक माने जाते हैं—१ बीजक, २ आदि ग्रन्थसाहब और ३ नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित कबीर ग्रन्थावली। कबीर ग्रन्थावली का संकल्लन दो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों तथा आदिग्रन्थसाहब में संग्रहीत पदों के आधार पर हुआ है। ग्रन्थावली के अवलोकन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उसमें अनेक ऐसे पदों का समावेश नहीं हुआ है जो परम्परा से कबीर की रचना माने जाते हैं, और जो विचारों और शैली दोनों ही की दृष्टि से सचमुच कबीर के ही प्रतीत होते हैं। साखी अर्थात् दोहों में प्रधानतः सिद्धान्त निरूपण हुआ है। शब्दियों अर्थात् पदों में भावना का प्राधान्य है, और काव्यात्मक सौन्दर्य भी अधिक मिलता है। रमैनियों के विषय में सन्देह किया जाता है कि वे बाद की रचनाएँ हैं, जिनका निर्माण दोहा चौपाई में लिखे हुए रामभक्ति काव्य के फलस्वरूप हुआ था।

कबीर के काव्य का गौरव उनके विचार गाम्भीर्य एवं व्यक्तिगत आध्यात्मिक अनुभूति की तीव्रता में मिलता है। यह काव्य उस दैवी प्रकाश से आलोकित है, जिसके प्रभाव से कबीर के मन का सारा अंधकार नष्ट हो गया था। यह उस ईश्वरीय अनुग्रह के जल से सिक्त है जिसकी कल्पना कबीर ने उन वर्षा की बूँदों के रूप में की है, जो उन्हें सदैव सराबोर करती रहती थीं। कुछ लोगोंने कबीर की भाषा की आलोचना करते हुए उसमें सफ़ाई के अभाव की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, किन्तु ऐसे आलोचक इस बात को भूल जाते हैं कि कबीर के विचारों तथा उनकी भावनाओं का यथार्थ स्वरूप उनकी भाषा द्वारा यथेष्ट रूप में व्यक्त हुआ है। आन्तरिक अनुभूति इतनी तीव्र तथा अलौकिक थी कि उसकी अभिव्यक्ति में काव्य के परम्परागत सौन्दर्य का उपयोग न केवल अनावश्यक ही वरन् अवाञ्छनीय भी था। कौन इस बात की अपेक्षा कर सकता है कि महात्मा कबीर अपने आध्यात्मिक मिलन की उत्कट अभिलाषा को प्रकाशित करने के लिए अलंकार और छन्द के साधनों को उसी प्रकार काम में लाते जैसे एक साधारण कवि अपनी शृंगारिक रचनाओं के निर्माण के लिए उनको संयोजित है। न तो इसकी आवश्यकता थी और न अन्तःप्रेरणा के वशीभूत ईश्वरीय प्रेम से आह्लादित सन्त के पास इसके लिए अवकाश ही था। कुछ विचारकों ने यहाँ तक कह डाला है कि कबीर कवि नहीं, केवल आध्यात्मिक महानता से समन्वित सन्त थे। यह धारणा नितान्त निरर्थक है। कबीर की रचनाओं में उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति अनेक स्थलों पर रागात्मक अनुभूति के रूप में प्रगट हुई है, और महान दार्शनिक काव्य का यही आदर्श

है। कबीर ने कोरा दार्शनिक तर्क नहीं प्रस्तुत किया है, अपितु उस आध्यात्मिक सत्य को जिसे उन्होंने अपने जीवन में प्राप्त किया था, भावना के सहारे दूसरों के लिए प्रेषित किया है।

अन्य रहस्यवादियों की भाँति कबीर ने भी अपने काव्य में प्रतीकों का पग-पग पर प्रयोग किया है। अगोचर परमसत्ता वर्णनातीत है और इसी भाँति आत्मा एवं परमात्मा के परम मिलन का आनन्द भी साधारण शब्दों द्वारा प्रगट नहीं किया जा सकता। सूक्ष्म आध्यात्मिक सत्य के प्रकाशन के निमित्त प्रतीकों की उपादेयता साधारण शब्दों की अपेक्षा कहीं अधिक है। प्रतीकों द्वारा यद्यपि आध्यात्मिक अनुभवों तथा तथ्यों की पूर्ण अभिव्यक्ति सम्भव नहीं तथापि उनका आभास मिल जाता है। अतः सन्तों तथा रहस्यवादी कवियों ने सदैव प्रतीकों का सहारा लिया है। कबीर के रूपक अत्यन्त उपयुक्त एवं रोचक हैं। अर्थ और भाव-निरूपण के अतिरिक्त कभी-कभी उनके सहारे सुन्दर मानसिक चित्रों का आविर्भाव होता है।

कबीर ने अपने आपको काशी का जुलाहा और अपनी भाषा को पूर्बी बताया है। लेकिन कबीर-ग्रन्थावली में संकलित उनकी रचनाओं में पंजाबी शब्दों की भरमार देखकर हाल में इस सम्बन्ध में कुछ सन्देह उठ खड़ा हुआ है। अवधी, भोजपुरी, और मगही जानने वाला कोई भी व्यक्ति देख सकता है कि कबीर की भाषा का ढाँचा और मुहावरे पूर्वी हिन्दी के ही हैं। यह मालूम होता है कि कबीर ग्रन्थावली में पाए जाने वाले अधिकांश पंजाबी शब्द आदिग्रन्थ साहब और उन दो हस्तलिपियों में संकलित करते समय मिल गए हैं, जिनपर ग्रन्थावली आधारित है। भाषाविशेष के प्रकार का निश्चय भाषा के वाक्य-विन्यास और मुहावरों के अनुरूप ही करना चाहिए; क्योंकि शब्दावली युग और स्थान के अनुसार बदल सकती है।

नानक (१४६९-१५३८)—

गुरु नानक का जन्म लाहौर जिले के तालवण्डी नामक स्थान में हुआ था और वे सिख-धर्म के संस्थापक के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनकी रचनाओं से स्पष्ट है कि वे कबीर से प्रभावित हुए और उनसे ही उन्होंने सुधार की प्रेरणा ली। कबीर की ही भाँति उनकी आस्था भी निर्गुण ब्रह्म में ही थी, और वे भी विभिन्न धर्मों और मतों में होनेवाले संघर्ष के विरोधी थे। नानक ने उत्तर भारत में विस्तृत पर्यटन किया। वे सूफियों और सन्तों के संसर्ग में आए। इसी से उनके उपदेशों में हिन्दुओं और मुसलमानों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, यद्यपि हिन्दू प्रभाव स्पष्टतः मुस्लिम प्रभाव से कहीं अधिक है। उनका दर्शन अद्वैतवाद और एकेश्वरवाद का सम्मिश्रण है। नानक के मतानुसार ईश्वर एक है, अनादि और अनन्त है और उसकी उपासना हृदय में करनी चाहिए, मूर्त्तियों के रूप में नहीं। उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों

दोनों को सर्वशक्तिमान की उपासना करने की अनुमति दी, धर्म के नैतिक दृष्टिकोण पर जोर दिया और गार्हस्थ्य जीवन को संन्यास से अधिक महत्ता दी।

दर्शन के दो संस्कृत ग्रन्थों की रचना का श्रेय नानक को दिया जाता है, यद्यपि उन्होंने अपनी मुख्य शिक्षा हिन्दी के दोहों में ही दी है। यदि कबीर की हिन्दी पूर्वी हिन्दी कही जाय तो नानक की भाषा को पश्चिमी हिन्दी कह सकते हैं, क्योंकि उनकी भाषा स्पष्टतः हिन्दी और पंजाबी का सम्मिश्रण है जिसमें फारसी के मुहावरे भी पर्याप्त मात्रा में पाए जाते हैं। नानक को भजन बनाने और गाने का शौक था जो जपजी साहब में संकलित हैं। उनमें से अधिकांश ईश्वर की स्तुति में हैं और दैनिक प्रार्थना के लिए पुस्तकाकार संकलित कर दिए गए हैं। बाद में गुरु अर्जुन देव ने आदिग्रन्थसाहब को संकलित किया, जिसमें "जपजी", "सोदारु" अर्थात् सांध्य गायन के पद एवं कबीर तथा अन्य भक्तों के पद संग्रहीत हैं। यह सिक्खों का प्रमुख धर्म-ग्रन्थ है, और आज भी उनके जीवन को प्रभावित करता है।

गुरु नानक की अपेक्षा कबीर की कृतियों में आध्यात्मिक वैशिष्टच अधिक है। नानक की रचनाएँ अपनी सादगी और स्वाभाविकता से मन पर प्रभाव डाल कर अपने उद्देश्य की पूर्ति सफलतापूर्वक करती हैं, किन्तु उनमें वह चमत्कार नहीं है जो कबीर के काव्य को विशेष आकर्षक बना देता है। कबीर के पदों और उनकी साखियों में एक विशेष प्रकार की प्रभावोत्पादकता है, परन्तु नानक की कविता की सादगी उसका प्रधान गुण है।

दादू दयाल (१५४४-१६०३)—

आध्यात्मिक दृष्टि से संत दादू दयाल भी कबीर की ही परम्परा में थे। इनका जन्म अहमदाबाद में हुआ था; किन्तु जीवन का अधिकांश भाग उन्होंने राजस्थान में व्यतीत किया। आज भी उनके अनुयायियों की सब से बड़ी संख्या देश के उसी भाग में मिलती है। अपने सम्प्रदाय में उनको लोग नागर ब्राह्मण मानते हैं, किन्तु यह प्रचलित विश्वास है कि वे जाति के धुनिया थे। जो भी हो, इतना तो निश्चित है कि वे मुसलमानी धर्म एवं पूजा की परिपाटी से भली भाँति परिचित थे, अतः उसका उल्लेख उनकी रचनाओं में बार-बार मिलता है।

दादू के पद तथा उनकी वाणी संग्रहीत हैं और कई संस्करणों में प्रकाशित हो चुके हैं। साखी में सिद्धांत विवेचन है और पदों में उपासना की तन्मयता और सहज संगीत का प्राचुर्य मिलता है। भाषा ब्रजभाषा मिश्रित मारवाड़ी है। उसमें कबीर की भाषा ऐसी सजीवता और शक्ति तो नहीं है किन्तु उससे कहीं अधिक मिठास और परिष्कार है। क़बीर अपने समय की सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था के तीव्र आलोचक थे। इसके विपरीत दादू विनम्र भक्त और ईश्वर के उपासक

थे। उनके समय तक वे बहुत-सी समस्याएँ किसी अंश में सुलझ चुकी थीं, जिनके कारण कबीर का मन उद्वेलित एवं उत्तेजित था। फलतः दादू का स्वर कबीर से भिन्न है, यद्यपि दोनों का अध्यात्म-दर्शन मूलरूपेण एक ही है। दादू का सबसे अधिक आग्रह उस भावनागम्य अनुभूति पर है, जो मिलन के क्षणों में प्रणयी भक्त को आनन्द-विभोर तथा वियोग के समय सन्तप्त तथा दुःख-विह्वल बना देती है। इस रागात्मक प्रेरणा के कारण कभी-कभी दादू बरबस सूफ़ियों का स्मरण दिलाते हैं; किन्तु यह निश्चित है कि प्रधान रूप से वे ज्ञान मार्गी, निर्गुण संत थे। अनेक स्थलों पर उन्होंने उस अनिर्वचनीय परमसत्ता की ओर संकेत किया है जो प्रच्छन्न-रूप से कण-कण में व्याप्त है, और जिससे अवगत होने के लिए अन्तर्दृष्टि और अन्तःसाधना परम-आवश्यक है। राह दिखाने के लिए गुरु की सहायता अनिवार्य है। सच तो यह है कि निर्गुणवाद का जैसा स्पष्ट स्वरूप दादू की वाणी में मिलता है वैसा अन्यत्र सन्तकाव्यों में प्राप्त होना कठिन है।

कुछ अन्य सन्तों का यहाँ संक्षेप में ही उल्लेख किया जा सकता है। धर्मदास कबीर के प्रधान शिष्यों में थे और उनका प्रभाव अत्यन्त विस्तृत था, उनकी रचनाएँ धार्मिक भावना एवं सहज विश्वास के कारण प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ हैं। भाषा पूर्वी है जिसमें पंजाबी शब्दों का बिलकुल अभाव है। कबीर की अपेक्षा शैली अधिक सरल एवं परिमार्जित है। **रैदास** जाति के चमार और काशी के रहनेवाले थे। अपने अनेक पदों में उन्होंने इन दोनों ही बातों का उल्लेख किया है। अनुपम भक्ति के कारण इनकी कीर्ति दूर-दूर तक फैली, और कदाचित् मीराबाई ने भी इनका शिष्यत्व ग्रहण किया था। ये स्वयं रामानन्द के शिष्य थे और इस भाँति वैष्णव धर्म से इनका सम्बन्ध था। किन्तु इनका आधारभूत विश्वास निर्गुणी सन्तों के सिद्धान्तों से मिलता है। रैदास की कविता अत्यन्त सरल किंतु गम्भीर व्यक्तिगत आध्यात्मिक अनुभूति के कारण हृदय पर सीधा असर करने वाली है। सुन्दरदास दादू दयाल के शिष्य थे एवं संत कवियों में अपने पांडित्य के कारण विशेष स्थान के अधिकारी हैं। श्रृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों से सम्बन्धित इनकी कविता में अलंकार और छन्दों की नियोजना में विशेष लाघव प्रदर्शित किया गया है। इन्होंने कई वर्षों तक काशी में रहकर विद्याभ्यास किया था और संस्कृत के अच्छे पण्डित थे। तब भी इन्होंने अपने धार्मिक काव्य की रचना हिन्दी में ही की। औरंगजेब के समकालीन सन्त मलूकदास निस्पृह और फक्कड़ सन्त थे। इनकी अनेक गद्दियाँ विभिन्न स्थलों पर स्थापित हुईं। इनके अतिरिक्त और अनेक निर्गुणी संतों ने समय-समय पर हिन्दी में काव्य-रचना की, और इस प्रकार हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाया।

पंचम प्रकरण

प्रेममार्गी सूफ़ी कवियों के रहस्यकाव्य

जिन कवियों की चर्चा हम इस अध्याय में करेंगे उनमें से अधिकांश अवध-निवासी सूफ़ी मुसलमान थे, जिन्होंने अपने प्रदेश की बोलचाल की भाषा में लम्बे प्रेमाख्यान लिखे हैं। ये कविताएँ मुख्यतः दोहों और चौपाइयों में लिखी गई हैं और रूपक-प्रधान हैं। इनका मुख्य विषय प्रेम है। आख्यानों के नायक-नायिकाओं का प्रतीकात्मक महत्व है। लेकिन ये प्रतीकात्मक काव्य भावनाप्रधान और सहृदयता-पूर्ण होने के कारण कभी भी दुरूह या अरुचिकर प्रतीत नहीं होते। इन कविताओं की हस्तलिपियाँ सैकड़ों वर्ष तक अवध के कुछ मुसलमान परिवारों में सुरक्षित पड़ी रहीं और हाल ही में प्राप्त हुई हैं।

अत्यन्त प्राचीन काल से प्रेमाख्यानों की एक अविच्छिन्न परम्परा इस देश में चली आई थी। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, एवं हिन्दी सभी में अनेक ऐसी कथाएँ मिलती थीं जिनमें प्रेमी और प्रेमिकाओं के वियोग और मिलन को आधार बना कर कथा का पूरा ढाँचा खड़ा किया गया था। इनमें कुछ तो उदयन, हाल, शालि-वाहन प्रभृति लोकप्रसिद्ध नायकों को केन्द्र बनाकर उनके आस-पास रोचक परि-स्थितियों का सृजन करती थीं, और कुछ अन्य रूपवती नायिकाओं के जीवन-वृत्तान्त को अधिक महत्त्व देती थीं। जायसी ने पद्मावत में ऐसे अनेक सुविख्यात आख्यानों का उल्लेख किया है। अन्य सूफी कवियों की रचनाओं में भी उनका प्रसंग मिलता है। सूफी कवियों ने इन लोक-प्रचलित कथाओं में रहस्यात्मकता का समावेश करके उनको एक नवीन अर्थ तथा उद्देश्य से समन्वित कर दिया है, यही उनकी सब से बड़ी देन है। उनके पूर्व, ये कहानियाँ योरप की रोमांस कहानियों के तुल्य थीं, जिनका एकमात्र अभिप्राय जनता का मनोरंजन था। सूफी कवियों के काव्य केवल मनोरंजन के अभिप्राय से नहीं लिखे गए हैं अपितु उनमें गम्भीर आध्यात्मिक प्रयोजन निहित है।

सूफी परम्परा का पहला उल्लेखनीय कवि **कुतबन** था। वह १६वीं शती के आरम्भ में हुआ। कुतबन जौनपुर-नरेश शेरशाह के पिता अमन शाह का आश्रित

था। उसके मृगावती नामक काव्य में चन्द्रनगर के राजकुमार और कंचनपुर की राजकुमारी मृगावती के प्रेम की कथा है। इस प्रेम-काव्य में मृगावती की खोज में भटकनेवाले राजकुमार के साहसपूर्ण प्रयत्नों तथा अन्तिम भाग में उसकी दोनों रानियों रुक्मिणी और **मृगावती** के उत्कट प्रेम की चर्चा है, जो रहस्यवादी संकेतों से परिपूर्ण है। **मधुमालती** के रचयिता **मंझन** के बारे में बहुत कम बातें ज्ञात हैं। मधुमालती रहस्यवादी संकेतों से भरा प्रेम-काव्य है जिसका कथानक भी काफी जटिल है। साहित्यिकता, कल्पना की सरसता, गीतों का माधुर्य, और प्राकृतिक सौन्दर्य का उत्कृष्ट वर्णन मधुमालती की विशेषताएँ हैं।

मलिकमुहम्मद जायसी इस संप्रदाय के प्रतिनिधि और सर्वप्रधान कवि थे। उनके जन्म और मृत्यु की तिथियों का निर्णय अभी तक नहीं हो सका है; लेकिन सम्भवतः उनका जन्म १४९२ और मृत्यु १५४२ ई० में शेरशाह के शासन-काल में हुई। उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश काल जायस में बिताया, लेकिन कभी-कभी कुछ काल तक सूफी सन्तों की भांति पर्यटन करते रहे। अपने जीवन के अन्तिम काल में जायसी अमेठी में रहे। अमेठी-नरेश राजा रामसिंह उनके परमभक्त थे। अमेठी नगर के निकट ही उनकी समाधि है। अपने जीवन-काल में ही जायसी को अपनी अनन्य भक्ति और अपरिमित दयालुता के कारण पर्याप्त यश प्राप्त हुआ। जायसी देखने में भद्दे और कुरूप थे किन्तु भावों की सुकुमारता और कमनीयता के कारण उनका काव्य अमर हो गया है।

मलिक मुहम्मद जायसी निजामुद्दीन औलिया की परंपरा में शेख मुहीउद्दीन के शिष्य सूफी सन्त थे। उन्होंने जायस निवासी शेख़ अशरफ़ का भी उल्लेख अपने गुरु के रूप में किया है। जायसी ने परम्परागत विशुद्ध सूफ़ी मत अंगीकार नहीं किया था। उनके विश्वासों पर गोरखपंथ और कबीरपंथ की छाप दिखाई देती है और उनकी रचनाओं में हठयोग के रहस्यों की चर्चा अनेक स्थलों पर मिलती है। उन्होंने बार-बार निर्गुण सिद्धान्तों का उल्लेख किया है।

जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, आध्यात्मिक प्रेम सम्बन्धी इन उपाख्यानों के रचयिता लगभग सभी मुसलमान थे जो एक ओर तो सूफी विचारधारा से प्रभावित थे और दूसरी ओर वेदान्त दर्शन से। ये प्रेममार्गी रहस्यवादी कई बातों में निर्गुणवादियों से भिन्न थे। उदाहरणार्थ तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों के प्रति उनका दृष्टिकोण वैसा आलोचनात्मक नहीं था जैसा कबीर का। निराकार के प्रति इस कवि सम्प्रदाय के लोग अपने आपको प्रेमी मान कर प्रेमिका के प्रति अपनी भक्ति और भावों की अभिव्यक्ति करते हैं, जब कि कई निर्गुण कवियों ने उपासना करनेवालों को प्रेमिका या निराकार की अर्धाङ्गिनी के रूप में माना है। किन्तु इस अंतर के होते हुए भी इस विचारधारा पर कबीर आदि की जो गहरी

छाप पड़ी उसे भुलाया नहीं जा सकता। दोनों ही शाखाओं के कवियों का लक्ष्य था परमात्मा से आत्मा का तादात्म्य स्थापित करना, उच्च और नीच, हिंदू और मुसलमान आदि के बीच उपस्थित कृत्रिम भेदों को दूर करने के लिए दोनों ही प्रकार के संतों ने समान प्रयत्न किया।

जायसी की प्रसिद्धि मुख्यतः पद्मावत के ही कारण है, लेकिन उनके दो अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। "अखरावट" में जिसकी एक प्रति कुछ काल पूर्व मिर्जापुर में पाई गई थी, अक्षर क्रम से आध्यात्मिक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। फारसी लिपि में लिखे "आखिरी कलाम" में मानव के जीवन काल से मृत्यु पर्यन्त, कयामत तक आत्मा की विविध दशाओं का दिग्दर्शन कराया गया है।

पद्मावत पद्यबद्ध लम्बा आख्यान है। रत्नसेन और पद्मावती की कथा स्पष्टतः दो भागों में विभक्त है। पहले भाग में, जो प्रधानतः कवि की कल्पना पर आधारित है, रत्नसेन के पद्मावती से विवाह के पश्चात् सिंहलद्वीप से चित्तौड़ लौटने का वर्णन है। पद्मावती के अनन्य सौन्दर्य के बारे में रत्नसेन को सर्वप्रथम पद्मावती के पालतू तोते हीरामन के द्वारा मालूम हुआ, जो जगह-जगह भटकने के पश्चात् रत्नसेन के पास आ पहुँचा था। रत्नसेन की पहली रानी नागमती को अपने सौन्दर्य का बड़ा गर्व था, जब उसने हीरामन से सुना कि उसका सौन्दर्य सिंहलद्वीप के राजा गन्धर्वसेन की कन्या पद्मावती के सौन्दर्य की तुलना में आधा भी नहीं है, तब वह क्रुद्ध हो गई और उसने तोते को मरवा डालना चाहा लेकिन वह रत्नसेन से पद्मावती के सौन्दर्य का सजीव वर्णन सुनाने के लिए बच निकला। रत्नसेन कई अनुयायियों को लेकर तोते के साथ राजकुमारी की खोज में निकला। विभिन्न कठिनाइयों का सामना करने के पश्चात् वे लोग सिंहलद्वीप पहुँचे, जहाँ गन्धर्वसेन राज्य करता था। हीरामन ने अपना कर्तव्य किया। वह पद्मावती और रत्नसेन के प्रणयसन्देश का वाहक बना। दोनों ने मिलन का आयोजन किया, लेकिन प्रथम-दर्शन में ही रत्नसेन उसका दिव्य सौन्दर्य देखकर मूर्च्छित हो गया। अब केवल एक ही मार्ग रह गया कि उसके अनुयायी गन्धर्वसेन के महल में प्रवेश कर उसकी रक्षा करें। गन्धर्वसेन की सेना और योगियों के वस्त्र धारण किये हुए रत्नसेन के साथियों में जो संघर्ष हुआ, उसमें शिव, हनुमान, तथा अन्य देवताओं ने रत्नसेन का साथ दिया और अन्त में शिव के हस्तक्षेप करने पर पद्मावती का विवाह रत्नसेन से करने के लिए गन्धर्वसेन तैयार हो गया।

गन्धर्वसेन ने विवाह के अवसर पर रत्नसेन को अमूल्य उपहार दिये। सिंहल-द्वीप में कुछ और समय व्यतीत करने के पश्चात् रत्नसेन ने अपनी पहली पत्नी नागमती की विरहवेदना का समाचार सुना और उसे अपने राज्य की स्थिति के सम्बन्ध में भी चिन्ता होने लगी। कष्ट और कठिनाइयाँ पार कर रत्नसेन और

पद्मावती अपने साथियों के साथ दहेज़ में मिले उपहार को लेकर चित्तौड़ लौटे।

ग्रन्थ के दूसरे भाग में जायसी ने रत्नसेन और अलाउद्दीन ख़िलज़ी के बीच चलने वाले लम्बे संघर्ष का वर्णन किया है। राघवचेतन नामक एक धूर्त ब्राह्मण ने अलाउद्दीन को पद्मावती के सौन्दर्य का मनोमुग्धकारी वृत्तान्त सुनाया। इसे सुनकर अलाउद्दीन उसे अपने वश में करने के लिए आतुर हो उठा। उसने चित्तौड़ पर चढ़ाई की और उसे घेर लिया। चित्तौड़वासी वर्षों तक उसका सामना करते रहे। रत्नसेन को सन्धि का प्रस्ताव भेजा गया और अतिथि के रूप में अलाउद्दीन को नगर में प्रवेश करने दिया गया। उसने दर्पण में पद्मावती का प्रतिबिम्ब देखा और देखते ही मूर्च्छित हो गया। होश में आने के बाद वह नगर के बाहर आया और बाहर पहुँचाने आए रत्नसेन को धोखे से कैद कर साथ ले गया। इसके बाद अलाउद्दीन ने पद्मावती को प्रणय सन्देश भेजा, जिसका उसने क्रुद्ध होकर तिरस्कार पूर्ण उत्तर भेजा। गोरा और बादल रत्नसेन के दो वीर साथी थे। इन नवयुवकों ने अपनी चालाकी और साहस द्वारा रत्नसेन को मुक्त किया। चित्तौड़ लौटने पर यह जानकर कि उसकी अनुपस्थिति में कुम्भलनेर के राजा देवपाल ने पद्मावती के पास प्रेम के प्रस्ताव भेजे थे, उसने अत्यन्त क्रुद्ध होकर कुम्भलनेर पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में रत्नसेन और देवपाल दोनों ही वीर-गति को प्राप्त हुए। रत्नसेन का शव चित्तौड़ लाया गया और उसकी दोनों रानियाँ सती हो गईं। इसी समय अलाउद्दीन ने पुनः चित्तौड़ पर आक्रमण किया। जब विजय के उपरान्त उसकी सेनाएँ चित्तौड़ में प्रविष्ट हुईं, तब उसे अपने सतीत्व की रक्षा में मर मिटने वाली राजपूत रमणियों की चिताओं की भस्म के अतिरिक्त और कुछ न प्राप्त हुआ।

जैसा पद्मावत के अन्तिम भाग में जायसी ने स्वयं लिखा है, इस प्रेमाख्यान के विभिन्न चरित्रों का सांकेतिक महत्त्व है। पद्मिनी संसारव्यापी दैवी सौन्दर्य की प्रतीक है और प्रकृति का सारा माधुर्य उसी का आंशिक प्रतिबिम्ब मात्र है। रत्नसेन मनुष्य की आत्मा का प्रतीक है। सिंहलद्वीप तक की कठिन यात्रा, जहाँ उसे पद्मावती की प्राप्ति होती है, ईश्वर की प्राप्ति के लिए मानवीय जिज्ञासा और प्रयत्नों का प्रतीक है। रत्नसेन का मार्ग प्रदर्शन कराने वाला हीरामन गुरु है, जिसके बिना आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति असम्भव है। अलाउद्दीन माया और राघवचेतन शैतान है। चित्तौड़ मानवीय शरीर और नागमती पार्थिव आकर्षण है। इनकी तथा अन्य वर्णनों की सहायता से जायसी ने उक्त कथा में निहित गूढ़ार्थ का महत्त्व दरसाया है; जो ज्ञानवर्धक होने के साथ ही साथ अत्यन्त मनोरंजक भी है।

पद्मावत का प्रतीकवाद कोई अप्रत्याशित वस्तु नहीं है। जायसी रहस्यवादी थे और रहस्यवादी कविता प्रतीकों पर ही आधारित होती है। जायसी ने अपने

अटूट आध्यात्मिक विश्वासों को व्यक्त करना चाहा और उसके लिए कोरे शब्द पर्याप्त न थे। अलंकारों और प्रतीकों का प्रयोग उसकी भाषा का भूषण होने के साथ ही साथ उसके कथानक के लिए अनिवार्य था।

रहस्यवादी कवियों में जायसी का स्थान बहुत ऊँचा है। उसकी कविता निराकार के प्रति उत्कट प्रेम भावना और सच्ची उपासना से ओतप्रोत है। व्यक्ति और उपास्य की एकता हमें पुराने हिन्दू एकेश्वरवादी दर्शन की याद दिलाती है तथा सर्वव्यापी दैवी तत्त्व की प्राप्ति और प्रकृति की सभी मनोमुग्धकारी चीजों में उसका स्वरूप दर्शन उस सर्वेश्वरवाद की ओर संकेत करता है जिससे १९ वीं शती के कई पाश्चात्य कवियों ने भी प्रेरणा प्राप्त की। जायसी ने नागपंथियों और निर्गुणवादियों की विशेष शब्दावली और मुहाविरों का प्रयोग किया है जिससे प्रतीत होता है कि वह अपने अध्यात्मवाद के लिए अपने उन अग्रणियों के आभारी थे। लेकिन जायसी प्रधानतः सूफी रहस्यवादी थे और उनका दृष्टिकोण सूफ़ी सम्प्रदाय का ही प्रतिनिधित्व करता है। भारत और विदेश सभी स्थानों के सूफ़ियों ने व्यक्ति और समष्टि, आत्मा और परमात्मा की आधारभूत एकता की अनुभूति, बुद्धि का सहारा छोड़ भावना द्वारा करनी चाही। उनका मार्ग ज्ञान का नहीं प्रेम का था और उत्कट प्रेम द्वारा निराकार में लीन होकर वे अपना अस्तित्व समाप्त कर देना चाहते थे। इस उत्कट भावुकता और स्वयं को उपास्य में लीन करने की भावना के कारण सूफी दर्शन और उपासना-पद्धति के प्रति लोग बड़ी संख्या में आर्कषित हुए। सूफी प्रेममार्ग की तुलना मध्ययुगीन ईसाई रहस्यवादी सन्तों से की जा सकती है जिन्होंने परोक्ष सत्ता से अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित किया था। जायसी के काव्य में सूफ़ी विचार-धारा की सभी विशेषताएँ हैं। उसमें प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से प्रभावशाली प्रेमभावना की अभिव्यक्ति की गई है जिसका निहित अर्थ सदैव अपार्थिव होता है।

मानवीय प्रेम तो विश्व के सभी पार्थिव पदार्थों में निहित उस आकर्षण के वर्णन करने का साधन मात्र है, जो उन्हें निरंतर परब्रह्म की ओर सतत आकृष्ट करता है। जायसी के पद्मावत का विषय प्रेम होने के कारण उनका यह आख्यान सौन्दर्य और मधुरिमा से परिपूर्ण है। दुःखान्त अनुभूतियों की भी उसमें कमी नहीं है। सूफ़ियों की परम्परागत रूढ़ियों और विश्वासों को भी इस आख्यान में स्थान मिला है।

जायसी का पद्मावत मसनवियों की शैली में रचित एक लम्बी प्रेमकहानी है। कहानी की धारा सरल और स्वाभाविक घटनाओं की शृंखला के सहारे बढ़ती है। प्रत्येक घटना मनोरंजक तो है ही, काव्य की सम्पूर्ण कथा में भी उसका स्थान है, पृथक् घटनाओं को कहीं भी आवश्यकता से अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है

जायसी अपने मुख्य कथानक से नहीं हटते। कथाविस्तार के कारण कहीं भी वह अपने मुख्य मार्ग से विचलित नहीं होते। उनके वर्णन विशद और चित्रात्मक प्रतीत होते हैं, तथापि यह कहना किसी प्रकार भी अत्युक्ति नहीं है कि उनके कारण काव्य के सौन्दर्य में पर्याप्त अभिवृद्धि हो गई है। उदाहरणार्थ ऋतु परिवर्तन के साथ विरहिणी नागमती की मानसिक अवस्थाओं में परिवर्तन का सुन्दर चित्रण हुआ है। उसी भाँति सिंहलद्वीप की यात्रा का वर्णन भी अत्यन्त विशद और रोचक है। काव्य में दो स्थलों पर पद्मावती का रूपवर्णन स्मरणीय है।

अन्य सूफ़ी कवियों में सर्वप्रथम गाजीपुर निवासी उसमान का उल्लेख आवश्यक है। इनका चित्रावली नामक काव्य सन् १६१३ में लिखा गया था। यह काव्य जायसी के पद्मावत का अनुसरण करके लिखा गया है। कथानक पूर्ण रूप से कल्पना-प्रसूत है। और उसमें उचित घटनाओं की श्रृंखला तैयार की गई है।

जौनपुर निवासी शेख नबी का रचनाकाल संवत् १६७६ के लगभग माना जाता है। इनके ग्रन्थ ज्ञानदीप में राजा ज्ञानदीप और रानी देवजानी की कथा है।

कवि नूरमुहम्मद ने सन् १७४४ में इन्द्रावती की रचना की। उन्होंने अनुराग-बाँसुरी की भी रचना की जिसकी पदावली संस्कृत-मिश्रित है, और जिसमें आध्यात्मिकता का विशेष गाम्भीर्य है। इनके अतिरिक्त अन्य सूफ़ी कवियों की कृतियाँ उपलब्ध हैं। उनकी परम्परा वर्तमान शताब्दी तक अविच्छिन्न चली आई है और अभी हाल के वर्षों में भी कुछ सूफ़ी काव्य लिखे गए हैं।

षष्ठम प्रकरण

रामभक्ति शाखा का काव्य : तुलसीदास तथा अन्य

इसका उल्लेख पहले ही हो चुका है कि रामानुज के भक्तिमार्ग का आगमन उत्तर भारत में कैसे हुआ तथा राम नाम के महत्त्व पर अधिक बल देते हुए रामानन्द ने किस तरह अपने उपदेशों का प्रचार एवं प्रतिपादन किया। इन सिद्धान्तों में लोक-प्रिय मर्मस्पर्शिता तथा वशीभूत करने वाले शक्तिशाली प्रभाव होने के कारण सम्पूर्ण उत्तर भारत राम का उपासक बन गया। परिणाम स्वरूप इनका प्रभाव उस काल के साहित्य पर भी पड़ा। इसका विशेष कारण यह था कि रामानन्द ने विद्वानों द्वारा प्रयुक्त संस्कृत भाषा को अपने काव्य का माध्यम बनाना अस्वीकार किया, तथा शास्त्रार्थ और धार्मिक उपदेशों के लिए उत्तर भारत की जनभाषा हिन्दी अंगीकार की। स्वयं रामानन्द ने भक्ति-विषयक कुछ गीत और पद हिन्दी में लिखे तथा उनके पश्चात् बहुतेरे लोगों ने प्रार्थना-गीतों और स्तुतिगान के उद्देश्य से छोटे-छोटे पद और गीतों की रचना की जिनमें राम के जीवन की घटनाएँ तथा उनका अद्‌भुत चरित्र वर्णित है। राम का गुणगान करने वाले ये ही कवि हिन्दी काव्य की रामभक्ति शाखा का निर्माण करते हैं। इस परम्परा के प्रमुख एवं प्रतिनिधि कवि तुलसीदास हैं। परन्तु उनके अतिरिक्त कितने ही अन्य कवि भी हुए हैं, जो अपनी सरस-भक्ति-पूर्ण वाणी तथा मधुर काव्य-रचना के कारण हमारी श्रद्धा और आदर के पात्र हैं।

रामभक्ति शाखा के सर्वोच्च कवि तुलसीदास थे। उनकी रचनाओं के प्रभाव स्वरूप सारे उत्तर भारत में राम की उपासना ने लोकप्रियता प्राप्त कर ली। सम्भवतः हमें अन्यत्र कोई ऐसा दूसरा उदाहरण नहीं मिलता, जिसमें तुलसीदास के सदृश ही किसी कवि की रचनाएँ इतनी शीघ्रता से एक विस्तृत क्षेत्र में कोटि-कोटि जनों के बीच स्थायी लोकप्रियता प्राप्त कर सकी हों। कहा जाता है कि प्रत्येक सुशिक्षित अंग्रेज परिवार में बाइबिल तथा शेक्सपीयर की रचनाओं का होना अनिवार्य सा है। हिंदुओं के लिए तुलसीदास का रामचरित मानस, बाइबिल तथा शेक्सपीयर की कृतियों का सम्मिलित महत्त्व रखता है। तुलसीदास महाकवि होने

के अतिरिक्त महात्मा भी थे, अतः उनकी वाणी में दुहरी शक्ति सन्निहित है, और उनकी कृतियाँ मनोमुग्धकारी होने के साथ-ही-साथ परमपुनीत भी हैं। तुलसीदास की असीम लोकप्रियता का रहस्य इसी बात में छिपा हुआ है।

अनेक विद्वानों द्वारा अनुसंधान होने पर भी कवि के जन्म और मृत्यु की तिथियों एवं जन्मस्थान के सम्बन्ध में कोई निश्चयात्मक निर्णय अभी तक नहीं हो पाया है। सम्भावना यह है कि वे सं० १६०० वि० (१५४३ ई०) में पैदा हुए थे, तथा सफल और दीर्घ जीवन के उपरांत सं० १६८० वि० (१६२३ ई०) में स्वर्गवासी हुए। उनके जन्मस्थान के सम्बन्ध में और भी अधिक मतभेद है। बहुत दिनों तक यह माना जाता रहा है कि उनका जन्म बाँदा जिले के राजापुर ग्राम में हुआ था, और उनके पिता का नाम आत्माराम दूबे था। लाला सीताराम और पं० रामनरेश त्रिपाठी आदि ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि तुलसीदास का जन्मस्थान शूकरक्षेत्र अर्थात् एटा जिले का "सोरों" नामक गाँव था। इस धारणा की पुष्टि करनेवाले अनेक प्रमाण उपलब्ध हुए थे जो अब संदिग्ध माने जाते हैं। पंडित रामचंद्र शुक्ल ने इस बात का संकेत किया है कि यह शूकरक्षेत्र सोरों नहीं वरन् गोंडा जिलान्तर्गत शूकरक्षेत्र नामक तीर्थ है। इधर हाल ही में पंडित चन्द्रबली पाण्डेय ने बड़ी खोज के साथ शुक्ल जी के इस मत के समर्थन में बहुत-से प्रमाण एकत्र किए हैं। इस छान-बीन से अभी तक कोई अंतिम निष्कर्ष तो निकल नहीं पाया है, केवल परम्परागत विश्वास को धक्का लगा है, और अब यह संदिग्ध हो गया है कि तुलसीदास का जन्म सचमुच राजापुर में हुआ था। कथा चली आई है कि अपरिमित मोह होने के कारण अपनी पत्नी रत्नावली द्वारा बुरी तरह तिरस्कृत होकर ये सांसारिक सुखों से विमुख हो गए, तथा राम के श्री चरणों की उपासना के निमित्त इन्होंने अपना जीवन अर्पित कर दिया। बाल्यावस्था में ही वे अपने गुरु बाबा नरहरिदास के साथ काशी आए थे तथा पंचगंगा घाट के समीप लगभग १५ वर्ष तक रहे। जीवन के इन वर्षों में उन्होंने प्रसिद्ध विद्वान् शेष सनातन से भिन्न-भिन्न धर्मशास्त्र और दर्शनों का अध्ययन किया। इस अवधि के अनन्तर अपने गाँव में पहुँचने पर जब इन्होंने अपने परिजनों और घर को नष्ट-भ्रष्ट पाया तो बड़े निराश हुए। इस समय उनका विवाह हो चुका था और जैसा कि निर्देश किया जा चुका है, यह वही पत्नी थी जिससे बाद में अपने उपास्य देव के प्रति श्रद्धा जगाने के लिए इन्हें उत्तेजना मिली। अपने आराध्यदेव में लीन होकर एकात्म भाव से उनकी उपासना इन्होंने आरम्भ की। मोह-निद्रा से जगने के पश्चात् तुलसीदास काशी चले आए। कुछ समय इन्होंने अयोध्या में बिताया और अन्य धार्मिक तीर्थस्थानों में भ्रमण किया। उन्होंने अयोध्या में सन् १५७४ में 'रामचरितमानस' का श्रीगणेश किया। उनका यह महाकाव्य २ वर्ष ७ मास में पूर्ण हुआ। इस काव्य के अधिकांश भाग की रचना

काशी में हुई, जहाँ कवि ने अपने जीवन का अधिकांश भाग बिताया था। सन् १६२३ में गंगा और असी नदियों के संगम पर काशी में उनका देहावसान हुआ।

कवि के लिखे हुए प्रमाणित बारह काव्य-ग्रन्थ ही प्राप्त हो सके हैं। उनके नाम ये हैं :—दोहावली, कवितावली, विनय-पत्रिका, रामलला नहछू, पार्वती मंगल, जानकी मंगल, गीतावली, रामचरितमानस, रामाज्ञाप्रश्नावली, बरवै रामायण, वैराग्यसंदीपिनी, और कृष्ण गीतावली। प्रत्येक काव्य के निर्माण से सम्बन्धित अवसरों तथा प्रेरित करने वाली परिस्थितियों के बारे में कोई-न-कोई कथा प्रचलित है, किंतु उन सब का उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती है। केवल तुलसीदास के परिमार्जित तथा आनन्दरस से परिपूर्ण पदों के संग्रह 'विनय-पत्रिका' नामक रचना से सम्बन्धित परम्परा का उल्लेख उदाहरणार्थ हम यहाँ पर प्रस्तुत कर सकते हैं, जो किसी-न-किसी रूप में आज भी प्रचलित है। लोगों का विचार है कि कलियुग के अपार कष्टों से त्राण पाने के लिए सहायता और उद्धार के निमित्त राम को लिखे पत्रों के रूप में विनय-पत्रिका की रचना हुई है। तुलसीदास अपने समान ही जन-जन को रामभक्त बना देने के लिए प्रयत्नशील थे।

तुलसीदास ने काव्य-रचना की भिन्न-भिन्न प्रणालियों और पद्धतियों को अपनाया और सभी को परिष्कृत और सुन्दर बना दिया। काव्य के जिस रूप को उन्होंने ग्रहण किया, अथवा जिस शैली में लिखा, उसमें जीवन डाल दिया। जैसा कि हम लिख चुके हैं कि सूफ़ी कवियों ने अपने वर्णनात्मक काव्यों में अवधी भाषा का प्रयोग किया था, तुलसीदास ने भी अपने रामचरितमानस तथा अन्य रचनाओं के लिए उसी जन भाषा को पअपनाया, रन्तु यह स्पष्ट है कि जायसी तथा उनकी परम्परा के अन्य कवियों द्वारा प्रयुक्त बोल चाल की भाषा तुलसीदास की लेखनी से प्रसूत होकर भव्य, उज्ज्वल, और सुसंस्कृत रूप पा गई है। तुलसीदास में मधुर-कोमल शब्दों के चयन की सुरुचि बड़ी ही सूक्ष्म थी। संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग द्वारा उन्होंने अपनी भाषा को साधारण स्तर से ऊँचा उठा दिया। उसी प्रकार ब्रजभाषा का भी विशेष परिष्कृत रूप गीतावली में प्रस्फुटित हुआ है। उसमें ब्रज-प्रदेश की बोल-चाल की भाषा का मधुर संगीत तथा विशुद्ध संस्कृत काव्य के परिमार्जित शब्दों का समान रूप से मिश्रण हुआ है। इस कारण यह सूरदास की काव्य-भाषा की अपेक्षा अधिक सुसंस्कृत तथा कम दुरूह है। ग्रीव्स ने ठीक ही लिखा है:—"मूर्तिकार के कुशल करों से मिट्टी जैसा जीवन और निर्माण पाती है, ठीक वैसा ही जीवन हिन्दी भाषा ने तुलसीदास की लेखनी से पाया है। भाषा कवि की लेखनी के आश्रित रही तथा उसके निर्देशानुसार इसका स्वरूप निर्मित हुआ। स्वामी की आज्ञा को शिरोधार्य कर चलने वाले दास की तरह व्याकरण

४

के नियमों, वाक्य रचना तथा शब्द-योजनाओं ने उनकी आज्ञाओं का पालन किया। वे शब्दों को घटा-बढ़ाकर स्वाभाविकता से उनका प्रयोग करते हैं; वे उन्हें तोड़ते-मरोड़ते भी हैं और शब्द इनकी इच्छानुसार जहाँ जैसी आवश्यकता पड़ती है, अपना सरल स्वाभाविक रूप ग्रहण कर लेते हैं, किन्तु सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि शब्दों का गुण, धर्म, और गौरव जरा भी नष्ट नहीं होने पाता।

उनका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है और उसमें नाना काव्य रूपों का समावेश हुआ है। उन्होंने बहुसंख्यक प्रगेय मुक्तकों का सृजन किया जिनमें हृदय की वास्तविक अनुभूति और भावनाओं के उद्गार सुन्दर रीति से व्यक्त हुए हैं। कवित्त, सवैया, दोहा, और चौपाई में उन्होंने अपनी रचनाएँ की हैं तथा छप्पय और बरवै छन्दों के प्रयोग में भी अपना कौशल उन्होंने दिखलाया है। रामभक्ति के प्रतिपादन करने तथा मृदुलतम विचारों और भावनाओं की अभिव्यञ्जना के लिए उन्होंने भिन्न-भिन्न छंदों का प्रयोग किया तथा रचना के जिस रूप अथवा शैली को अपनाया, उस पद्धति और प्रणाली में उन्होंने अपने पूर्वकालीन और समकालीन कवियों द्वारा किये गए प्रयोगों की तुलना में अधिक और अच्छी सफलता प्राप्त की है। तुलसी पूर्ण कलाकार थे। न केवल काव्य प्रतिभा का उन्हें ईश्वरीय वरदान प्राप्त हुआ था अपितु उनकी विवेचना बुद्धि भी अत्यन्त सूक्ष्म-दर्शिनी थी। उनमें अनावश्यक विषयवृद्धि तथा कथावर्णनविस्तार आदि से बचने की अद्भुत क्षमता थी। उनके चित्र कहीं भी अस्पष्ट नहीं हैं तथा उनका अलंकारों का प्रयोग इतना समीचीन है कि लम्बे-लम्बे रूपकों को ग्रहण करने में भी प्रयास नहीं करना पड़ता। विचार, भावना, चरित्रांकन, अथवा परिस्थिति—पविर्तन के अनुरूप उनकी काव्य-शैली भी निरंतर बदलती रहती है। अर्थ और संगीत में सदैव सामञ्जस्य रहता है, और उनकी कविता न तो कबीर की कतिपय रचनाओं के समान शुष्क होती है और न कभी अतिशय शृंगारिकता के कारण उसमें भद्दापन आने पाता है। यह आश्चर्य की बात है कि प्रचुर काव्य निर्माण करने पर भी उनकी रचनाओं का स्तर कहीं नीचे नहीं गिरता, कवि-कर्म में उनकी सफलता का यह सबसे बड़ा प्रमाण है। उनकी कोई भी ऐसी रचना नहीं मिलती जिसमें काव्य-प्रतिभा अपने उच्चासन से अपदस्थ होती दिखाई देती हो।

तुलसीदास का अधिक महत्त्व उनके काव्यक्षेत्र के विस्तार और वैविध्य के कारण है। वे जीवन के किसी अंश विशेष का चित्र नहीं प्रस्तुत करते और न उसका कोई लघु या सीमित स्वरूप ही, अपितु जीवन का सम्पूर्ण स्वरूप और सारा चित्र ही प्रायः हमारे सन्मुख रख देते हैं। उनके महाकाव्य में वर्णित पात्र समाज की भिन्न-भिन्न जातियों एवं वर्गों से लिए गए हैं। राजकुल से लेकर जन-साधारण तक सभी वर्ग के लोगों की ओर तुलसीदास का ध्यान गया है। सभी पात्र

अपनी-अपनी भावनाओं, मनोवृत्तियों, एवं व्यवहारों से युक्त चित्रित हुए हैं। उसी प्रकार वातावरण और परिस्थितियों के निरूपण में भी कवि की प्रतिभा का सर्वतोमुखी रूप परिलक्षित हुआ है। अयोध्या की राज्य-परिषद, सघनवन के मध्य साधारण कुटी, जिसमें निर्वासितत्रय ने निवास किया, चित्रकूट का शांत वातावरण तथा रणक्षेत्र की भयंकर हलचल और विभीषिका सम्बन्धी दृश्यों को उचित और कलात्मक ढंग से चित्रित किया गया है। भिन्न-भिन्न स्थलों पर तुलसी के काव्य में साहित्य के नव रसों का उचित और पूर्ण परिपाक मिलता है। मानवीय अनुभूतियों की कमनीयता और कोमलता से उनका सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिचय था, फलतः सौंदर्ययुक्त और मर्मस्पर्शी करुण कोमलभावों और स्थलों की मौलिक और स्वाभाविक सृष्टि करने में वे समर्थ हुए हैं।

मानव-जीवन की भाँति ही प्रकृति-चित्रण का भी तुलसी के काव्य में विशेष महत्व है। अपनी पत्नी और भ्राता के साथ १४ वर्षों तक भ्रमण करते हुए राम ने प्रकृति के अन्तरंग साहचर्य का उपभोग किया। इस तरह रामचरितमानस में विकसित होने वाली कथा के लिए प्रकृति पृष्ठभूमि प्रस्तुत करती है। यही कारण है कि हमें वन, पर्वत, नदी, वृक्ष, पुष्प, पशु, और पक्षी आदि के अगणित और विस्तृत वर्णन मिलते हैं। प्रकृति के ये उपादान आनन्द अथवा दुःख की स्वानुभूति के लिए मानवीय चेतना को जाग्रत करते रहते हैं। नित्य मानवीय भावनाओं का आरोप उन पर भी होता रहता है। राम की व्याकुलता तथा सीता की खोज के अवसर पर नव विकसित सुमन तथा वन में बहनेवाली मन्द-मन्थर वायु भी राम के कष्ट की वास्तविकता को अतिशय गम्भीर बना देती है। स्थल-स्थल पर कवि संकेत करता है कि राम के कष्टों में प्रकृति के उपादान भी सहानुभूति प्रगट एवं प्रदर्शित करते हैं। सम्पूर्ण बन-खण्ड ऊजड़ और उदास प्रतीत होता है, मानो उसका सारा सौन्दर्य लुट गया हो। पशु-पक्षी भी अपनी सहानुभूति ही नहीं किन्तु सेवा भी राम को अर्पित करने के लिए तत्पर हैं। वनगमन के समय राम जब अपने पथ पर अग्रसर हो रहे हैं, सूर्य की प्रचण्ड किरणों से रक्षा करने के लिए बादल उन पर तथा उनके अन्य दो सहगामियों पर मण्डप ताने रहते हैं। करुणरस की अत्युक्ति अथवा वस्तोपमा के ये उदाहरण नहीं, प्रत्युत ये हमें तुलसीदास के प्रकृति प्रेम की सूचना देते हैं। अपने चित्रण में उन्होंने प्रकृति को उदात्त वृत्तियों से संयुक्त किया तथा मनुष्य की अनुभूतियों और उसके भविष्य पर प्रभाव डालने की एक अद्भुत क्षमता उसे प्रदान की है। इस प्रकार निष्क्रिय और जड़ प्रकृति मानव-जीवन पर गहरा और अमिट प्रभाव डालनेवाला एक सचेतन स्वरूप धारण कर लेती है।

तुलसीदास ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है कि राम के उज्ज्वल चरित्र,

श्रेष्ठ पराक्रम, तथा उनके गुण-गान से सहज सुलभ आत्मानन्द की प्राप्ति ही उनके महाकाव्य रचने का एकमात्र उद्देश्य था। तब भी सामाजिक उत्थान और सुधार के साधन रूप में उनकी रचनाओं के महत्त्व को भूलना न चाहिए। वास्तव में उनके काव्य का विशेष गुण उनके आध्यात्मिक तथा नैतिक तत्त्वों से विकसित होता है। हम लोगों ने इसका विचार कर लिया है कि आध्यात्मिकता से तुलसी का काव्य किस प्रकार ओत-प्रोत है तथा साथ ही वह भक्ति अथवा उपासना की कैसी सुन्दर सृष्टि है। आध्यात्मिकता नैतिक धरातल पर ही भली भाँति विकसित होती है, अतः वैवाहिक आदर्श का चरम उत्कर्ष पति-पत्नी के बीच केवल वासनाजन्य सम्बन्ध के रूप में मान लेना ठीक नहीं है। वह तो इससे ऊपर उठकर एक अत्यन्त पुनीत सम्बंध है। राम के प्रति लक्ष्मण तथा भरत के प्रेम की व्यञ्जना कर आदर्श भ्रातृ प्रेम की महत्ता विशेष रूप से संस्थापित की गई है। तुलसी के काव्य से चयन किये गये नैतिक नियमों की एक विशद तालिका बन सकती है। सेव्य और सेवक राजा और उसकी प्रजा के बीच पारस्परिक आधार पर प्रेम तथा सौहार्द और मित्रों के प्रति पूर्ण आस्था और भक्ति आदि का समुचित चित्रण हुआ है। किन्तु इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि तुलसीदास ने कहीं भी अपने को कोरे सुधारक अथवा उपदेशक के रूप में मानकर काव्य-रचना की है। यद्यपि तुलसीदास की सम्पूर्ण रचनाओं में नैतिक विचारों का यथेष्ट पुट है, किन्तु उससे काव्य के मानवीय गुण अथवा कलापक्ष पर कहीं भी व्याघात नहीं पड़ता।

विभिन्न धार्मिक सिद्धान्तों, तर्क-वितर्कों और विरोधों से तुलसी का काव्य सर्वथा मुक्त है। अपने काव्य में उन्होंने शिव की उपासना से रामोपासना के भेद को मिटाने का प्रयास किया है। इससे सम्भवतः शैवों और वैष्णवों के आपसी द्वन्द्व और विरोध से उत्तर भारत बहुत कुछ अछूता बच गया। वे प्रधानतः भक्त थे, किंतु भक्तिविरोधी कर्ममार्ग तथा ज्ञानमार्ग के स्वत्त्वों की भी उन्होंने स्वीकृति दी है। वैराग्य तथा गृहस्थ जीवन की खाई को पाटने का उन्होंने सहज और स्वाभाविक प्रयास किया। उनके काव्य में यद्यपि भक्ति विषयक विचारों और भावनाओं का ही प्राधान्य है तथापि सर्वसाधारण के लिए सुसंस्कृत, सभ्य, और गृहस्थ जीवन का आदर्श भी प्रस्तुत किया गया है। इस भाँति तुलसीदास के काव्य में वैराग्य अथवा गृहस्थ-जीवन के परित्याग पर आग्रह नहीं मिलता। इस बात में रामचरितमानस का कवि कबीर से भिन्न है। उसकी वाणी अदृश्य-लोकवर्तिनी अथवा रहस्यमयी कदापि नहीं, अतः सांसारिक सहिष्णुता तथा सहज सुबोध गुण के कारण उनके काव्य का गुण जन-जन के लिए सुगम हो जाता है। उनकी रचनाओं की देशव्यापी प्रशस्ति का यह भी एक कारण है।

तुलसीदास प्रणीत प्रसिद्ध रामचरितमानस विश्व के महान् ग्रन्थों में से है। राम के जीवन और शौर्य की गाथा वाल्मीकि द्वारा पहले गाई जा चुकी थी, तथा वह अध्यात्मरामायण की भी कथावस्तु थी। मुख्य-मुख्य घटनाएँ और विषय कवि को पहिले से ही सुलभ थे। तुलसी ने वस्तु-विन्यास तथा परिस्थितियों के चित्रण में यत्र-तत्र कुछ नगण्य परिवर्तन किये तथा अपने भक्ति संबंधी उद्देश्य के निर्वाह के लिए प्रधान पात्रों को कुछ नवीन रूप दिया। अपने कथाकाव्य की वस्तु योजना उन्होंने इस प्रकार की कि अनेक प्रभावोत्पादक और गम्भीर परिस्थितियों से होकर कथानक अन्त तक सुदृढ़, शृंखलाबद्ध, और सहज-स्वाभाविक ढंग से गतिशील रहता है जिससे आकर्षण बराबर बना रहता है। वास्तविक तथा कलात्मक वर्णनों की अधिकता पाठकों और श्रोताओं की रुचि और आकर्षण को बनाए रखने का दूसरा साधन है। चरित्रों एवं कथा-वस्तु के अनुरूप स्वाभाविक और उचित सम्वाद समान रूप से उसी तरह विशेष उल्लेखनीय हैं; नायक, नायिका, तथा अन्यान्य चरित्रों के विचार से इस वीर काव्य में उपयुक्त और अपेक्षित श्रेष्ठता तथा उच्च शालीनता का निर्वाह हुआ है। अतः हम सब पूर्णतया उनके क्रिया-कलापों में तल्लीन होकर उनके दुख के क्षणों में दुखानुभूति तथा सुख के अवसर पर हर्षातिरेक का अनुभव करते हैं। महाकाव्य की पृष्ठभूमि मौलिक रूप में आकर्षक है। इसकी योजना में प्रकृति की लीलाएँ तथा तत्कालीन जीवन के चित्रों का सरस समावेश हुआ है। रामचरितमानस एक धार्मिक महाकाव्य काव्य है तथा आरम्भ से अंत तक ईश्वरभक्ति और उपासना का वातावरण छाया रहता है। फिर भी न तो भावप्रवणता की इसमें कमी है न प्रभाव की दृष्टि से ही इसमें कोई बाधा या अड़चन आती है।

महाकवि तुलसीदास का व्यक्तित्व इतना भव्य है कि वे रामभक्ति शाखा के अन्य सारे कवियों से ऊपर उठ जाते हैं। अन्य प्रमुख कवियों का हम नामोल्लेख मात्र यहाँ कर सकते हैं।

अग्रदास का सीधा सम्बंध **रामानन्द** की शिष्य परम्परा से था। रामभक्ति संबंधी कई रचनाओं के प्रणेता के रूप में उनकी ख्याति है। उनके शिष्य नाभादास ने भक्तमाल की रचना की, जिसकी लोकप्रियता आज भी बनी हुई है। इसमें दो सौ भक्तों अथवा संतों के जीवन और उनकी आध्यात्मिक साधना का विशद वर्णन है। वे तुलसीदास के समकालीन थे तथा एक दूसरे के प्रशंसक थे।

प्राणचन्द चौहान ने हिंदी तथा संस्कृत में कुछ ग्रन्थ लिखे थे, उनके रामायण महानाटक की रचना सन् १६१० में हुई थी।

हृदय राम पंजाब प्रान्त के निवासी थे । उन्होंने सन् १६२३ में भाषा हनुमन्नाटक की रचना की थी । विशेषत: कवित्त और सवैयों में लिखा हुआ यह ग्रन्थ उच्च कोटि के काव्य-तत्त्वों से परिपूर्ण है । उन्नीसवीं तथा बीसवीं शती के आरम्भ में महंत रामचरनदास, बाबा रघुनाथदास तथा रीवाँ के महाराज रघुराज सिंह ने भी राम से सम्बंधित कविताएँ लिखीं ।

सप्तम प्रकरण

कृष्णभक्ति शाखा का काव्य : सूरदास तथा अन्य

पिछले अध्याय में हमने देखा कि राम और उनके शौर्य सम्बन्धी काव्य के प्रणेता कतिपय कवि रामभक्ति शाखा का प्रवर्तन करते हैं । उनके समकालीन कवियों के एक दूसरे सम्प्रदाय ने भगवान कृष्ण सम्बन्धी विनय और उपासना के गीतों और पदों की रचना की । इसी आधार पर कृष्ण-भक्ति शाखा की परम्परा का निर्माण माना जाता है । कविता के इस व्यापक आन्दोलन ने लोगों का ध्यान आकृष्ट तथा रामभक्ति के समान ही उन्हें प्रभावित किया है ।

यह मानना उचित न होगा कि कृष्णभक्ति काव्य का इस काल में सहसा आविर्भाव हुआ । बहुत पहिले से ही कृष्ण भक्ति तथा लीलागान सम्बन्धी काव्य देश में बंगाल से लेकर काश्मीर तक प्रचलित तथा लोकप्रिय हो चुका था । चैतन्य के माधुर्य भावना से ओत-प्रोत पद और गायन, चण्डीदास और विद्यापति के पद और गीत, जयदेव के गीतगोविन्द, क्षेमेन्द्र के दशावतार चरित, पृथ्वीराज रासो इत्यादि में कृष्ण के चरित्र और ऐश्वर्य को आधार बनाकर मधुर तथा सुन्दर काव्य की रचना हो चुकी थी । इसी पूर्व परम्परा को अब वैष्णव कवियों ने अपनी साधना तथा भक्ति से नवीन शक्ति और महत्त्व से सम्पन्न कर दिया । अतः हम भक्तिकाल के कृष्ण काव्य को यदि एक नवीन उपज न मानकर प्राचीन परम्परा का नवीन रूप मानें तो हमारा दृष्टिकोण अधिक सन्तुलित तथा ठीक होगा ।

जिस तरह रामभक्त कवियों ने रामानन्द और रामानुज से प्रेरणा ली उसी प्रकार कृष्ण के उपासक कवि वल्लभाचार्य के अनुयायी थे । वल्लभाचार्य से ही उन्होंने अपना दार्शनिक सिद्धान्त ग्रहण किया और उन्हीं ने उनके लिए उपासना का स्वरूप और उसकी रीति स्थिर की । शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन के अनुसार संसार के सारे पदार्थ असत्य तथा भ्रामक हैं । इसके विपरीत वल्लभमतावलम्बी इस सिद्धान्त को मानते हैं कि इस सारे विश्व में ब्रह्म का संयोजन है, अतः संसार की कोई भी वस्तु असत्य नहीं है । इस तरह भक्त के भावुक हृदय के लिए इस

चराचर जगत में ब्रह्म की सर्व व्याप्त सत्ता का अनुभव करना संभव हो जाता है और वह अपरिमित प्रेम और श्रद्धा अपने उपास्य को प्रदान कर सकता है। जहाँ तक उपासना की विधि का सम्बन्ध था, वल्लभ ने सारे निषेधों की अवहेलना की तथा अपने अनुयायियों के लिए सांसारिक सुखों के उपभोग की स्वीकृति दे दी। कृष्ण की उपासना के निमित्त सभी प्रकार की सुन्दर, कोमल, और मधुर भावनाएँ अब साधन रूप में भक्त के लिए उपलब्ध थीं, क्योंकि भगवान् कृष्ण स्वयं विरक्त नहीं थे, प्रत्युत वे तो परम सौंदर्य और अपरिमित आनन्द के मूर्त्तिमान प्रतीक हैं। कभी-कभी नैतिकता के कट्टर समर्थकों द्वारा वल्लभमतानुयायियों की यह कह कर आलोचना होती है कि सामाजिक जीवन पर उनका प्रभाव अच्छा नहीं पड़ता। जो कुछ भी हो किन्तु इतना तो अवश्य मानना पड़ेगा कि एक ऐसे काल में जब चारों ओर अन्धकार और निराशा दिखाई पड़ती थी, कृष्ण-भक्त कवियों ने बहुसंख्यक लोगों के लिए जीवन को सुन्दर और सरस बनाने की व्यवस्था प्रस्तुत की। सूखे जीवन को किसी अंश में कृष्णभक्ति काव्य ने रस से सींच कर हराभरा बना दिया।

श्री वल्लभाचार्य का जन्म सन् १४७८ में हुआ था और वे १५३० में परलोकवासी हुए। वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित और कुशल लेखक थे। उन्होंने संस्कृत के कई ग्रन्थ लिखे। भागवत मीमांसा नामक उनका ग्रन्थ प्रसिद्ध है।

श्री विट्ठलनाथ वल्लभाचार्य के पुत्र और उत्तराधिकारी तथा कृष्णोपासक श्रीसंप्रदाय के नेता थे। वे संस्कृत और ब्रजभाषा के कई ग्रन्थों के लेखक थे, किन्तु अष्टछाप के प्रवर्तक के रूप में वे सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। निम्नलिखित भक्तों को अष्टछाप में परिगणित होने का सम्मान प्राप्त हुआ है :—सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, चित्स्वामी, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास, तथा नंददास। ये सभी उच्च श्रेणी के भक्त तथा सुन्दर काव्य के रचयिता थे। काव्य वैशिष्ट्य की दृष्टि से इनमें सूरदास और नन्ददास का विशेष महत्त्व है।

सूरदास—

जहाँ तक साहित्यिक गुण और यश का प्रश्न है, सूरदास अष्टछाप के कवियों में सर्वोपरि हैं। सूर का यश सूर्य के समान ही देश भर में प्रकाशित है। लोकप्रियता की दृष्टि से तुलसी के बाद उनका ही स्थान है। कृष्ण के भक्तों और उपासकों के लिए तो वे अद्वितीय तथा तुलसीदास से भी श्रेष्ठ हैं।

कवि के जीवन के सम्बन्ध में प्रायः सभी बातें संदिग्ध हैं। मथुरा और आगरा को मिलानेवाली सड़क पर गऊ घाट नामक स्थान पर उनके जन्म होने का अनुमान किया जाता है। साथ-ही-साथ यह भी धारणा है कि वे अपने शिष्यों के

साथ विरक्त उपासक का जीवन व्यतीत करते थे, बाद में वे गोवर्धन में जाकर बस गए जहाँ श्रीवल्लभाचार्य उनकी संगीतात्मक तथा काव्यात्मक प्रतिभा से बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उनको नवनिर्मित श्रीनाथ जी के मन्दिर में नित्य कीर्तन करने का कार्यभार सौंप दिया। सूरदास ने वहीं अपना शेष जीवन व्यतीत किया और समीप के पारसौली नामक ग्राम में उनका देहान्त हुआ। सूरदास ने अपने साहित्य लहरी नामक ग्रन्थ में उल्लेख किया है कि पृथ्वीराज रासो के प्रसिद्ध रच-यिता कवि चन्द के वंश से उनका सीधा सम्बंध था। उन्होंने इसका भी उल्लेख किया है कि अपने सात भाइयों में वे सबसे छोटे थे। मुसलमानों से युद्ध करने में उनके छः भाइयों का नाश हो गया, किंतु सबसे छोटा अपने दुर्भाग्य के कारण ही जीवित रह सका था, क्योंकि वह जन्मान्ध पैदा हुआ था। अपने भाइयों की मृत्यु के पश्चात् सूरदास इधर उधर भटक रहे थे और एक दिन किसी कुएँ में गिर पड़े, जिसमें से भगवान् कृष्ण ने उन्हें अनुग्रह पूर्वक बाहर निकाला। क्षण भर के लिए सूरदास को नेत्रलाभ हुआ और भगवान् का दुर्लभ दर्शन मिला। इस अपूर्व अनुभव के बाद उन्होंने और कुछ देखना पसंद नहीं किया और ईश्वर से प्रार्थना की कि वे फिर नेत्र-विहीन हो जाएँ। उनकी प्रार्थना स्वीकृत हुई और उन्मत्त बनाने वाली उस अनुपम दर्शन की स्मृति से प्रभावित हो मधुर पदों की रचना कर और उन्हें गा-गाकर उस स्वर्गीय आनन्द के रहस्य का किंचित् आभास नेत्र सुलभ व्यक्तियों को कराते हुए सूर ने अपने जीवन के शेष दिन बिताए।

यह प्रश्न अभी तक विवाद-ग्रस्त है कि सूर जन्मान्ध थे अथवा जन्म के कुछ दिन बाद संसार को देखने के उपरान्त उनके नेत्रों की ज्योति लुप्त हो गई थी। साहित्यलहरी में उन्होंने अपने को जन्मान्ध लिखा है, किंतु उस पुस्तक के सभी कथन सत्य नहीं प्रतीत होते। अन्य स्थलों पर भी उन्होंने अपने को दैन्यभाव से जन्म का अंधा और अभागा बतलाया है। यह कहना कठिन है कि ऐसे उद्गारों में सच्चाई का अंश कितना है। सूर के वर्णनों को ध्यान में रखते हुए यह मानना कठिन हो जाता है कि संसार के विविध रूपों और व्यापारों को उन्होंने अपनी आँखों से नहीं देखा। उनके काव्य में विभिन्न रंगों का ठीक-ठीक वर्णन मिलता है और उसी प्रकार वात्सल्य भावना की कल्पनाओं में नव-वयस्कों की चेष्टाओं और क्रिया-कलापों का यथातथ्य वर्णन हुआ है। शृंगार-रस की कविताओं में भी हाव-भाव तथा विविध प्रकार की संचारियों का यथेष्ट प्रयोग मिलता है। इन सब बातों के आधार पर यह मानना अधिक सही मालूम देता है कि सूरदास जन्मान्ध नहीं थे।

कवि के रूप में सूरदास की ख्याति उनकी प्रसिद्ध रचना सूरसागर

पर ही विशेषत: अवलम्बित है जो कि भागवत पुराण में पाये जाने वाले दृश्यों और कथाओं पर आधारित है। किंवदन्ती है कि सूरसागर के मूलग्रन्थ में कम-से-कम एक लाख पद संग्रहीत थे किंतु आज तो उनमें से दस हजार पद भी सुलभ नहीं हैं। सूक्ष्म निरीक्षण से पता चलता है कि अनेक ऐसे पद जो सूरदास द्वारा रचित माने जाते हैं, वास्तव में किसी दूसरे की रचनाएँ हैं। यह बात शैली और पदयोजना के तुलनात्मक अध्ययन से सहज ही सिद्ध हो जाती है। अन्य दो प्रसिद्ध ग्रंथों में एक सूरसागरसारावली है जिसमें उन्हीं विषयों पर जिनका सूरसागर में समावेश हैं स्फुट रचनाएँ असम्बद्ध क्रम में संग्रहीत हैं। साहित्यलहरी एक महत्वपूर्ण कृति है, जिससे कवि की उच्च रचनात्मक प्रतिभा का अच्छा पता लगता है।

सूरदास की रचना में भक्ति-काव्य का उच्चतम आदर्श देखने को मिलता है। भक्ति भावना उनके काव्य में अत्यन्त सघन और तीव्र रूप में प्रगट हुई है। कवि का सर्वत्र एक ही ध्येय रहता है, अपने उपास्य देव के प्रति अपना प्रणय-निवेदन। इस प्रकार सूर का सारा काव्य श्रृंगारमय है, और वात्सल्य भावना उसी का एक परिवर्तित रूपमात्र है। अपने को अनेक अवस्थाओं में रख कर कवि ने कृष्ण की आराधना की। कभी वे माता यशोदा बनकर कृष्ण की बाललीला पर अपने को निछावर करते हैं तो कभी राधा और अन्य गोपिकाओं के रूप में कृष्ण के साथ प्रणय-बंधन में बँधकर तादात्म्य की अनुभूति करते हैं। सब कहीं उनका उत्कट प्रेम तह में छिपा हुआ विद्यमान रहता है। यही कारण है कि क्रियाओं और चेष्टाओं की पुनरावृत्ति होती रहती है। किंतु सरसता कभी भी नष्ट नहीं होती।

सूरदास के काव्य का क्षेत्र सीमित है। जीवन की सम्पूर्ण विविधता तक कवि की दृष्टि नहीं पहुँच पाती। उसका प्रधान उद्देश्य कृष्ण के बाल्यकाल और प्रणय लीला से ही सम्बद्ध है। जीवन संबंधी अनेक विषय, मानवीय क्रियाव्यापार, आकांक्षाएँ, सुख-दुख तथा जीवन के अन्यान्य अनुभव सूरदास के संसार में स्थान नहीं पाते। इस विचार से उनका काव्य तुलसी से भिन्न है। रामचरितमानस का कवि जीवन के वास्तविक प्रश्नों को उठाता है तथा उन आदर्शों और उस मर्यादा को स्थापित करने का प्रयास करता है जिसके द्वारा उनका समाधान होता है। इस कारण तुलसी का काव्य हमारी गम्भीर चिंतन और श्रद्धा का विषय है। तुलसीदास के राम आदर्श वीर हैं, जो विभिन्न परिस्थितियों में श्रेष्ठ जीवन बिताते हैं। सूरदास अपने काव्य में कृष्ण को पहिले बाललीलाओं द्वारा मन को हरनेवाले बालक के रूप में चित्रित करते हैं, बाद में युवक प्रेमी के रूप में जो रमणियों के हृदय को वशीभूत कर लेता है। वे एक ऐसे संसार की सृष्टि करते

हैं जो दैनिक जीवन के द्वन्द्व और दुःख से परे माधुर्य और सौन्दर्य से परिपूर्ण हैं। उनके काव्य के रसास्वादन द्वारा हम इस अनिर्वचनीय सुख और सौन्दर्य के लोक में प्रवेश पाकर जीवन की यथार्थ समस्याओं और कठिनाइयों को भुला देते हैं।

सूरदास के काव्य का क्षेत्र सीमित है, किन्तु वह अपनी सीमा के अन्दर वैविध्य और सौन्दर्य से परिपूर्ण है। आश्चर्य की बात है कि चक्षुविहीन सूरदास बाल्यकाल की मनमोहक चेष्टाओं और व्यापारों से भली भाँति परिचित थे और उनका समुचित निरूपण करने में सफल हुए हैं। कृष्ण का बाल्यकाल और शैशव बड़ी सूक्ष्मता से वर्णित है तथा बाल्यकाल के माधुर्य और विनोद-प्रियता के सजीव चित्रण में प्रत्येक साधन का उपयोग किया गया है। इसी भाँति कृष्ण और गोपियों के संयोग के अनुपम शृंगारिक चित्र सूरसाहित्य में बड़ी संख्या में मिलते हैं। उनकी प्रेमपूर्ण लुका-छिपी, चाँदनी रात में जमुना के तट पर होने वाली उनकी रासलीला और विशेषतः राधा और कृष्ण का एक दूसरे के प्रति उत्पन्न होनेवाले मोह और उन्माद का वर्णन आकर्षक गीतों में हृदय का सम्पूर्ण माधुर्य उँडेल कर किया गया है। परन्तु सूरदास के काव्य का चरम उत्कर्ष उनके विरह-वर्णन में है। जब कृष्ण मथुरा जाकर कुब्जा के प्रेम और प्रणयलीला के आनन्द-सुख में लीन हो जाते हैं तब विरहोत्कंठिता गोपिकाएँ व्यथा से पागल हो सुध-बुध खो बैठती हैं। कृष्ण अपने मित्र उद्धव को भेजते हैं, जो अपने कोरे ज्ञान के उपदेश द्वारा उनको सान्त्वना देते हैं। परन्तु ज्यों ही उद्धव सगुण के विरुद्ध निर्गुण उपासना के महत्त्व की चर्चा छेड़ते हैं, गोपियाँ प्रश्नों की झड़ी, व्यंग और उपहासपूर्ण उक्तियों से उन्हें परेशान कर देती हैं। भ्रमरगीत उच्च कोटि का काव्य है। इसमें ज्ञानमार्ग के अनुयायी उद्धव पर प्रेम मार्ग का अनुसरण करनेवाली गोपियों की विजय वर्णित है। इस भाँति सगुणोपासना के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। प्रेम की वेदना और विरहव्यथा की ललित पदों में सरस अभिव्यक्ति होने के कारण यह काव्य अत्यन्त आकर्षक हो गया है, तथा भक्ति और शृंगार के अनुपम मिश्रण से उसमें हृदय को प्रभावित करने की असीम क्षमता उत्पन्न हो गई है।

सूरदास ने लम्बे प्रबन्ध काव्य लिखने का प्रयास नहीं किया। उनकी प्रतिभा विशेषतः प्रगीतात्मक थी, और सरस प्रभावपूर्ण चुभनेवाले भावों से परिपूर्ण गीतों की अनूठी रचना करने में वे सर्वाधिक कुशल हैं। गीतों-प्रगीतों के कवि के रूप में वे जयदेव और विद्यापति के समकक्ष हैं, जिनकी भाँति ही वे भी सौन्दर्य के प्रति कामना-जन्य प्रेम और प्रचुरतम माधुर्य भाव की अभिव्यञ्जना में संलग्न दिखाई देते हैं। जिस ढंग से उन्होंने ज्ञान के महत्त्व की अवहेलना और खण्डन किया है तथा अपनी प्रवृत्ति पूर्णतया कृष्ण की भावुक उपासना पर

अवलंबित की है, वह हमें सूफ़ियों और उनके प्रेममार्ग की सुधि दिलाता है। सूरदास जिस प्रकार भी प्रभावित हुए हों किंतु इतना तो निश्चित है कि उनकी उत्कृष्ट रचनाएँ प्रगीतात्मक गुण, संगीत, और सुन्दर भावनाओं से ओतप्रोत हैं। उनमें सरस प्रभावपूर्ण भावनाओं की स्वाभाविक अनुभूति और अभिव्यक्ति का अनुपम मेल है।

तुलसीदास ने अपनी काव्य-रचनाओं में हिन्दी के विभिन्न रूपों का व्यवहार किया है। यह बात सूरदास के विषय में नहीं कही जा सकती। उन्होंने मथुरा और आगरा की भाषा में रचना की है। साहित्यिक कार्यों के लिए ब्रजभाषा के प्रयोग में वे पथप्रदर्शक हैं, लेकिन सब से महत्वपूर्ण बात यह है कि उनकी भाषा मधुर, समृद्ध और काव्य के लिए सर्वथा उपयुक्त है। ऐसा प्रतीत होता है मानो सूर की रचनाओं में व्यवहृत हो कर ब्रजभाषा पूर्ण निखार और सौष्ठव पाकर एक नए रूप में परिवर्तित हो गई है। उन्होंने अवधी और संस्कृत के मुहावरों के प्रयोग द्वारा ब्रजभाषा की व्यापकता और महत्ता को बढ़ाकर उसे एक नवीन शक्ति और रूप प्रदान कर दिया है। शब्द और ध्वनि की योजना में परम्परागत नियमों को छोड़कर उन्होंने अपने काव्य में नवीन सौन्दर्य और प्रभाव की सृष्टि की है। निस्सन्देह उन्होंने कुछ कूट पदों की रचना की है जो पहेली की भाँति चतुर व्यक्तियों द्वारा ही व्याख्या सुलभ हैं, लेकिन इन पदों द्वारा सूरदास के व्यक्तित्व और उनके काव्यगुणों का ठीक-ठीक अनुमान नहीं किया जा सकता। उनको भुलाकर अन्य उदाहरणों का अध्ययन करना अधिक उचित है, जो काव्य-चातुर्य और रचना-सौष्ठव की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर हैं।

सूरदास के काव्य की विशेषता उसकी व्यावहारिकता में नहीं वरन् उसकी मौलिकता और सौन्दर्य में है। सूरदास की कविता का विस्तार तुलसीदास की भाँति उतना अधिक नहीं है। अतः व्यापक लोकप्रियता का गुण उसमें अपेक्षाकृत कम है, लेकिन अपने सीमित क्षेत्र में वह वर्णन और शैली दोनों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टि से सूरदास हिन्दी कवियों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

नन्ददास—

अष्टछाप के कवियों में सूरदास के बाद नन्ददास का नाम आता है। वह सूरदास के समकालीन तथा अपनी भक्ति के लिए विख्यात थे। २५२ वैष्णवन की वार्ता में इनको तुलसीदास का छोटा भाई बतलाया गया है। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। निम्नलिखित पुस्तकें उपलब्ध हैं—रास पंचाध्यायी, सिद्धान्त पंचाध्यायी, अनेकार्थ-मंजरी, मानमंजरी, रूपमंजरी, रसमंजरी, विरह-

मंजरी, भ्रमरगीत, गोवर्धन लीला, श्यामसगाई, रुक्मिणीमंगल, सुदामाचरित, भाषा दशमस्कन्ध, और पदावली । मुख्यत: उनके दो ग्रन्थ, रासपंचाध्यायी और भ्रमरगीत काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखते हैं । रासपंचाध्यायी में भागवत में वर्णित रास को कवि ने ललित पदों में प्रस्तुत किया है । भ्रमरगीत में गोपियों और उद्धव का वार्तालाप अत्यन्त रोचक ढंग से वर्णित है । सूरदास ने गोपियों को प्रेमविह्वल दिखलाया है और उनके प्रेमातिरेक का चित्रण किया है। नन्ददास की गोपियाँ उद्धव के तर्कों का उत्तर तर्क द्वारा ही देती हैं । सामान्य रूप से हम कह सकते हैं कि सूरदास की अपेक्षा नन्ददास के काव्य में कहीं अधिक पाण्डित्य और कलात्मक परिष्कार है । सूरकाव्य के सहज माधुर्य की जगह पर यहाँ प्रौढ़ और कोमलकान्त पदावली मिलती है, जो ध्यान-पूर्वक सजाई गई है । इनकी ब्रजभाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का अनुपात सूरदास की अपेक्षा कहीं अधिक है। फलत: उनकी रचनाओं में सफाई और निखार पर्याप्त मात्रा में मिलता है । रचना की प्रौढ़ता और शैली की कमनीयता की दृष्टि से हिन्दी कवियों में नन्ददास का स्थान ऊँचा है ।

सूरदास या **नन्ददास** की तुलना में अष्टछाप का अन्य कोई कवि उतना महत्त्व नहीं रखता; लेकिन उन लोगों ने कृष्ण की बाल्यावस्था, गोपियों के साथ उनकी प्रेम क्रीड़ा के विषय को लेकर कविताएँ रची हैं, जो **सूरदास** और **नन्ददास** से कुछ बातों में मिलती-जुलती हैं । अपनी स्फुट रचनाओं में उन लोगों ने कहीं-कहीं पर अच्छी सफलता प्राप्त की है । कृष्णदास शृंगार प्रधान तीन काव्य-ग्रन्थों के रचयिता माने जाते हैं, जो राधा और कृष्ण के पारस्परिक प्रेम को आधार मानकर लिखे गए हैं। **परमानन्ददास** द्वारा लिखित ८०० कविताएँ 'परमानन्द सागर' के नाम से संग्रहीत हैं । वे उपासना-वृत्ति से भरी हुई हैं और गाने के योग्य हैं । **कुम्भनदास** और उनके पुत्र **चतुर्भुजदास** की कविताएँ विशेष साहित्यिक महत्व नहीं रखतीं । **चित्तस्वामी** ब्रजभूमि के प्राकृतिक सौन्दर्य के विषय में लिखी हुई स्फुट कविताओं के लिए प्रसिद्ध हैं । **गोविन्द स्वामी** कवि के अतिरिक्त प्रसिद्ध गायक भी थे ।

हितहरिवंश जिनका जन्म **सूरदास** के बीस वर्ष बाद हुआ, एक नए संप्रदाय के जन्मदाता थे, जो 'हितसम्प्रदाय' या 'राधावल्लभी सम्प्रदाय' कहलाता था और जिसमें कृष्ण की अपेक्षा राधा की आराधना को अधिक महत्त्व दिया गया । हितहरिवंश का अपने समय में उत्कृष्ट कवि और उच्चकोटि के भक्त होने के कारण यथेष्ट सम्मान किया जाता था और उनका अपने युग के विद्वानों, कवियों, और भक्तों पर काफी प्रभाव था । उनमें से अधिकांश ने उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की हैं । राधा के सम्मान में उन्होंने उच्चकोटि की संस्कृत कविताएँ

लिखीं। यद्यपि उनकी हिन्दी कविताएँ परिमाण में कम हैं, लेकिन वे उत्कृष्ट हैं। उनकी शब्द-योजना परिमार्जित और मधुर है। उनकी कविता में ब्रजभाषा अपने विशुद्ध साहित्यिक रूप में मिलती है। उनकी प्रतिभा अत्यन्त सर्जनशील थी और उन्होंने अपने काव्य में अनेक दृश्य योजनाएँ और स्थितियाँ प्रस्तुत की हैं, जिनमें राधा और कृष्ण का मोहक रूप तथा मधुर प्रेम बड़ी कुशलता से व्यञ्जित हुआ है। संस्कृत के एक अन्य श्रेष्ठ विद्वान् और कवि गदाधर भट्ट थे। ये महाराष्ट्र ब्राह्मण थे और कृष्ण के परम उपासक बन गए। वृन्दावन में जाकर इन्होंने अपना जीवन व्यतीत किया। इन्होंने संस्कृत तथा हिन्दी में उत्कृष्ट काव्य-रचना भी की थी।

मीराबाई (१५१६–१५४३)—

यह प्रसिद्ध भक्त कवयित्री राजपूताने के एक गाँव में पैदा हुई थीं और उदयपुर के राजकुमार भोजराज से उनका विवाह हुआ। विवाह के कुछ ही दिन बाद वह विधवा हो गईं। बाल्यावस्था से मीरा में धार्मिक भावनाएँ कूट-कूट कर भरी थीं और प्रार्थना, पूजा, तथा भक्तिपूर्ण संगीत में उनकी विशेष रुचि थी। विधवा हो जाने के बाद धर्म और आध्यात्मिकता के प्रति उनके अनुराग और श्रद्धा में किसी प्रकार का व्याघात नहीं पहुँचा। इस प्रकार के व्यवहार को उनके परिजनों ने मर्यादाहीन तथा आपत्तिजनक समझा और उन्हें विष तक देने की चेष्टा की गई, किन्तु मीरा का किसी प्रकार भी अहित न हो सका और वह भारत के विभिन्न भागों, प्रसिद्ध तीर्थ-स्थानों और मन्दिरों में चरम-भक्ति की भावना लेकर घूमती रहीं। यह माना जाता है कि मीरा ने चार ग्रन्थों की रचना की थी, किन्तु उन्होंने जो कुछ लिखा वह पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं है और न उनका संग्रह किया जा सका है। मीरा की काव्यजनित प्रसिद्धि के आधार मुख्य रूप से उनके भक्तिपूर्ण पद हैं, जो उत्तर भारत में अत्यधिक प्रचलित और विख्यात हैं। मीरा की महत्ता विशेष रूप से इन पदों में निहित गम्भीर आध्यात्मिक प्रेम तथा विरह की अनुभूति के कारण है।

वास्तव में यदि कहा जाय कि मीराबाई हिन्दी की समस्त कवयित्रियों में अद्वितीय हैं और सर्वोपरि लोकप्रिय हुई हैं तो यह किसी प्रकार की अतिशयोक्ति न होगी।

मीराबाई भगवान् कृष्ण की अनन्य भक्त थीं और इस दृष्टि से उन्हें सूरदास तथा अष्टछाप के अन्य प्रमुख कृष्ण भक्त कवियों की कोटि में रखा जा सकता है। किन्तु उनके काव्य में रहस्यवादी अभिव्यंजना की विशेषता के कारण इन सभी कवियों से भेद भी है। वे कृष्ण को अपना पति और सर्वस्व मानती

थीं और उनकी प्राप्ति के लिए अपना सब कुछ न्योछावर कर देने की भावना उनके काव्य में तीव्ररूप में व्यक्त हुई है। मीराबाई कृष्ण के साथ तादात्म्य स्थापित करना चाहती थीं और ऐसा अनुभव करती थीं जैसे उन्हें यह तादात्म्य प्राप्त भी हो गया हो। इस प्रकार अपने काव्य में कभी तो वे उस पतिरूप परमात्मा के प्रति विरह की वेदना को व्यक्त करती हैं और कभी उनके संयोग के आनन्द का चित्रण। यह प्रेम भावना हमें सूफियों का स्मरण दिलाती है।

मीराबाई के पदों को पढ़कर प्रत्येक व्यक्ति उनकी संगीतमय विशेषता से प्रभावित हो उठता है। यदि कविता को हृदय की भावनाओं का आकस्मिक उद्रेक माना जाए तो मीराबाई की रचनाएँ काव्य की दृष्टि से महान् मानी जाएँगी। इसका कारण यह है कि उनमें ईश्वर के प्रति प्रेमोन्मत्त नारी की हृदयगत भावनाओं का उद्‌गार है, जो संगीतमय होने से और भी प्रभावशाली बन गया है। राजस्थान की इस कोकिला के काव्य में आध्यात्मिक अनुराग की अनन्यता तथा संगीत का माधुर्य दोनों ही प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं।

जहाँ तक इनकी काव्यगत भाषा का प्रश्न है, इसमें अनेक रूपों का मेल पाया जाता है। मीराबाई ने अधिकतर राजस्थानी भाषा का प्रयोग किया है, किन्तु अनेक स्थलों पर वे भाषाएँ भी आ गई हैं जो गुजरात और राजस्थान की सीमा पर प्रचलित थीं। इनके काव्य में मुहावरों का प्रयोग हुआ है और उनकी सुन्दर अभिव्यञ्जना विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है। हमें इनके काव्य में पंजाबी भाषा के कुछ शब्द भी मिलते हैं, जो कबीर और नानक का स्मरण दिलाते हैं, यद्यपि उनका प्रयोग अल्पमात्र ही हुआ है। इनके अधिकतर पद ब्रजभाषा में लिखे गए हैं। उस काल में कृष्ण भक्त कवियों की यह मान्य भाषा थी और मीराबाई को इस भाषा का अच्छा ज्ञान था, क्योंकि उन्होंने कृष्ण के प्रति अपनी उपासना और भक्ति अर्पित करने की भावना से ब्रज की यात्रा की थी।

रसखान—

रसखान एक पठान सरदार थे। इन्होंने अपने को दिल्ली के पठान शासकों का वंशज बताया है। वह वृन्दावन गए और वहीं कृष्ण के भक्त के रूप में अपना जीवन व्यतीत किया। रसखान ने दो पुस्तकें लिखीं हैं, 'प्रेमवाटिका' और 'सुजान रसखान'। 'प्रेमवाटिका' दोहों में लिखी गई है और 'सुजान रसखान' घनाक्षरी तथा सवैयों में।

रसखान के छन्द अब भी लोकप्रिय हैं। उनकी अनेक कविताएँ विशेष रूप से कंठस्थ की जाती और गाई जाती हैं। इन विशेषताओं का एकमात्र कारण

उनके काव्य की सरलता और माधुर्य तथा कृष्ण के प्रति उत्कट प्रेम की अभिव्यक्ति है। रसखान के काव्य में भाषा की विशुद्धता और प्रवाह भी है, साथ ही निरर्थक अलंकारों का बाहुल्य न होने से कविता के पढ़ने में विशेष रस मिलता है।

अष्टम प्रकरण

भक्ति-कालीन कवियों का लौकिक काव्य

भक्तिकाल में सर्जित काव्य प्रधानतः आध्यात्मिक था। यह काव्य कई प्रकार का था। कबीर का काव्य सूर और तुलसी के काव्य से कई बातों में भिन्न है। सूफी कवियों के विदेशी प्रभाव ने उसे नयी विशेषता प्रदान की किन्तु उनका विषय और स्वर सदैव आध्यात्मिक बना रहा। उनके काव्य में तत्कालीन युग की परिस्थितियाँ प्रतिबिम्बित हुई और उस समय की जनता के दृष्टिकोण का विवेचन किया गया। भक्ति-कालीन कविता प्रौढ़ हो कर अकबर के काल में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची। उसी युग में सूरदास और तुलसीदास हुए और उन्होंने अपने श्रेष्ठ-काव्य का सर्जन किया, यद्यपि उनको सम्राट की छत्रछाया प्राप्त न थी। अकबर अत्यन्त साहित्यानुरागी एवं विद्वानों का आदर करने वाले सम्राट थे। अन्य कितने ही कवियों ने उनके आश्रय में रहकर प्रेरणा प्राप्त की। अकबर का दरबार कवियों और दार्शनिकों का केन्द्र था और सम्राट मुक्त-हस्त से पुरस्कार देकर उन्हें प्रोत्साहित करते थे।

अकबर के दरबार में रहनेवाले प्रमुख कवियों में अब्दुर्रहीम खानखाना, गंग, और नरहरि विशेष उल्लेखनीय हैं। अन्य कई ऐसे कवि भी थे जो समय-समय पर दरबार में आकर उसके आश्रय और उदारता का लाभ उठाते थे। इन कवियों की रचनाएँ सूर और तुलसी के काव्य से कई बातों में भिन्न हैं। उनमें आध्यात्मिकता का कोई पुट नहीं मिलता और वे पूर्णतः सामाजिक हैं। लौकिकता के साथ-साथ उनमें प्रायः श्रृंगार की अनुभूति मिलती है। इन कवियों ने विशद नायिका-वर्णन तथा संयोग और विप्रलम्भ श्रृंगार की मर्मस्पर्शी व्यंजना की है।

अनेक कवियों ने बार-बार एक ही विषय का वर्णन किया है। फलतः ऐसा प्रतीत होता है मानो एक ही बात दोहरायी जा रही है। अवश्य ही कुछ ऐसी कविताएँ भी मिलती हैं जिनमें वीरों और योद्धाओं के पराक्रम का वर्णन किया गया है। सांसारिक ज्ञान और विवेक की शिक्षा देने वाले दोहों और अन्य छन्दों की भी कमी नहीं है। यद्यपि प्रगीतों की ही अधिकता है, तथापि साथ ही

इस काल में लिखे हुए लम्बे वर्णनात्मक काव्य भी उपलब्ध होते हैं। पठानों के शासन-काल में लौकिक काव्य का अधिक विकास नहीं हुआ, लेकिन अकबर के समय में उसकी धारा वेग से प्रवाहित हुई। इसका मुख्य कारण उस महान शासक के विद्यानुराग से मिला प्रोत्साहन ही था।

इस लौकिक काव्य का महत्त्व उसी काल में रचित भक्ति काव्य का अर्धांश भी नहीं है, लेकिन जब तक उस काल के कतिपय महत्त्वपूर्ण कवियों की रचनाओं की चर्चा न की जाय, हमारा वर्णन पूरा न होगा। इस भ्रम के निवारणार्थ कि उस काल के काव्य में विविधता न थी अथवा काव्य की धारा एक ही मार्ग विशेष में प्रवाहित हो रही थी, इन कवियों और उनकी रचनाओं की चर्चा आवश्यक है।

काव्य में रीतिशास्त्र पर रचना करने वाले प्रारम्भिक कवियों में **कृपाराम** थे, जिनके जीवन के सम्बन्ध में बहुत कम बातें ज्ञात हैं। सम्पूर्ण दोहों में लिखी हुई उनकी पुस्तक 'हित-तरंगिनी' में (१५४१ ई०) अत्यन्त सरल शैली में रस-सिद्धान्त का विवेचन हुआ है। हित-तरंगिनी के दोहे काव्य-कला की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। अपने ढंग की यह पहली पुस्तक थी तथा आगे कई शताब्दियों तक इस शैली में अनेक ग्रन्थों का निर्माण हुआ, अतः इसका विशेष महत्त्व है।

नरहरि बन्दीजन (१५०५-१६१०) अकबर के दरबार के प्रसिद्ध और प्रभावशाली व्यक्तियों में थे। उन्हें सम्राट की विशेष कृपा प्राप्त थी। यह किंवदन्ती है कि इन्हीं का एक छप्पय सुनकर सम्राट ने राज्य भर में गोबध बन्द करवा दिया। उन्होंने कम-से-कम तीन ग्रन्थों की रचना की। उनके कुछ पद आज भी लोकप्रिय हैं। प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सुदामा चरित' नाम के रचयिता कविवर नरोत्तम दास ई० १५४५ के लगभग सीतापुर के निकट रहते थे। यद्यपि सुदामा चरित आकार-विस्तार में छोटा है फिर भी उसका विस्तृत प्रभाव आज तक समान रूप से बना हुआ है। इसमें हमें कृष्ण और उनके दरिद्र सहपाठी की मित्रता का अत्यन्त भावुक एवं हृदय-स्पर्शी वर्णन मिलता है। साहित्यिक रचना की दृष्टि से भी सुदामा-चरित उच्चकोटि का काव्य है। सरस सुन्दर पदावली के साथ ही इसकी शब्दावली ऐसी विशुद्ध और अनुकूल है कि हमें कहीं भी उसके अनुपयुक्त अथवा अनावश्यक होने का बोध नहीं होता। इन्हीं विशेषताओं के कारण सुदामा-चरित हिन्दी के अत्यन्त लोकप्रिय काव्यों में गिना जाता है। लोग इसे आज भी बड़े चाव से पढ़ते हैं।

महाराज बीरबल जिन्होंने उपनाम, 'ब्रह्म' से कई छंद लिखे हैं, **अकबर** के दरबार के सम्मानित रत्न थे और अपनी वाक्-चातुरी के लिए प्रसिद्ध हैं। बीरबल के नाम से अगणित चुटकुले देश भर में प्रचलित हैं। उनसे प्रकट होता है कि वे अत्यन्त तीव्र बुद्धि एवं प्रत्युत्पन्न-मति के व्यक्ति थे। इसके अतिरिक्त वे अत्यन्त दयालु

थे। ऐसा माना जाता है कि अपने समय के कई विद्वानों और कवियों को उन्होंने प्रचुर सहायता दी थी। यद्यपि उनका लिखा कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है लेकिन उनके स्फुट छंदों के आधार पर यह माना जा सकता है कि उन्होंने ब्रजभाषा में ही काव्य रचना की थी। उनके छंद उच्चकोटि के हैं। काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों और रीतियों से वे भली-भाँति परिचित थे। उनकी प्रत्येक रचना उच्चस्तर की है।

गंग जिनका रचना-काल साधारणत: १७ वीं शताब्दी का मध्य-भाग माना जाता है, निस्सन्देह अकबर के दरबार के प्रमुख रत्न थे। गंग के अनन्य मित्र रहीम उनका अत्यन्त सम्मान करते थे। बाद में भिखारीदास ने जिनकी आलोचनात्मक दृष्टि अत्यन्त तीव्र थी, गंग की तुलना तुलसीदास से की थी। अपने समय में गंग को लौकिक दरबारी कवियों में सम्भवत: वही स्थान प्राप्त था जो भक्त कवियों में तुलसीदास को। दुर्भाग्यवश गंग के जीवन के सम्बन्ध में अधिक ज्ञात नहीं हो सका है तथा प्राचीन संग्रहों में संग्रहीत उनकी कुछ रचनाएँ हमें मिलती हैं। तत्कालीन विभिन्न कवियों ने उनके जीवन के सम्बन्ध में इस बात की चर्चा बार-बार की है कि किसी क्रोधी शासक के अंध-कोप का भाजन बनने के कारण उन्हें हाथी के पैरों तले कुचलवा दिया गया। जब हम गंग की उपलब्ध रचनाओं का अवलोकन करते हैं तो हमें उन्हें उच्चकोटि की रचनाओं में स्थान देना पड़ता है, फिर भी तुलसीदास से उनकी तुलना करना अतिशयोक्ति है। गंग ने वीर तथा शृंगार, दोनों ही रसों में कुशल काव्य-रचना की है। ओज और परिष्कार उनकी रचनाओं की विशेषताएँ हैं। उनकी शब्दावली सौन्दर्य्य और सौष्ठवयुक्त है। गंग की कविता में श्रेष्ठ दरबारी कवि के सभी गुण मिलते हैं।

बलभद्र मिश्र : केशवदास के बड़े भाई और उनके समान ही संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे। उन्हें भी ओरछा-नरेश की छत्रछाया प्राप्त थी। बलभद्र मिश्र प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'नख-शिख' अपने ढंग की निराली पुस्तक है। नख-शिख में कवि ने रस-सिद्धान्त का विवेचन करने के लिए नारी के अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य्य का विशद वर्णन किया है। बाद में इस पुस्तक की मीमांसा के रूप में कई ग्रन्थों की रचना हुई। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, विद्वत्ता में बलभद्र मिश्र अपने भाई केशवदास के समकक्ष थे लेकिन काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से वे उनसे बढ़ जाते हैं। यद्यपि उनकी रचनाओं में अप्रचलित तुलनाओं का बाहुल्य है और उनकी कल्पना कभी-कभी दुर्बोध हो जाती है फिर भी उनके काव्य में जो प्रवाह और सरसता मिलती है वह केशवदास की रचनाओं में नहीं। उन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की लेकिन उनमें से कोई अन्य उतना प्रसिद्ध नहीं हुआ जितना नख-शिख।

केशवदास के जन्म और मृत्यु की तिथियों का निश्चय अभी तक नहीं हुआ

है। सम्भवत: उनका जन्म १५५५ और मृत्यु १६१७ ई० में हुई। वे संस्कृत के प्रसिद्ध पंडित-परिवार में उत्पन्न हुए थे। उनके पूर्वजों में कई विद्वान् और प्रसिद्ध कवि हो चुके थे। जैसा कि हम देख चुके हैं उनके ज्येष्ठ भ्राता बलभद्र मिश्र सम्मानित कवि थे और केशवदास ने भी उच्चकोटि की काव्य-रचना की। केशवदास जाति के सनाढ्य ब्राह्मण थे तथा साहित्यिक जीवन के अधिकांश काल में उन्हें ओरछा-दरबार का आश्रय प्राप्त हुआ। बहुत दिनों तक वे ओरछा-नरेश महाराज रामसिंह के छोटे भाई इन्द्रजीत सिंह के दरबार में उनके मित्र, सखा, और गुरु के रूप में रहे। इन्द्रजीत सिंह की मृत्यु के पश्चात् उन्हें वीर सिंह देव का आश्रय प्राप्त हुआ जिनके सम्मान में उन्होंने वीरसिंह देव चरित्र लिखा। केशवदास ने ओरछा दरबार की अनन्य सेवा की। बीरबल पर प्रभाव डालकर उन्होंने अकबर द्वारा लगाया गया आर्थिक दण्ड माफ करवाया। उसके बदले में उन्हें बड़ी जागीरें मिलीं और आजीवन वे दरबारी कवि की भाँति सुख और समृद्धि का उपभोग करते रहे। अत: यदि उनकी रचनाओं में लोक जीवन का अभाव मिले तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। केशवदास की रचनाएँ लोकप्रिय कवि की रचनाएँ न होकर विद्वान् और सामन्तशाही कवि की रचनाएँ हैं।

केशवदास को साधारणत: दस ग्रन्थों का रचयिता माना जाता है, यद्यपि उनके सात ग्रन्थ ही उपलब्ध हो सके हैं। इन सात ग्रन्थों की सूची निम्नलिखित है :—
(१) रामचन्द्रिका, (२) कवि-प्रिया, (३) रसिक-प्रिया, (४) विज्ञान गीता, (५) रतन बावनी, (६) वीरसिंह देव चरित और (७) जहाँगीर-जस-चन्द्रिका। वीरसिंह देव चरित लम्बा वर्णनात्मक काव्य है। उसका कथानक वीर सिंह देव तथा अबुल फजल के बीच हुआ युद्ध है। उसमें काव्य का कोई विशेष गुण नहीं है। कथाप्रवाह विशृंखल है और कहीं-कहीं पर सम्वाद आवश्यकता से अधिक लम्बे हैं। उसी प्रकार जहाँगीर-जस-चन्द्रिका भी सहित्यिक महत्व की कोई श्रेष्ठ रचना नहीं है। रतनबावनी बावन छप्पयों का संग्रह है जिनमें इन्द्रजीत के भाई रतन की वीरता का वर्णन है जो १६ वर्ष की अल्पायु में ही युद्धक्षेत्र में वीरगति को प्राप्त हुआ। जिन तीन ग्रन्थों पर उनकी प्रसिद्धि निर्भर है वे रसिक-प्रिया, कवि-प्रिया और रामचन्द्रिका हैं। इनमें से प्रथम दो रीतिशास्त्र की व्याख्या से सम्बन्ध रखते हैं। रसिक प्रिया में रस-सिद्धान्त की विवेचना है तथा साथ ही नख-शिख की चर्चा भी की गयी है। कवि-प्रिया अलंकार-शास्त्र का ग्रन्थ है। दोनों पुस्तकों में कवि ने पहले रस और अलंकारों के निर्णयसम्बन्धी सिद्धान्तों का विवेचन किया है, तत्पश्चात् उपयुक्त उदाहरण दिये हैं। रामचन्द्रिका में राम के जीवन और पराक्रम का वर्णन है। रामचन्द्रिका की गणना महाकाव्यों में होती है किन्तु उसका कथानक इतना विशृंखल और असम्बद्ध है तथा चरित्र-चित्रण इतना अपूर्ण और अपर्याप्त

है कि उसे यह पद देना अत्युक्ति-पूर्ण प्रतीत होता है। फिर भी यह केशवदास का सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है। सम्वाद-सौष्ठव तथा छंदों और अलंकारों की विविधता के कारण इसका अध्ययन सुरुचिपूर्वक किया जाता है।

हिन्दी कवियों में केशवदास का क्या स्थान है, इस सम्बन्ध में काफी वादविवाद होता रहा है। पुरानी लोकोक्ति है—'सूर सूर, तुलसी शशी, उडगन केशवदास, अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकाश'। इसमें केशवदास को सूर और तुलसी के साथ स्थान दिया गया है। लेकिन आधुनिक आलोचकों ने इस सम्बन्ध में गहरा संशय प्रकट किया है। उनके काव्य की विभिन्न विशेषताओं का विवेचन करने के बाद आलोचक, केशवदास को देव, बिहारी, मतिराम, भूषण, तथा कतिपय अन्य कवियों के बाद स्थान देना चाहते हैं।

संस्कृत के अध्ययन ने केशवदास को प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित छन्द-शास्त्र तथा रीतिशास्त्र के सिद्धान्तों से भली भाँति अवगत करा दिया था। अपने काव्य में उन्होंने उस ज्ञान का पूरा-पूरा सदुपयोग करने का प्रयास किया है। यद्यपि उनके पहले कृपाराम और बलभद्र ने काव्य-रचना के सिद्धान्तों पर ग्रन्थ लिखे थे, फिर भी हम केशवदास को रस और अलंकार की दो भिन्न परम्पराओं के मूल सिद्धान्तों के प्रथम विवेचक कवि के रूप में मान सकते हैं। अतः केशव को आचार्य मानना उचित ही है। बाद की शताब्दियों के अनगिनत कवि जिनका मार्ग केशव ने प्रशस्त कर दिया था, उनके अनुग्रहीत बने रहे, यद्यपि कुछ सिद्धान्तों के बारे में वे केशव के मत से सहमत नहीं हुए।

किन्तु जब हम केशव को काव्य की कसौटी पर कसते हैं तो उन्हें संभवतः वैसा उच्च स्थान नहीं दे पाते। उन्हें हृदयहीन कहना अतिशयोक्ति होगी, लेकिन इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उनमें काव्यगत प्रतिभा-प्रेरणा और उद्वेग का अभाव था। उनके लिए काव्य भावों का उद्‌गार या तीव्र कल्पना का प्रकाशन नहीं था। उनके लिए काव्य का अर्थ या तो कुछ निश्चित आलोचनात्मक सिद्धान्तों का प्रतिपादन अथवा किसी राज-दरबार की समृद्धि और ऐश्वर्य का चित्रण था। सरल-सुगम भावनाओं और विचारों का जिनका अनुभव जन-साधारण भी कर सकता है, केशव के काव्य में कोई स्थान नहीं था। रामचन्द्रिका का सूक्ष्म अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि उसके कवि को मानव-जीवन की मार्मिक परिस्थितियों और विषमताओं की कोई परवाह न थी, और न तो मानसिक उलझनों और भाव-नाओं की उथल-पुथल का ही उनके लिए कोई अर्थ था। उनकी काव्य-वाणी में सरसता का अभाव है। उन्होंने ब्रजभाषा में काव्य रचना की लेकिन उसमें बुन्देल-खण्डी और संस्कृत शब्दों का पुट था जिससे कविता का माधुर्य नष्ट हो गया और अभिव्यंजना की सरसता में बाधा पड़ी। दूसरी ओर कवि ने छन्दों में परिष्कार

लाने का प्रयास नहीं किया। यदि उन्होंने उस ओर थोड़ा भी ध्यान दिया होता तो उसमें संगीत का सरस प्रवाह आ जाता और कर्णकटु स्थलों का सुधार हो जाता। जब हम इन सब बातों तथा दो लम्बे प्रबन्ध-काव्यों में कवि की असफलताओं और त्रुटियों पर विचार करते हैं तो हमें केशव को उन कवियों के समकक्ष रखने के औचित्य पर संशय होता है जिनकी श्रेणी में उन्हें परम्परा से स्थान दिया गया है। केशव महान् विद्वान थे लेकिन महान् कवि नहीं।

अब्दुल रहीम खानखाना—

रहीम जिनका पूरा नाम अब्दुल रहीम खानखाना था, अकबर के दरबार के प्रमुख रत्नों में थे। सेनाध्यक्ष, शासक, विद्वान्, और कवि के रूप में उन्होंने समान सफलता प्राप्त की। वे अत्यन्त दयालु भी थे और यह कहना कठिन है कि उनका हृदय अधिक विशाल था अथवा मस्तिष्क। रहीम बैरमखाँ के पुत्र थे, जो अकबर के बाल्य-काल में उसके अभिभावक थे। और जिन्होंने विभिन्न प्रकार से उनकी सेवा की। दरबार में प्राप्त महत्त्वपूर्ण पद और अपने मानवीय गुणों की महत्ता के कारण, रहीम ने अपने काल के सांस्कृतिक जीवन पर गहरा प्रभाव डाला। जहाँगीर के शासनकाल में भी वे जीवित थे यद्यपि उनका प्रभाव और महत्त्व अकबर की मृत्यु के पश्चात् बहुत घट गया था।

रहीम अपने दोहों के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। उन्होंने सात सौ दोहे लिखे जो एक सतसई में संग्रहीत हैं। रहीम के दोहे अत्यन्त सुन्दर हैं। उनमें वृन्द के दोहों की भाँति केवल व्यावहारिक ज्ञान की ही बातें नहीं हैं और न तो बिहारी के दोहों की भाँति वे केवल शृंगारिक ही हैं। उनके दोहे उच्चतम मानवीय अनुभवों की निधि हैं। उनमें हमें हृदय की निर्मलता से युक्त ज्ञान और विवेक की बातें मिलती हैं। रहीम के दोहों का सौन्दर्य उनकी अपनी विशेषता है। उसका काव्य-सौष्ठव बिहारी और पद्माकर के दोहों के समान है। दोहों के अतिरिक्त रहीम ने अन्य प्रकार की कई कविताएँ भी लिखी हैं। उनके 'बरवै-नायिकाभेद' में केवल उनकी भाव-प्रवणता ही नहीं दिखाई देती अपितु बरवै-छन्द का प्रयोग-कौशल भी दृष्टिगोचर होता है बरवै अवधी भाषा की काव्य-रचना का अनूठा और उपयुक्त छंद है। उनके अन्य ग्रन्थ 'मदनाष्टक', 'रास पंचाध्यायी', 'शृंगार-सोरठ', 'नगर-शोभा' आदि हैं।

रहीम महाकवि थे, इसके अनेक प्रमाण हैं। वे विद्वान, धार्मिक, और व्यापक रुचि के कवि थे। बिना किसी भेद-भाव के वे विद्वानों को अपनी मित्र मंडली में स्थान देते थे भले ही वे हिन्दू हों अथवा मुसलमान। इसी प्रकार उनके काव्य में हिन्दू और मुसलमानी विचार-धाराओं के सर्वोत्तम सिद्धान्तों का समन्वय मिलता है। बोल-चाल की हिन्दी भाषा के विविध रूपों के ज्ञाता होने

के साथ-साथ रहीम संस्कृत और फारसी के भी विद्वान् थे। अतः उनके काव्य में संस्कृत और फारसी के प्राचीन कवियों के साथ ही सम्पूर्ण देश के समकालीन विभिन्न कवियों के ग्रन्थों से लिये गए विचारों और शब्दों का सुन्दरतम समन्वय मिलता है। कवि ने अपने काव्य की परिधि में प्राचीन और नवीन, हिन्दू और मुसलमान विचार-धाराओं की विशेषताओं को लाकर समाविष्ट किया है। रहीम के काव्य की लोकप्रियता और विविधता का यही विशेष कारण है। रहीम की महानता का दूसरा प्रमाण यह है कि वे प्रत्येक कार्य को भली-भाँति सम्पन्न करने में विश्वास करते थे। उन्होंने जिस विषय को हाथ में लिया उसका सुन्दर और सुरुचिपूर्ण निर्वाह किया। अतः उनके काव्य में निर्जीव या अरुचिकर पंक्तियाँ कहीं नहीं मिलतीं। उन्होंने कई प्रकार के छन्दों यथा दोहा, सोरठा, बरवै, कवित्त आदि में रचना का प्रयत्न किया तथा ब्रजभाषा और अवधी दोनों ही के प्रयोग में सफलता प्राप्त की। अतः इसमें संशय नहीं कि रहीम हिन्दी साहित्याकाश के उज्ज्वल नक्षत्र हैं।

सेनापति—

एक प्रसिद्ध कवित्त में सेनापति ने बताया है कि उनका जन्मस्थान अनूप शहर, उनके पितामह का नाम परशुराम, पिता का नाम गंगाधर, और गुरु का नाम हीरामणि था। वे जाति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और १५८४ के लगभग पैदा हुए थे। उनकी मृत्यु की तिथि ठीक-ठीक मालूम नहीं है किन्तु इतना तो हमें विदित है कि उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कवित्त-रत्नाकर' की रचना १६४९ में समाप्त की थी। कवित्त-रत्नाकर पाँच भागों में विभक्त है। पहले भाग में जिन कविताओं का संग्रह है उनमें उपमा रूपक एवं अन्य अलंकारों के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। दूसरे भाग में श्रृंगार रस की रचनाएँ हैं। तीसरे भाग में कवि की ऋतुवर्णन सम्बन्धी प्रसिद्ध कविताएँ हैं। ये कविताएँ अत्यन्त लोकप्रिय हैं और आज तक स्मरण की जाती हैं। चौथे भाग में रामायण की कथा है और पाँचवें में भक्ति-विषयक रचनाएँ हैं। पुस्तक का विस्तार क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। उसमें अलंकार, श्रृंगार, भक्ति और प्राकृतिक सौन्दर्य सम्बन्धिनी विभिन्न कोटि की रचनाएँ हैं। सभी कविताएँ उच्च स्तर की हैं। सेनापति को महाकवि कहा जाता है और यह उचित भी है। हम उनकी व्यापक रुचि तथा उनके काव्य की गौरवपूर्ण महत्ता का उल्लेख कर चुके हैं। उच्च कोटि की काव्य-रचना का दैवी गुण उन्हें प्राप्त था। अत्यन्त भावुक होने के साथ-साथ सेनापति सूक्ष्म-जटिल मानव-भावनाओं की व्यंजना और प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण में अत्यन्त पटु थे। कल्पना और भावों की अभिव्यंजना के लिए उन्होंने जिन छन्दों का व्यवहार किया है, काव्य-शास्त्र के विचार से वे सर्वथा उपयुक्त हैं। उन्होंने ब्रजभाषा में काव्य-रचना की जिसमें बाह्य-

सूत्रों से आए हुए अनमेल शब्दों का पूर्ण अभाव है । कवित्त उनका सर्वाधिक प्रिय-छन्द था और कवित्तों की रचना उन्होंने अद्‌भुत कौशल के साथ की है। उनकी पंक्तियाँ कहीं भी विश्रृंखल प्रतीत नहीं होतीं और प्रत्येक शब्द अपने स्थान पर उचित महत्त्व रखता है । उपमा, रूपक, श्लेष, यमक आदि सभी अलंकारों का प्रयोग उन्होंने बड़ी कुशलता से किया है । उनका प्रयोग कहीं भी असंगत नहीं है । उनके काव्य में हमें अनुप्रास और शब्द-संगीत का माधुर्य अधिक मिलता है लेकिन उनके कारण भावों में कहीं भी जटिलता या शिथिलता नहीं आने पायी है । कवित्त-रत्नाकर के अतिरिक्त उन्होंने एक अन्य ग्रन्थ 'काव्य-कल्पद्रुम' की रचना भी की है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि सेनापति स्वस्थ और प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व के तेजस्वी कवि थे और उनके काव्य में प्रचुर ओज और शक्ति का समावेश हुआ है। श्रेष्ठ कवि होने के साथ-साथ सेनापति भक्त भी थे। वह राम के उपासक थे जिनके सम्बन्ध में उन्होंने सुन्दर और श्रेष्ठ काव्य रचा है । कहा जाता है कि जीवन के अन्तिम काल में उन्होंने वृन्दावन में जाकर साधु-जीवन व्यतीत किया। सेनापति के काव्य के प्रत्येक पद में उनके व्यक्तित्व और उच्च जीवन की छाप मिलती है जिससे उनके काव्य का मूल्य और भी बढ़ जाता है ।

नवम प्रकरण

रीतिशाखा काव्य (१६५०-१८५०)

कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण कबीर तथा निर्गुण-शाखा के अन्य कवियों ने हिन्दी-काव्य धारा को आध्यात्मिकता और भक्ति की ओर मोड़ दिया। यद्यपि जायसी का काव्य शृंगारिक था फिर भी उसमें रहस्य और भक्ति की भावना गहरी थी। तुलसीदास तथा सूरदास ने जनता को राम तथा कृष्ण की भक्ति का पाठ पढ़ाया। उनके अनुपम भक्ति-काव्यों से इस विशाल देश के कोटि-कोटि लोगों में धार्मिक-चेतना का बीज अंकुरित हुआ। लोगों में इससे नयी आशा और नये उत्साह का संचार हुआ। इस प्रकार भक्तिकाल में सर्जित सम्पूर्ण हिन्दी-काव्य का घनिष्ट सम्बन्ध है, एक ओर तो जनसाधारण के जीवन से था और दूसरी ओर जीवन के आध्यात्मिक और धार्मिक पक्ष से। लगभग सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में परिवर्त्तन स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हुआ। काव्य का स्वरूप तथा उद्देश्य बदल गया तथा वह लौकिक एवं शृंगारिक हो गया। शीघ्र ही जन-साधारण के भावों और विचारों से इसका सम्बन्ध टूट गया तथा जीवन की मूल समस्याओं और विभीषिकाओं को अपना लक्ष्य न बनाकर इसने धनिकों और राजा-महाराजाओं के भोग-विलास तथा तत्सम्बन्धी आनन्दकी परितुष्टि का भार वहन किया, जो कार्य इसके लिए अधिक गौरवपूर्ण न था। काव्य के बाह्य-स्वरूप का परिवर्त्तन भी उसी के अनुरूप हुआ। उसका ढाँचा गीतात्मक हो गया यद्यपि उसकी आत्मा में गीत तत्त्व का समावेश न हो पाया। कवियों ने अपने को कवित्त, सवैया, दोहा आदि कुछ इने गिने छन्दों तक ही सीमित रखा। केवल कभी-कभी ही लम्बे वर्णनात्मक काव्यों को लिखने का प्रयास उन्होंने किया। पिछले प्रकरणों में हम इस ढंग की नवीन कविता के कुछ अग्रगामी कवियों का उल्लेख कर आये हैं। मध्य-सत्रहवीं शताब्दी के लगभग यह परिवर्तन पूर्ण-रूपेण हमारा ध्यान आकर्षित करता है। तदनन्तर आगे दो सौ वर्षों तक बहुत से कवियों ने जिनमें कुछ अत्यन्त प्रतिभा-सम्पन्न भी थे, इस नये ढंग का काव्य लिखा। कई कारणों से इस नवीन काव्य का गम्भीर अध्ययन अपेक्षित है।

इस नये काव्य तथा काल का नामकरण भिन्न भिन्न प्रकार से किया गया है। मिश्रबन्धुओं ने इसे अलंकार-युग की संज्ञा दी है। ग्रीव्स ने इसे 'हिन्दी काव्य का कला-युग' कहा है, किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे जो नाम दिया है वह प्रायः सर्वमान्य है। उन्होंने इस काल को रीतिकाल की संज्ञा दी है तथा इस काल के काव्य को 'रीति-शाखा-काव्य' के नाम से अभिहित किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में हमने इसी नाम को ग्रहण किया है, क्योंकि अन्य नामों की अपेक्षा यह नाम अधिक प्रचलित है।

संस्कृत आचार्यों की दी हुई परिभाषा के अनुसार 'रीति' शब्द का एक विशेष अर्थ है। इसका सम्बन्ध उन स्वाभाविक गुणों से है जो काव्य को चमत्कार प्रदान करते हैं। दूसरी ओर इसका सम्बन्ध उन दोषों या त्रुटियों से है जिनसे काव्य को मुक्त करना कवि का कर्त्तव्य है। संस्कृत-काव्य-शास्त्र की इस शाखा के महान आचार्य वामन थे। रस, अलंकार, और ध्वनि की तरह रीति-शाखा को अधिक महत्त्व प्राप्त नहीं हो सका। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल तक के दो सौ वर्षों में हिन्दी काव्य की दृष्टि से 'रीति' शब्द का यही मूल और एकांगी अर्थ लेना अनुचित होगा। इस काल के कवियों ने स्वयं उसको सामान्य रूप से व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया है। साथ-ही-साथ आधुनिक समीक्षकों ने इसी सामान्य अर्थ को मान्यता प्रदान की है। हिन्दी की काव्य-शब्दावली में 'रीति' शब्द का अर्थ काव्य के उस विशेष ढंग या शैली से होता है जिसके अंतर्गत रस-अलंकार तथा ध्वनि की भिन्न-भिन्न परम्पराएँ सम्मिलित की जाती हैं। यह सत्य है कि इस काल के अनगिनत कवियों में एक या दो ही ऐसे हैं जिन्होंने काव्य-शास्त्र का विवेचन तथा 'रीति', 'गुण' और 'दोषों' का विधिवत उल्लेख किया हो। 'नायिका-भेद', 'नख-शिख' और विभिन्न अलंकारों के चित्रण तथा तद्विषयक चर्चा में ही उनकी प्रवृत्ति अधिक रमी है। अतः प्रस्तुत प्रसंग में 'रीति' शब्द का अर्थ कवियों की काव्य-शास्त्र तथा छन्द-शास्त्र सम्बन्धिनी उस साहित्यिक रुचि या प्रवृत्ति से निकाला जा सकता है जिसके अन्तर्गत एक निश्चित साँचे में ढली हुई रूढ़िवादी, कृत्रिम और कलात्मक शैली से युक्त, लौकिक और श्रृंगारिक ढंग की कविता आ जाती है। इस काल के प्रमुख कवियों की रचनाओं के अध्ययन से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है क्योंकि इन कवियों की परम्परा में कुलपति मिश्र तथा अन्यान्य कुछ ऐसे कवि हैं जिन्होंने ध्वनि-परम्परा के सम्बन्ध में साहित्यिक विषयों पर सार-गर्भित, सुस्पष्ट तथा यथोचित विचार प्रस्तुत किये हैं। दूसरी ओर देव और मतिराम हैं जिन्होंने अपने काव्य में रस-सिद्धान्त की विवेचना कर स्वरचित कविताओं में उन नियमों का व्यवहार भी किया है। अन्य कवियों में राजा जसवन्त सिंह जैसे कवि हैं जिनका मुख्य प्रयोजन अलंकारों से है। फिर भी ये सभी कवि हिन्दी-काव्य

की उस शाखा के कवि माने जाते हैं जिसे हम 'रीति' काव्य की संज्ञा प्रदान करते हैं।

हिन्दी काव्य क्षेत्र में भक्ति से रीति का यह परिवर्तन अनायास अथवा सर्वथा असंभावित न था। नये साहित्यिक आन्दोलनों का प्रारम्भ आकस्मिक नहीं हुआ करता है। उनकी जड़ें अपने पूर्वकालीन साहित्य की भूमि में ही निबद्ध रहती हैं तथा वे नयी शक्तियों और नयी परिस्थितियों के परिणामस्वरूप नये लक्षणों और नयी प्रवृत्तियों की सूचना देते हैं। कोई भी विचारशील पुरुष सूरदास तथा उनकी परम्परा का अनुकरण करने वाले कवियों के काव्य में जिसमें उन कवियों ने भगवान कृष्ण के प्रति अपना प्रेम और अपनी भक्ति प्रदर्शित की हैं, रीति-शाखा-काव्य के आविर्भाव के लक्षण स्पष्ट देख सकता है। हम यह देख चुके हैं कि सूरदास की काव्य-प्रतिभा तथा उनके अनुगामी कवियों की काव्यगत विशेषता यह थी कि उनके काव्य में गीत-तत्व तथा शृंगार की प्रधानता थी। अतः रीति-शाखा काव्य के गीत तत्त्व तथा शृंगारिकता का उससे सम्बन्ध मानने में कुछ आपत्ति और कठिनाई प्रतीत नहीं होती। हम यह बात देखते हैं कि इस शाखा के सभी कवियों ने समान रूप से राधा और कृष्ण को अपने शृंगारिक काव्य का आधार बनाया है। पिछले प्रकरण में हमने यह भी देखा कि इस नये युग के प्रारम्भ होने से पहिले ही काव्य में यह प्रवृत्ति लक्षित हो रही थी। कृपाराम, बलभद्र मिश्र, तथा करनेस जैसे पूर्वकालीन कवियों ने इसकी भूमिका प्रस्तुत करने का कार्य किया। केशवदास ने अपने दो प्रसिद्ध और विशद ग्रन्थों में समुचित उदाहरण देकर रस और अलंकार शाखा के मुख्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इन सब कवियों और काव्य-मर्मज्ञों का आविर्भाव चिन्तामणि त्रिपाठी के पूर्व हुआ था! चिन्तामणि त्रिपाठी उस काव्य परिपाटी के सारे कवियों के अग्रणी माने जाते हैं जिन लोगों ने दो सौ वर्षों तक लगातार उस ढंग की रचनाएँ कीं जो मूलतः रीति-काव्य-शाखा की कविता मानी जाती हैं।

राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनों का विचार करते हुए हम रीति-शाखा काव्य की उत्पत्ति और विकास को सहज ही में समझ सकते हैं। इस नये काव्य के प्रारम्भिक-काल में शाहजहाँ का शासन चल रहा था। वह एक महान सम्राट था। उसके शासन-काल में साम्राज्य का पर्याप्त विस्तार हुआ किन्तु पतन के चिह्न भी दृष्टिगोचर हो चले थे। उसके शासन-काल में मुगल-साम्राज्य की नींव वैसी सुदृढ़ नहीं रह गयी थी जैसी महान अकबर के शासन-काल में थी। शाही फौज पर आपत्तियों के बादल मडरा रहे थे। कई प्रदेशों में असन्तोष की ज्वाला धधक उठी थी। फिर भी किसी प्रकार शाहजहाँ ने साम्राज्य की प्रतिष्ठा बनाये रखने का यत्न किया। उसके शासन के अन्तिम चरण में उत्तराधिकार के लिए उसके पुत्रों

में परस्पर बड़े भयानक युद्ध हुए जिनमें दारा के नेतृत्व में उदारता तथा सांस्कृतिक सहिष्णुता का प्रतिनिधित्व करने वाली शक्तियों की, औरंगजेब की क्रूर और कट्टर नीति के सामने पराजय हुई। औरंगजेब बहुत दिनों तक जीवित रहा और बड़ी कठोरता और निर्दयता से उसने शासन चलाया। किन्तु उसे भीषण कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और वह अपने विशाल साम्राज्य को नष्ट-भ्रष्ट होने से बचाने के लिए राजद्रोहियों से निरन्तर युद्ध करता रहा। उसके बाद के मुगल राजाओं के शासन-काल में साम्राज्य शीघ्र विशृंखल और खंड-खंड हो गया। मुगलों की राजनीतिक प्रतिष्ठा विलीन हो गयी। इस तरह हम इन दो सौ वर्षों का इतिहास देखकर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह काल महान मुगल साम्राज्य के पतन और विघटन का युग था। राजनीतिक सुरक्षा और शान्ति के स्थान पर अराजकता और उपद्रवों का बोल बाला था। अकबर के शासन-काल में स्थापित जीवन की राजनीतिक स्थिरता और शान्ति का सन्तुलन बुरी तरह बिगड़ गया था। जनहित के अन्य कर्त्तव्यों को तो पालन करने की बात ही दूर रही, शान्ति और सुरक्षा स्थापित करने में भी शासन की सारी व्यवस्था असमर्थ प्रमाणित हुई। इसी के परिणाम स्वरूप साम्राज्य के सारे लोगों को संकट का सामना करना पड़ा। जन-साधारण की जीविका का निर्वाह असम्भव हो गया। देश में लगातार अकाल की विनाशकारिणी विभीषिकाएँ उत्पन्न हुईं। ऐसे संकटकाल में सुख-सन्तोष और प्राणों की रक्षा के लिए गरीब जनता के पास जो भी अन्न और धन शेष था वह विद्रोहियों, अत्याचारियों और लुटेरों ने उनसे बलपूर्वक छीन लिया। धनी-मानी, जमींदार, सरदार, सामन्त, राजकर्मचारी तथा राजपरिवार के सभी लोग इस राजनीतिक अव्यवस्था तथा अनिश्चित भयावह स्थिति से घबड़ा कर किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो गये थे। रीतिशाखा-काव्य में सुव्यवस्थित, सुदृढ़, और स्वाभाविक जीवन का चित्रण नहीं हुआ है। इसका कारण यह है कि जिस काल में इस काव्य की रचना हुई, जन-साधारण का जीवन असन्तुलित, अस्थिर, और अशान्तिपूर्ण हो उठा था। पतन और अवनति के काल में साहित्य भी जिसका कार्य जीवन का चित्रण है, पतनोन्मुख और दूषित हो जाता है।

यह सामन्त-युग था। शाहजहां के शासन के पश्चात् सामन्तों की जागीरदारी-प्रथा का विकास और प्रभुत्व स्थापित हो रहा था। दिल्ली के शासकों की राजनीतिक सत्ता और प्रभुत्व जब समाप्त हो गया सारा साम्राज्य छोटे-छोटे सुदृढ़ और सम्पन्न सूबों या राज्यों में बट गया। इन सूबों या राज्यों के अधिपति सामन्त एक प्रकार के सुसम्पन्न और सुखी सरदार थे जिनके सामने किसी भी कर्त्तव्य या कार्य का उत्तरदायित्व तो न था किन्तु खाने-पीने तथा भोग-विलास करने के लिए पर्याप्त धन और सभी साधन सुलभ थे। सामन्तों के सामने विरोधियों तथा लुटेरों से आत्म-

रक्षा करने का कोई प्रश्न ही न था; अतः उन्हें अन्य किसी प्रकार का दायित्व और चिन्ता न थी। उन्होंने अधिकतर अपने रंगमहल के प्रांगण में ही भोग और विलास का जीवन व्यतीत किया। औरंगजेब को छोड़ कर बाद के सभी मुगल-शासक विलासप्रिय थे। उनके रंगमहल में रानियों का जमघट लगा रहता था। ये रानियाँ शृंगारादि प्रसाधनों के लिए पानी की तरह धन बहाती थीं। परम सुकुमार जीवन का उपभोग ही उन्हें अभीष्ट था। दिल्ली के शासकों ने ऐसे उदाहरण सम्मुख रखे जिनकी स्पर्धा करने का प्रयत्न तत्कालीन सामन्तों ने भी किया। बहु-पत्नी-प्रथा एक साधारण बात बन चुकी थी और कोई भी व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार मनचाही रखैलें रख सकता था। कविगण बहुधा राजसभाओं में ही रहा करते थे तथा उनके आश्रयदाता उनसे सदैव मनोरंजन और चाटु-कारिता की ही आकांक्षा रखते थे। इसके लिए उन्हेंवे तन मिलता था और उनसे केवल इतना ही काम लिया जाता था कि वे ऐसी कविताएँ लिखें जो उनके आश्रयदाताओं के मानसिक स्तर तथा रुचि-प्रवृत्ति के अनुरूप हों। कबीर और तुलसी तथा रीति-शाखा-काव्य के कवियों में गहरा अन्तर है। यदि पूर्व कथित कवि जनता के कवि थे तो बाद वाले कुछ सामन्तों और जागीरदारों के वैतनिक कवि थे जिन्हें साधारण जनता का कोई ध्यान न था। इस कथन में तनिक भी अत्युक्ति नहीं कि इस काल के सम्पन्न सरदारों तथा पद-दलित शोषितों के जीवन तथा उनकी प्रवृत्तियों में बड़ा वैषम्य था। उच्च श्रेणी के सुखी सम्पन्न लोगों तथा निम्नवर्ग के लोगों की जीवन-चर्य्या में जरा भी साम्य न था। यह सुविधा केवल कुछ धनी-मानी जनों को ही प्राप्त थी कि वे अपना मनो-रञ्जन कर सकें। इस अभिप्राय की पूर्ति के लिए उन्होंने राजनर्तकियों, गवैयों, तथा कवियों को नियुक्त किया था।

इन आश्रयदाताओं का जीवन प्रधानतः भोग-विलास पूर्ण था। नैतिक तथा आध्यात्मिक विचारों के प्रति उनमें जरा भी आदर और श्रद्धा का भाव नहीं था। अतः रीतिकालीन कवियों की रचनाओं का घोर शृंगारी होना स्वाभाविक ही था। यही कारण है कि इनमें रहस्य-भावना अथवा अदृश्य कल्पना का सर्वथा अभाव मिलता है। इस युग में नायिका के सम्पूर्ण अंगोंपांगों का कामुक और मोहक वर्णन करना तथा उसको भिन्न-भिन्न प्रकार से विभिन्न वातावरणों तथा स्थितियों में इस तरह सजाकर प्रस्तुत करना ही कवियों का एकमात्र कर्त्तव्य बन गया कि नारी का स्वरूप और सौन्दर्य मन को तत्क्षण आकर्षित कर ले।

दो सौ वर्षों के इस लम्बे युग में जीवन की तरह काव्य में भी वासना और शृंगार की गहरी छाप दिखाई देती है और उसी की एकमात्र प्रधानता है।

सामन्तगण जिस प्रकार का जीवन व्यतीत कर रहे थे उसका उल्लेख हम पहिले ही कर चुके हैं। कभी-कभी जन-साधारण ने भी कठिनाइयों से त्राण पाने के लिए शृंगार और वासना का आश्रय लिया। कृष्ण-भक्ति-काव्य के प्रति उनके आकर्षण से यह कथन स्पष्ट हो जाता है। विवेच्यकाल में रामानन्द और तुलसी की मर्यादावादी रचनायें अपेक्षाकृत कम लोक-प्रिय होने लगीं तथा वल्लभाचार्य और उनके अनुयायियों की काव्य रचनाओं का महत्व बढ़ने लगा, क्योंकि उनकी शृंगारिकता लोक-रुचि के अनुकूल थी। वास्तव में देखा जाय तो इस काल का शृंगार और वासना की प्रवृत्ति युग की कठिनाइयों से ऊबकर पलायनवृत्ति की ही सूचना देती है। इस काव्यजगत में मनुष्य के भावों और विचारों, विशेषतः कामजन्य भावनाओं में निर्मलता या परिष्कार का लेशमात्र भी नहीं पाया जाता। शाहजहाँ तथा उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल में विकसित मुगल चित्रकला तथा मूर्तिकला के अध्ययन से भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। दिन प्रतिदिन अधिकाधिक शृंगारिक तथा कामुक चित्रों और मूर्तियों का निर्माण होता गया और अधिकाधिक लोगों के मन पर ये चित्र और मूर्त्तियाँ अपना कुत्सित-कामुक प्रभाव डालती गयीं। जीवन के सूक्ष्म और स्थायी सत्य की ओर संकेत करने की उनकी शक्ति धीरे-धीरे विलीन हो रही थी। उस युग की नैतिकता पर भी इसका दुष्परिणाम पड़ा। अनाचार और विषय-वासना का प्रभुत्व हो गया तथा जीवन में सुरुचि, संस्कृति, और पवित्रता की प्रतिष्ठापना और विकास करने वाले मूलभूत सिद्धान्तों के महत्व का सर्वथा लोप हो गया। रीति-काव्य-शाखा की पलायनवादी कविता ने इन्हीं परिस्थितियों में जन्म लिया। इससे इसके पलायनवादी होने के कारण का अनुमान सहज ही में लगाया जा सकता है।

रीति-काव्य ग्रन्थों की परम्परा का उद्गम संस्कृत साहित्य-शास्त्र के महान आचार्यों द्वारा प्रणीत काव्यगत्-सिद्धान्तों के आधार पर हुआ। संस्कृत काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत व्याकरण और शब्दशास्त्र का भी विचार एवं विवेचन होता था। संस्कृत-वाङ्गमय के विकास का अद्भुत क्रम टूटा नहीं। समय के साथ-साथ 'रस', 'अलंकार', 'रीति', 'वक्रोक्ति', 'ध्वनि' आदि पाँच बड़ी-बड़ी शाखाओं से सम्बन्धित साहित्य की रचना प्रभूत परिमाण में हुई तथा आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से साहित्य-सिद्धान्तों का निरूपण किया। फिर भी 'रीति' तथा 'वक्रोक्ति' का उतना विशदव्यापक, स्पष्ट और गम्भीर विवेचन नहीं हो पाया जितना शेष तीन शाखाओं का। इन्हीं तीन प्रकार के शास्त्रीय लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा से मेल खाते हुए रीति कालीन कविता विकसित हुई। इस काल के अधिकतर कवि अपनी रचनाओं में

एक प्रकार से सिद्धान्तों की ही चर्चा करने वाले थे। सिद्धान्तों का कथन एवं उनका उदाहरण उन्होंने अपने काव्य में साथ-साथ प्रस्तुत किया है। अतः हम सामान्यतः यह कह सकते हैं कि रीति-शाखा-काव्य का मूल आधार संस्कृत-काव्य-शास्त्र की तीन महान परम्पराओं पर अवलम्बित है। कवियों ने कभी एक पर और कभी अन्य सिद्धान्तों पर विशेष दृष्टि जमाई है। उदाहरणार्थ दास और कुलपति मिश्र ने 'व्यंजना' और 'ध्वनि' पर अधिक जोर दिया है। मतिराम और पद्माकर ने 'रस' को ही काव्य की आत्मा माना है तथा केशवदास और जसवन्त सिंह अलंकार शाखा का सूत्रपात करने वाले दो अग्रगण्य कवि थे। परन्तु इस सम्बन्ध में यह बात न भूलनी चाहिए कि यद्यपि संस्कृत-काव्य-शास्त्र के उन विचारकों का प्रभाव अस्वीकृत नहीं किया जा सकता जो कि संस्कृत-साहित्य के अग्रगण्य आचार्य थे फिर भी इस काल के कवियों पर परवर्त्ती मीमांसाओं अथवा टीकाओं का प्रभाव अधिक प्रबल और गहरा था। 'चन्द्रालोक', 'कुवलयानंद', 'रस-तरंगिणी' तथा 'रस मञ्जरी' जैसी पुस्तकें इन कवियों के लिए पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक उपयोगी और उपादेय थीं और सम्भवतः इन्हीं ग्रन्थों की सैद्धान्तिक-मान्यताओं को उन्होंने प्रामाणिकता की अपनी स्वीकृति दी क्योंकि इनके रचयिताओं ने अपने सिद्धान्तों के लक्षण निश्चित कर उनकी उदाहरणों सहित व्याख्या की थी। विभिन्न अलंकारों की विशेषताओं, उनके गुणों का उल्लेख और साथ-साथ व्याख्यात्मक ढंग पर उसके वर्णन करने की प्रणाली एवम् 'नायिका-भेद' का विशेष विवेचन होने के कारण इस काल के कवियों ने परवर्त्ती संस्कृत काव्य-शास्त्रियों के ग्रन्थों को ही अपना आधार बनाया।

कुछ अनुसन्धानकर्त्ताओं ने यह दिखलाने का सफल प्रयास किया है कि इस काल में पूर्ण विकसित होने वाले लौकिक-मुक्तक-काव्य-रचनाओं का प्रारम्भ ईसा के जन्म के पश्चात की दो-एक शताब्दियों के आसपास हुआ था। सिन्धु और गंगा के मैदानों में बसने वाले आर्यों की संस्कृति के साथ अन्य संस्कृतियों का मिश्रण और समावेश हुआ। कर्मठ तथा उद्योगी होने के साथ-साथ आर्यों ने आध्यात्मिक तथा सांसारिक विषयों सम्बन्धी चिन्तन आरम्भ कर दिया था। इसीलिए एक ओर जहाँ उन्होंने नैतिक और धार्मिक विधि-विधानों का सूत्रपात किया तो दूसरी ओर आत्मदर्शन सम्बन्धी परिपाटी का निर्माण भी। उनकी वाणी में सौन्दर्य-प्रेम और सूक्ष्म दार्शनिक स्वरों का संयोजन था जो किसी साधारण प्रतिक्रिया का परिणाममात्र न था। जब इस देश में आभीर लोगों का आगमन हुआ तो वे मूल आर्य निवासियों के साथ घुल-मिल गये। उनके इस सामाजिक समागम ने उस काल की कविता को नयी वाणी दी। सहज स्वाभाविक,

स्वच्छन्दता तथा विशुद्ध लौकिक भावनाएँ ही आभीर लोगों के गीतों की अनोखी विशेषताएँ थीं । इस कारण उनके गीतों ने साहित्य के क्षेत्र में एक विशिष्ट स्थान बना लिया था । इस प्रकार उन लोगों की सरल शृंगारिक गीतों की परम्परा का श्री गणेश हुआ जो केवल जीवित ही नहीं रही अपितु अनुकूल परिस्थितियों को पाकर रीति-काव्य-शाखा की समृद्ध कविता के रूप में प्रति-फलित हुई। इस सम्बन्ध में कवि हाल की 'सतसई' सर्वप्रथम पुस्तक है जिसका उल्लेख परमावश्यक है। संस्कृत और प्राकृत की रचनाओं तथा हिन्दी के प्रारंभिक कवियों की स्फुट गीतमय-कविताओं में भी उसका प्रभाव बराबर अपना कार्य करता रहा ।

दूसरे प्रकार के काव्य की श्रेणी में देवी-देवताओं की प्रार्थना के रूप में लिखे गये वे स्तोत्र आते हैं जिसमें रीति-काव्य-परम्परा की घोर शृंगारिक कविता को प्रोत्साहन और संबल मिला । ऐसे कितने ही स्तोत्र रामायण और महाभारत में हैं। लेकिन आगे चलकर लक्ष्मी, गंगा, शिव, विष्णु और राम आदि के सम्बन्ध स्तोत्रों की संख्या निरंतर बढ़ती गयी । इन छन्दबद्ध प्रार्थनाओं का उद्देश्य स्पष्टतः भिन्न-भिन्न देवी और देवताओं को प्रसन्न करना था परन्तु अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि घोर शृंगारिक भावों और काल्पनिक रूपकों के हाथों भक्ति-भावना की निर्मम हत्या हुई। इस शृंगारिक-प्रवृत्ति ने कभी-कभी तो सीमा का ऐसा अति-क्रमण कर दिया कि धार्मिक उद्देश्य और पवित्र-भावना से लिखी हुई कविताएँ अश्लीलता के द्वार पर अपना आसन जमाती हुई सी प्रतीत होती हैं। कलुषित शृंगा-रिक-भावों के प्रदर्शन के लिए आध्यात्मिकता का एक अच्छा बहाना मिल गया। इन शृंगारिक तथा स्तोत्र के ढंग पर लिखे गये भद्दे गीतों ने रीति-काव्य-परम्परा का मार्ग प्रशस्त किया, ऐसा मानना तात्त्विक दृष्टि से उचित है। इसके अति-रिक्त उस समय संस्कृत और प्राकृत में ऐसी एक अन्य परम्परा भी प्रचलित थी। दो सौ वर्षों के इस हिन्दी-काव्य के स्वरूप-निर्माण पर किसी-न-किसी अंश में उस परम्परा के प्रभाव का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में दो-एक नामों का उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा । यह माना जा सकता है कि विद्यापति तथा सूरदास के पदों ने अपनी भावना तथा वाणी के द्वारा हिन्दी के रीति-शाखा-काव्य का आह्वान किया । विद्यापति की वाणी में शृंगार का स्वर तीव्र है जो सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के रीतिकालीन काव्य की पूर्वपीठिका प्रस्तुत करता है । उसी प्रकार अंगोपांगों के मादक सौन्दर्य से युक्त चित्रमयी और संगीत-पूर्ण पंक्तियाँ तथा कुछ ऐसे पद सूरदास ने लिखे हैं जो हमारे चेतन चित्त को चंचल कर देते हैं। ऐसे साहित्य के सर्वांगीण अनुशीलन के पश्चात् हम इस तरह की काव्य-परम्परा का सूत्र खोज निकालने में समर्थ हो

सकते हैं जिसका अस्तित्व हमें प्राचीन-काल के साहित्य में बराबर मिलता है। यही आगे चलकर रीति काव्य-शाखा के रूप में परिवर्तित हो गया। 'कामसूत्र' के प्रभाव ने भी कम-से-कम अंशतः इस युग की घोर शृंगारिक, वासनात्मकप्रवृत्ति को पुष्ट किया। यह सर्वविदित है कि वात्स्यायन के 'कामसूत्र' ने अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त की थी, अतः उसका बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। वासना विषय रुचि उत्पन्न करने के अलावा 'कामसूत्र' ने अन्य सामग्री भी प्रस्तुत की जिसका यथेष्ट उपयोग इस काल के कवियों न निरन्तर 'नायिका' भेद तथा एसे ही अन्य विषयों के प्रसंग में किया।

रीतिकालीन काव्य की संक्षिप्त विवेचना कर चुकने के पश्चात् अब हम उसकी प्रमुख विशेषताओं पर दृष्टिपात करेंगे। यह स्पष्ट हो चुका है कि इस साहित्य की उत्पत्ति प्राचीन साहित्यिक परम्परा से हुई तथा संस्कृत काव्याचार्यों के ग्रन्थों को प्रमाण मानकर इसका प्रणयन हुआ। युग की तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों से ही अधिकतर इसकी प्रकृति और इसके गुणों का निर्धारण हुआ। इसका सम्बन्ध जन-साधारण से नहीं था अपितु अपने आश्रयदाताओं को सुख और आनन्द पहुँचाने के उद्देश्य से कवियों ने इसका निर्माण किया। इन्हीं सब कारणों का फल है कि इस काव्य में स्थायित्व, ओज, सुरुचि, तथा अन्यान्य गुणों की कमी है जो उच्च कोटि के साहित्य में पाये जाते हैं। इसीलिए शृंगार ही इस काल की विशेषता बतलाई जाती है। यह आत्मदर्शन सम्बन्धी विचारों तथा सुन्दर भावनाओं से रहित है। इस रीति-काव्य-परम्परा को हम निष्प्राण भौतिकवादी परम्परा के नाम से पुकार सकते हैं। किन्तु अपनी सीमित और संकुचित परिधि के अन्तर्गत, हम कह सकते हैं कि इसने अपनी कुशलता का सुन्दर परिचय देकर लोगों के मनोरञ्जन का कार्य किया।

इस काल के कवियों का उद्देश्य प्राचीन श्रेष्ठ साहित्य कलाविदों के पदचिह्नों का अनुकरण करना था, अतः उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों का अवलोकन किया और उनके ढंग पर रचनाएँ कीं। उनकी रचनाओं में हम काव्य के अद्भुत लक्षण तथा उनके पांडित्य का सुन्दर समावेश देखते हैं। कवि रूप में उनका लक्ष्य निस्संदेह कुछ चुने हुए लोगों का मनोविनोद करना था जिनसे उन्हें काव्य-रचना का आदेश मिलता था, किन्तु विद्वत्ता की दृष्टि से उन्होंने काव्य-कला के सिद्धान्तों तथा उनके प्रयोगों का समुचित ज्ञान देने का सफल प्रयास किया है। पाश्चात्य देशों में कवि और आचार्य का एकीकरण केवल समय-समय पर हुआ है। उदाहरणार्थ गेटे, कॉलरिज, तथा मैथ्यू आरनॉल्ड का उल्लेख किया जा सकता है। किन्तु जिस प्रकार इन कवियों का काव्य एकांगी है उसी प्रकार इनकी काव्य-शास्त्र विषयक मीमांसाएँ भी अपूर्ण और अपर्याप्त हैं। तर्क-वितर्क, खंडन-मंडन, और सिद्धान्तों के मौलिक विवेचन

का प्रयत्न नहीं हुआ है। उन्होंने जो कुछ भी लिखा वह संस्कृत आचार्यों द्वारा पहिले भी लिखा जा चुका था। इनकी विवेचना सुस्पष्ट और सीधी नहीं है और न तो वह सन्तोषप्रद ही हुई है। गूढ़-विषयों के विवेचन के लिए उपयुक्त गद्य-भाषा का समुचित माध्यम विकसित नहीं हुआ था तथा इस ह्रासोन्मुख युग में विषय की तह में पैठकर उसके समुचित अनुशीलन की प्रवृत्ति का प्रायः लोप हो गया। इन कवियों ने जब भरत, दण्डी, अभिनव गुप्त अथवा मम्मट की अपेक्षा भानुदत्त के मार्ग और उनके सिद्धान्तों को अपनाया तब उन्होंने सचमुच एक बड़ी गलती की। यद्यपि कुछ कवि काव्यांगों के गहन और गम्भीर अध्ययन में प्रवृत्त हुए किन्तु उनकी दृष्टि दोषयुक्त प्रतीत होती है। वे विषय का सम्यक बोध कराने में असमर्थ हैं।

इस प्रकार के काव्य के बारे में यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि इसका प्रथम और प्रधान लक्ष्य शृंगार तथा तत्सम्बन्धी विषय ही हैं। इस एकाँगी साहित्य की ऊँची उड़ान 'नायिका-भेद' और 'नख-शिख' तक ही सीमित है। विभिन्न अव-सरों तथा परिस्थितियों में प्रेमियों की भावनाओं में तरह-तरह के परिवर्तन दिखलाने के उद्देश्य से ही प्रकृति को माध्यम बनाया गया है। यह उल्लेख हम पहले ही कर आये हैं कि शृंगार, वासना, तथा तद्विषयक भावों पर कवियों ने इतना अधिक ध्यान क्यों दिया है। अब केवल यह और बतला देना आवश्यक है कि इन ग्रन्थों में वर्णित नायक और नायिकाओं में मधुर भावों की प्रधानता है। इनका हृदय सूक्ष्म और रहस्यात्मक विचारों और भावनाओं से प्रेरित नहीं तथा अन्य किसी प्रकार की समस्याओं से ये सर्वथा मुक्त हैं। उनके मूल में स्त्री-पुरुष सम्बन्धी वासनाजन्य भौतिक आकर्षण ही विद्यमान रहता है जो जीवन का केवल एक पक्ष मात्र है। इस प्रसंग में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि रीति शाखा-काव्य पारिवारिक बन्धनों तथा वैवाहिक सम्बन्धों की अवहेलना नहीं करता। परकीया या दूसरे से सम्बन्ध रखने वाली स्त्री की अपेक्षा स्वकीया अथवा पतिपरायणा स्त्री की सदा अधिक प्रशंसा की गई है तथा धन के लिए अपना प्रेम प्रदर्शित करने वाली गणिका को सदा हेय और तुच्छ दृष्टि से देखा गया है। यह सन्तोष का विषय है कि सदाचार और सामाजिकता का इतना विचार तो कम-से-कम इन कवियों में सुरक्षित रह पाया।

जहाँ तक छन्द-विधान का प्रश्न है, लघु छन्दों के प्रयोग की विशेष अभिरुचि परिलाक्षित होती है। जायसी, तुलसी, तथा अन्यान्य कवियों द्वारा प्रयुक्त 'चौपाई' तथा 'दोहों' का प्रयोग इस काल के शृंगारी कवियों ने नहीं किया है। उनके प्रिय छन्द दोहा, कवित्त, और सवैया थे। आकार की दृष्टि से सबसे लघु होते हुए भी दोहों में रस का सागर भर दिया गया है, जैसा कि बिहारी की रचनाओं से स्पष्ट है।

कवित्त छन्द में सरस प्रवाह होता है तथा यह 'श्रृंगार' और 'वीर' दोनों ही रसों की रचनाओं के लिए उपयुक्त होता है । सवैया की गति में मन्द-मदिर स्निग्धता रहती है। यह वासना युक्त प्रेम काव्य के वर्णन में लालित्य और माधुर्य का संचार करता है ।

मतिराम, भूषण, देव, बिहारी, तथा पद्माकर जैसे श्रेष्ठ कवियों ने बड़ी निपुणता से उपरोक्त छन्दों का अद्भुत प्रयोग किया है। इन इने-गिने छन्दों में बँधकर काव्य ने सीमित किन्तु अद्भुत सफलता प्राप्त की। साहित्य के विस्तृत और व्यापक गगन में उसने उन्मुक्त पंछी की तरह पंख फैला कर स्वच्छन्द विहार नहीं किया । फिर भी अपने सीमित प्रांगण में यह काव्य अपने समस्त कलात्मक कौशल का पूर्ण परिचय देता है। काव्य की सजावट के लिए अलंकारों का अतिशय प्रयोग खटकता है। अनुप्रास और यमक पर निर्भर संगीत के साथ कठिन श्रम किया गया है तथा अभिव्यक्ति में परुषता, कर्णकटुता, एवं असंगति-दोष से बचने के लिए बड़ी सावधानी से काम लिया गया है । लाक्षणिकता तथा व्यंग्य का पुट बराबर मिलता है । किन्तु जिन रूपकों और प्रतीकों से काम लिया गया है वे अत्यन्त सीमित क्षेत्र से लिये गये हैं तथा सामान्यतः रूढ़िगत हो चुके हैं। इन कवियों द्वारा प्रयुक्त शब्दों तथा पदों में मिठास है किन्तु निरन्तर-व्यवहार से वे रूढ़िबद्ध हो गये हैं। काव्य की भाषा जन-साधारण की भाषा नहीं है। इसका कारण यह है कि यह काव्य न तो जन-साधारण का काव्य है और न जन-साधारण के लिए इसकी रचना ही हुई है । इसकी कृत्रिम शब्दावली और पदावली का सबसे बड़ा गुण यह है कि जिस उद्देश्य से इसका व्यवहार हुआ है उसकी प्राप्ति के लिए यह सर्वथा उचित और उपयुक्त है। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से लेकर दो सौ वर्षों तक गतिशील रहने वाली इस काल की कविता के मूलभूत सिद्धान्तों की सामान्य विवेचना करने के पश्चात् अब हम अगले दो प्रकरणों में इस काल के प्रधान कवियों तथा उनकी रचनाओं पर विचार करेंगे। रीति काल के इस दो सौ वर्षों के लम्बे युग को हम 'पूर्व-रीतिकाल' तथा 'उत्तर-रीतिकाल' के नाम से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं जिनको हम सुविधा के विचार से क्रमशः 'देव-युग' और 'पद्माकर-युग' के नाम से पुकारेंगे। रीतिकाल के अन्तर्गत इन दो युगों की रचनाओं में विभेद सूचक लक्षण स्पष्ट हैं, अतः दोनों का अलग-अलग विचार तथा प्रत्येक के लिए स्वतंत्र प्रकरण देना समीचीन होगा।

दशम प्रकरण

प्रारंभिक रीतिकाव्य (१६५०–१७५०)

चिन्तामणि—

चिन्तामणि त्रिपाठी इस नये युग की काव्य श्रृंखला की प्रथम कड़ी हैं। उनके पश्चात् रीति-काव्य की धारा अबाध गति से निरन्तर अग्रसर हुई। रत्नाकर त्रिपाठी के चारों पुत्रों में वे ज्येष्ठ थे, उनके अन्य तीन भाई क्रमशः मतिराम, भूषण और जटाशंकर थे। मतिराम और भूषण हिन्दी के उच्चतम कवियों में स्थान पाते हैं, जैसा हम प्रस्तुत प्रकरण में देखेंगे। अपने अन्य भाइयों की तरह जटाशंकर उच्चकोटि के तो नहीं फिर भी अच्छे कवि थे। इन कान्यकुब्ज-वंशीय कवियों का निवास स्थान टिकवाँपुर था जो वर्तमान कानपुर जिले के अन्तर्गत है। चिन्तामणि का जन्म सन् १६०९ के लगभग हुआ था तथा उनका रचनाकाल ई० १६४३ के लगभग अनुमानित किया जा सकता है। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कवि कुल कल्पतरु' सन् १६५० में रचा गया था इसमें काव्य के भिन्न-भिन्न ज्ञातव्य अंगों पर विचार हुआ है। 'काव्य प्रकाश', 'रामायण', 'काव्य विवेक' और 'छन्द-विचार' उनके द्वारा रचित अन्य ग्रन्थ माने जाते हैं।

चिन्तामणि त्रिपाठी प्रकाण्ड विद्वान थे, उनकी पुस्तकों में पिंगल-शास्त्र के सम्पूर्ण अंगों का समावेश हो जाता है तथा उनमें साहित्यिक-रचना सम्बन्धी कई विषयों पर गम्भीर तर्क-वितर्क प्रस्तुत हुए हैं। छन्द-शास्त्र सम्बन्धी उनका ग्रन्थ उच्च कोटि का सफल प्रयास है। कवि के रूप में उन्हें अच्छी ख्याति प्राप्त हुई। उनकी कविताओं में भाव और स्वरूप दोनों का सफल चित्रण है। उन्होंने विशुद्ध ब्रजभाषा में रचना की है जिसमें अवधी तथा स्थानीय भाषा के प्रयोग नहीं मिलते हैं।

अपने जीवन काल में कवि का यथेष्ट सम्मान हुआ तथा कई राजाओं एवं श्रीमंतों का आश्रय इन्हें प्राप्त था। संक्षेप में आचार्य और कवि दोनों रूपों में उनका स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है।

राजा यशवंत सिंह—

मारवाड़ के सुप्रसिद्ध शासक यशवन्त सिंह सन् १६२५ में पैदा हुए थे और अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् तेरह वर्ष की बाल्यावस्था में ही राजसिंहासन पर बैठे। कुटनीतिज्ञ तथा कुशल योद्धा के रूप में उनके चरित्र का सफल विकास हुआ तथा तत्कालीन राजनीतिक घटनाओं पर वे एक अमिट छाप अंकित कर गये। उन्होंने कई युद्धों में मुगलों का साथ दिया और सन् १६८१ में अफगानों से युद्ध करने में उन्होंने अपने प्राण गँवाये। वे कवि, दार्शनिक, साहित्य के महान् प्रेमी और पोषक थे। उन्होंने व्यापक विद्या-प्रसार को ऐसा प्रोत्साहन और संबल दिया कि निरक्षरता और अज्ञान उनके राज्य से सदा के लिए निष्कासित हो गये, ऐसी किंवदन्ती है। दर्शन-शास्त्र सम्बन्धी चार ग्रन्थ उन्होंने लिखे और 'भाषा-भूषण' नामक पाँचवाँ ग्रन्थ, अलंकारों पर। 'चन्द्रालोक' के ढंग पर 'भाषाभूषण' की रचना हुई है जिसमें दोहों में लक्षण और दृष्टान्त रखने की रीति अपनाई गई है। अतः यह एक गुटके की तरह है जो अपने रचना-काल से ही विशेषतः उन लोगों के बीच अधिक लोकप्रिय रहा जिन्होंने जगत का सारा ज्ञान कंठाग्र करना चाहा। परवर्ती वर्षों में कई कवियों ने इसको काव्य-शास्त्र के प्रमाण ग्रन्थ की मान्यता देकर इस पर कई टीकाएँ लिखीं। वास्तव में 'अर्थालंकारों' का पर्याप्त विवेचन इसमें हुआ है यद्यपि 'शब्दालंकारों' का निर्वाह नाममात्र के लिए ही किया गया है। महाराज यशवन्त सिंह का नाम महान् काव्यमर्मज्ञ तथा अलंकार-शास्त्र के आचार्य के रूप में ही हमें ज्ञात है। उनकी काव्य-रचना का कौशल प्रशंसनीय और स्तुत्य था यद्यपि उनकी रचनाओं में काव्य के प्रतिभापूर्ण विचक्षण गुण यत्र-तत्र ही पाये जाते हैं।

बिहारी लाल सन् (१६०३-१६६३)

एडविन ग्रीव्स ने बिहारी लाल के जीवन और कृतित्व का संक्षिप्त परिचय इन शब्दों में दिया है—"साधारणतः यह माना जाता है कि बिहारी लाल ब्राह्मण थे और सन् १६०३ में ग्वालियर के निकट पैदा हुए, बाल्यकाल बुन्देलखण्ड में बीता, प्रारंभिक यौवन-काल पत्नी के सम्बन्धियों के साथ मथुरा में व्यतीत हुआ पश्चात् उन्होंने जयसिंह के राजभवन में स्वतन्त्र निवास पाया, जो जयपुर के शासक और कवि के आश्रयदाता थे।"

एक बार राजमहल में एक अनिंद्यसुन्दरी नववधू का पदार्पण हुआ था। राजा उसके सौन्दर्य के मोह-पाश में ऐसा बँध गया कि राज्य कार्य सर्वथा उपेक्षित हो गया तथा रानी के रंगमहल से उसको मुक्त करने के लिए उसके मन्त्रियों के सारे प्रयत्न विफल हुए; उसने अपना सारा समय नवेली दुलहिन के साथ

रासरंग करने में व्यतीत किया। बिहारी द्वारा रचित यह दोहा किसी प्रकार राजा के हाथ में पहुँचा—

> नहिं परागु, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल।
> अली कली ही सौं विध्यौ, आगै कौन हवाल॥

प्रस्तुत दोहे ने अपना वांछित कार्य संपादित किया, प्रेमासक्त राजा अपनी मोह-निद्रा से जागृत हो गया। उसने अपना उत्तरदायित्व पुनः सँभाला और उसे कवि को जिसने उसे अज्ञानांधकार से सचेत किया था विशेष अनुग्रह-प्रदान किया। फिर तो इसके बाद लगातार दोहों की अविरल रचना हुई, जब तक 'सतसई' के सात सौ दोहे पूर्ण न हो गये। वास्तव में आजकल जो 'सतसई' प्रकाशित हुई है उसमें सात सौ नहीं वरन् सात सौ छब्बीस दोहे संकलित हैं।

"इसी एक रचना पर कवि का गौरव अवलंबित है तथा हिन्दी के साहित्यिकों में उनका स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।"

साहित्य-प्रेमियों के बीच बिहारी की प्रचुर लोकप्रियता का कारण उनकी भावों तथा अर्थ की मर्मस्पर्शी, चमत्कारपूर्ण नियोजना है। सम्भवतः विश्व-साहित्य में ऐसे उदाहरण बिरले ही मिलेंगे जो गागर में सागर भरने की क्षमता के विचार से इस कवि की समता कर सकें। दोहों में प्रस्तुत प्रत्येक भाव अपनी सम्पूर्ण विविधता से अंकित हुआ है तथा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष संकेतों, योजनाओं और उपमाओं के प्रयोगों द्वारा शब्दों से अधिक भावों का चित्रण हो जाता है। कम शब्दों द्वारा अधिक भावों की व्यञ्जना की इसी शाब्दिक संकुलता के कारण बिहारी के पश्चात् सैकड़ों कवि दोहों में अपूर्व और अत्यधिक भाव-गुण को प्रस्फुटित करने में निरन्तर यत्नशील रहे।

इसी भाँति विलक्षण मर्म्मस्पर्शिता द्वारा दोहे का स्वरूप निर्धारित हुआ। इसमें चुटकुले की-सी मधुर विशेषता रहती है जिससे अर्थ तत्क्षण ही बोधगम्य हो जाता है। उसे अपने लक्ष्य-भेदन में समय नहीं लगता। बिहारी ने अपने युग की साहित्यिक प्रवृत्ति को सुरुचिपूर्ण बनाने और अपने काव्य में सौष्ठव लाने का स्तुत्य प्रयास किया है। बुन्देलखण्डी और ब्रजभाषा के मिश्रण से युक्त जनभाषा का परिष्कार कर उसे उच्च स्तर पर पहुँचाया गया है, अतः कविता में ग्रामीण प्रयोग क्वचित ही हुआ है यद्यपि दोनों भाषाओं में व्यवहृत होनेवाले शब्दों का प्रयोग निःसंकोच किया गया है। अलंकारों के बहुल प्रयोग द्वारा भाषा की समृद्धि हुई है तथा अनुप्रासों के उचित और स्वाभाविक व्यवहार से उसमें संगीत और ध्वनि-माधुर्य्य भरा गया है। बिहारी, वास्तव में अलंकारों के महान आचार्य और ज्ञाता थे तथा उनका प्रचुर प्रयोग उन्होंने अपने काव्य में किया है, अतः अलंकारों के सुन्दर और उत्कृष्ट उदाहरण उनकी रचनाओं से

चुने जा सकते हैं। इस अलंकारिता का यह अर्थ नहीं है कि बिहारी की पैठ हृदय की गहरी भावनाओं में नहीं थी। निस्सन्देह सतसई द्वारा मानव-मन के क्रिया व्यापारों तथा प्रेमजन्य भावनाओं की उलझनों का पता चलता है। उन्होंने प्रणय-जन्य क्रिया तथा प्रतिक्रियाओं का चित्रण मौलिक और श्लेषात्मक ढंग से करने में सर्वाङ्गीण सफलता प्राप्त की है। इन प्रेम भावनाओं और तत्सम्बन्धी विषयों के चित्रण में उन्होंने अभिव्यञ्जना के उत्कृष्ट कौशल का प्रदर्शन किया है। अमूर्त्त भावों और विचारों के साथ-साथ मूर्त्त चेतन पदार्थों के सचित्र वर्णनों की उनकी शक्ति असाधारण थी तथा काव्य रचना में इन सब की नियोजना उनकी अनुपम अभिव्यञ्जना-प्रणाली से ही संपादित हो सकी है।

हिन्दी के विशिष्ट कवियों में बिहारी का स्थान उच्च है यद्यपि सापेक्ष्य दृष्टि से उनका उचित स्थान निर्धारित करना सरल नहीं है। उनके दोहों के प्रेमी और प्रशंसक सूर और तुलसी के बाद उनकी गणना करते हैं परन्तु अन्य विद्वानों को यह निर्णय पक्षपातपूर्ण प्रतीत होता है। इसमें सन्देह नहीं कि जिस सूक्ष्म और दुरूह काव्य-कला की साधना में बिहारी ने अपने को संलग्न किया उसमें उन्हें महान् सफलता मिली। उनकी निपुणता तथा सूक्ष्म स्पर्शिता हमें नक्काशी और बेल-बूटे की कारीगरी की सुधि दिलाती है तथा वासना और सौन्दर्य तत्त्व से उनका घनिष्ट परिचय हमारे विस्मय और कौतूहल को जगाता है। किन्तु इसीलिए बिहारी उच्चतम गौरव के भागी नहीं होते क्योंकि उच्च कोटि का काव्य केवल कारीगरी नहीं है और न वह प्रेम-विषयक संकुचित दुनिया तक ही सीमित है। बिहारी का काव्यक्षेत्र संकुचित और सीमित है। भोग-विलास सम्बन्धी विषयों को अत्यधिक प्रधानता देना काव्य के महत्त्व को उसके सर्वोच्च-शिखर से पदच्युत कर देता है। इस प्रकार सूर, तुलसी, जायसी और कबीर की तुलना में उनका निम्न स्थान होना निश्चित है क्योंकि इन कवियों की रचनाओं में हम जीवन को उसके स्वाभाविक और पूर्ण अंश में स्पष्ट चित्रित पाते हैं तथा तुलनात्मक दृष्टि से उनमें मनुष्य के विचारों और भावनाओं का स्वाभाविक विलास है।

बिहारी की सभी रचनाएँ दोहों में हैं अतः न तो उनमें विचारों की एकरूपता है और न उनका समरस प्रवाह ही सम्पन्न होता है। उनमें विकास के तारतम्य का अभाव है। बिहारी के दोहों में संक्षिप्त और चुस्त अभिव्यञ्जना-शैली का प्रयोग हुआ है और अपनी सफाई के कारण वे उर्दू-काव्य की याद दिलाते हैं। इस प्रकार बिहारी की कविता एक विशिष्ट प्रकार की रचना का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है।

भूषण—

चिन्तामणि के छोटे और मतिराम के बड़े भाई का नाम भूषण था। उनके

नाम का ठीक-ठीक पता नहीं लगता। अपने अन्य भाइयों की भांति उनका जन्म टिकवाँपुर नामक ग्राम में हुआ था। उनकी जन्म-तिथि के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता लेकिन यदि हम उसे १६१३ मानें तो अनुचित न होगा। दीर्घ और यशस्वी जीवन बिता चुकने के बाद उनकी मृत्यु सन् १७१५ के लगभग हुई थी। उनके कवि-जीवन का प्रारम्भ १६४८ ई० के आस-पास माना जाता है। सम्भवतः किसी उदार और सहृदय आश्रयदाता की असफल खोज के पश्चात् वे अन्त में शिवाजी के साहचर्य्य और सहृदयता प्राप्त करने में सफल हुए जो उस समय हिन्दुओं की खोयी हुई मान-मर्यादा और शक्ति को पुनः संस्थापित और संगठित करने के लिए प्रयत्नशील थे। इस हिन्दू वीर सेनानी में भूषण ने, जिनमें आत्म-सम्मान, उदारता और जातीय गौरव की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी, एक ऐसा उदार आश्रयदाता और तेजस्वी वीर पाया जिसकी महान विजयों और साहस-पूर्ण कार्यों को उन्होंने अपनी काव्य-रचना का विषय बनाया। भूषण ने शिवाजी से प्रचुर-मात्रा में धन पाया किन्तु फिर भी वे अपने समय के अन्य कवियों की भाँति किसी अयोग्य जागीरदार के कोरे प्रशंसक या सेवक नहीं थे। सम्भवतः इस वीर छत्रपति के प्रति उनका अधिक आकर्षण उनके कवि कर्म के लिए अटूट धन-राशि से अधिक प्रेरणादायक था। पन्ना के महाराज छत्रसाल दूसरे पराक्रमी वीर थे जिनको अपने काव्य द्वारा अमर बनाने का प्रयत्न भूषण ने किया। छत्रसाल को अपने समय के अन्य राजाओं की अपेक्षा शिवाजी की सहानुभूति और प्रशंसा अधिक मात्रा में प्राप्त थी। देशभक्त, वीर और उदात्त आश्रयदाताओं की प्रशंसा में भूषण ने काव्य-रचना की, अतः अतिशय शृंगारिकता के दोष से उनकी कविता सर्वथा मुक्त है। जब कि उस युग के अन्य कवियों में विलासिता तथा तत्सम्बन्धी वर्णनों को ही अपने काव्य का विषय बनाये रखने की निरर्थक, दोषपूर्ण, और नीरस परिपाटी चल निकली थी ऐसे समय में इस महान् कवि ने शृंगार-रस का परित्याग किया और अपनी प्रतिभा अन्य रसों विशेष कर 'वीर' और 'रौद्र' के सृजन में लगा दी। अतः भूषण का अवतरण, जिसने एक तरह से युग की पतनोन्मुखी प्रवृत्तियों का परिहार किया, वास्तव में आश्चर्य-जनक, मौलिक, और नवोत्साह भरने वाली चेतना का उद्गम था। उनके निर्भीक गुरु-गम्भीर स्वर रव ने तूर्यनाद की भाँति पददलित और सुषुप्त हिन्दुओं को पुन-र्जागरण तथा नवप्रयत्नों के उत्साह का संदेश दिया। भूषण कोरे राजकवि ही नहीं थे वरन् उनके प्रशंसकों की संख्या अत्यधिक थी और उन्होंने जन-साधारण के हृदय को पुलकित तथा स्पन्दित किया। उनके काल से आज तक निरन्तर बनी हुई उनकी लोकप्रियता इस कथन की पुष्टि करती है। जब कि अद्भुत काव्य-प्रतिभासम्पन्न उनके छोटे भाई मतिराम की ख्याति आज केवल प्राचीन काव्य

में रुचि रखनेवाले कुछ मुट्ठी भर लोगों तक ही सीमित रह गयी है। देश के सभी भागों के लोगों में, जहाँ-जहाँ हिन्दी भाषा बोली या समझी जाती है, भूषण का काव्य आज भी आदर से पढ़ा जाता है। इसका कारण यह है कि भूषण ने अपने काव्य का विषय ऐसा चुना जो प्रेमी-प्रेमिकाओं के मिलन-विरह से कहीं अधिक श्रेष्ठ और सुन्दर था तथा जो रीतिकालीन कविता के स्वीकृत लक्ष्य से सर्वथा भिन्न था।

कवि भूषण की प्रतिनिधि रचना 'शिवराज भूषण' है जो तत्कालीन अन्य रचनाओं की तरह अलंकार-प्रधान है। लेकिन यह अपने युग की रचनाओं से कुछ भिन्न है क्योंकि इसमें दिये हुए उदाहरण केवल श्रृंगार के ही नहीं अपितु अन्यान्य रसों से भी लिये गये हैं। इस पुस्तक की श्रेष्ठता के बारे में मतभेद हो सकता है। किन्तु इतना तो निश्चित है कि इस में विविध अलंकारों का निर्वाह उतना सन्तोषप्रद नहीं हुआ है, जितना उनके छोटे भाई मतिराम के तत्सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'ललित-ललाम' में। भूषण की अन्य पुस्तकें 'शिवा बावनी' और 'छत्रसाल दशक' हैं जो दोनों आकार में छोटी हैं। उनके द्वारा लिखी हुई अन्य तीन पुस्तकें और बतलाई जाती हैं लेकिन अभी तक वे प्राप्त नहीं हुई हैं। उन पुस्तकों के नाम 'भूषण उल्लास', 'दूषण उल्लास', और 'भूषण हजारा' हैं। भूषण का महत्त्व अपने युग से ऊपर उठकर समकालीन कविता को श्रृंगार और वासना के दल-दल से बाहर निकालने में है। उनकी श्रेष्ठ रचनाओं का वास्तविक मूल्य विषय की सुन्दरता और गम्भीरता में निहित है। उनके काव्य में कुछ ऐसे ओजस्वी तत्व हैं जिन्होंने क्षुब्ध और नैराश्यपूर्ण वातावरण में उत्साह का संचार किया। भूषण अपने युग के प्रतिनिधि कवि थे और उनका गम्भीर स्वर असंख्य देशवासियों के कानों में गूँज उठा। यह सत्य है कि उनकी कुछ कविताएँ यथेष्ट रीति से परिस्कृत नहीं हैं। कभी-कभी उन्होंने स्थानीय और बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है और यदा-कदा उनके प्रयोग व्याकरण के नियमों का उल्लंघन कर गये हैं फिर भी उनकी अधिकतर कविताएँ उत्कृष्ट काव्य का सुन्दर आदर्श प्रसतुत करती हैं तथा वे हर प्रकार से श्रेष्ठ काव्य के दुर्लभ उदाहरण हैं।

मतिराम—

मतिराम त्रिपाठी रत्नाकर त्रिपाठी के तीसरे पुत्र और भूषण के छोटे भाई थे। उनका जन्म सम्भवतः १६१७ ई० में हुआ था और लगभग सौ वर्षों तक जीवित रहकर १७१६ ई० में वे परलोकगामी हुए। कई वर्षों तक वे बूँदी के महाराज भावसिंह के राजकवि थे जिनको उन्होंने अपनी पहली महत्त्वपूर्ण रचना 'ललित ललाम' समर्पित की है। इस ग्रन्थ में उनकी कई ऐसी कविताएँ हैं जिनमें अपने

आश्रयदाता के प्रति उनकी श्रद्धाञ्जलि अर्पित है। ऐसा प्रतीत होता है कि राय भाव सिंह बड़े ही उदार शासक थे और उनके दरबार में मतिराम सम्मान-पूर्वक रहते थे, किन्तु एक बार मतिराम के भ्राता भूषण के बूँदी आने पर उनके प्रति पर्याप्त आदर और विनम्रता न लक्षित होने के प्रश्न को लेकर अन्त में कवि और उनके आश्रयदाता के बीच पारस्परिक मनोमालिन्य उत्पन्न हो गया। उनका दूसरा महान् ग्रन्थ 'रसराज' है जो किसी को भी समर्पित नहीं किया गया है। छन्द-शास्त्र पर लिखी गयी उनकी 'छन्दसार' नामक पुस्तक महाराज शम्भूनाथ सोलंकी को समर्पित है।

'ललित ललाम' की रचना करके मतिराम काव्य-क्षेत्र में अमर हो गये। हिन्दी भाषा में अलंकारों पर लिखा गया यह ग्रन्थ आज भी अपनी कोटि के सर्वोत्तम ग्रन्थों में है। इसकी वस्तु-व्यञ्जना बड़ी सरल, सुबोध और सुन्दर है तथा उदाहरण बड़े सटीक दिये गये हैं। उपरोक्त ग्रन्थ की कविताएँ इतनी आकर्षक हैं कि अलंकारों का बोध बड़े मनोरंजक ढंग से हो जाता है। 'रसराज' मतिराम की पांडित्यपूर्ण रचना है। इसका अभिप्राय 'रसों' की व्याख्या करना है लेकिन वास्तव में इसमें नायिका-भेद की विस्तृत विवेचना ही हुई है। मतिराम की श्रेष्ठ कविताएँ इसमें पायी जाती हैं। यह रीति काव्य का एक शास्त्रीय ग्रन्थ है। अपनी 'सतसई' में कवि ने स्वरचित दोहों को संग्रहीत किया है जिनकी तुलना काव्य सौष्ठव और कलात्मक सौन्दर्य के विचार से बिहारी के दोहों से की जाती है। कवि द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें 'साहित्य-सार' और 'लक्षण-शृंगार' हैं।

अपने भाई चिन्तामणि त्रिपाठी की भाँति मतिराम काव्य-रचना में बड़े सिद्ध-हस्त थे। अलंकार-शास्त्र, छन्द-शास्त्र तथा तत्सम्बन्धी काव्य के भिन्न-भिन्न तत्त्वों और अंगों को लेकर उन्होंने सफल रचनाएँ की हैं। इन विषयों का जैसा विवेचन उन्होंने किया है वह विद्वत्तापूर्ण और साथ ही मनोरञ्जक भी है। जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं 'ललित ललाम' अलंकार-शास्त्र पर लिखे गये श्रेष्ठ ग्रन्थों में से है। ठीक उसी प्रकार 'रसराज' में नायिका-भेद के निरूपण में उच्चतम कौशल लक्षित होता है। ये पुस्तकें अपने युग में अत्यन्त लोकप्रिय थीं तथा उनकी लोक-प्रियता आज तक बनी हुई है। लेकिन विद्वान् की अपेक्षा कवि के रूप में मतिराम अधिक प्रसिद्ध हैं। उनकी जैसी काव्य प्रतिभा दुर्लभ थी और यदि वे अपने युग के बन्धनों में जकड़े हुए न होते तो उनकी प्रतिभा को विकसित होने का अवसर और भी अधिक मिलता। स्पष्ट है कि उनकी रचनाओं में हम काव्य के उच्चकोटि के गुण और लक्षण पाते हैं। उनकी बुद्धि अत्यन्त सूक्ष्मग्राहिणी और उनकी प्रवृत्ति बहुत ही कोमल थी। इन्हीं गुणों के कारण वे अपनी कविताओं में अत्यधिक सौन्दर्य और सुकुमारिता उत्पन्न करने में सफल हुए हैं। रीतिकाल के अन्य कवियों की

तुलना में उनकी रचनाएँ अधिक स्वाभाविकता और सरलता से लिखी गयी हैं। उनमें स्वर-संधान का कौशल बेजोड़ है। गीतों की पंक्तियों में सरस प्रवाह और गति में ध्वनि-माधुर्य और गुन्जार है। काव्य संगीत का विचार और शब्दों के चयन की उनकी रुचि अनुपम थी। ध्वनिमाधुर्य को सर्तकतापूर्वक खटकनेवाले अथवा कर्णकटु शब्दों से बचाया गया है। अनुप्रासों के अतिशय प्रयोग के दोष से मतिराम की कविता बची हुई है। मतिराम के 'ललित ललाम' में अन्यान्य रसों की रचनाओं का नमूना भी मिलता है परन्तु वे श्रृंगार के ही प्रधान कवि हैं। प्रणय लोक का उनका ज्ञान अपार है। उस मधुर लोक में पंचशर के वाणों के क्षत विक्षत हृदय वाले युवक और युवतियाँ आनन्द और भोग की कामना से प्रेरित होकर तथा जीवन के साधारण व्यापारों को विस्मृत कर स्वच्छन्द विचरण करते हैं। वासना-सिक्त मनोदशा और मनोभावों के प्रदर्शन के लिए मतिराम सुन्दर और उपयुक्त वातावरण उपस्थित करते हैं तथा प्रेमी-प्रेमिकाओं के मिलन-स्थल के अनुकूल रंगीन और करापूर्ण चित्र प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि उनकी प्रतिभा अधिक मुक्त और मौलिक तथा उनकी काव्यगत् शैली बिहारी से अधिक सहज स्वाभाविक थी तथापि परोक्ष सांकेतिक अभिव्यंजना की बहुलता के विचार से वे उनके समकक्ष थे। मतिराम ने ब्रजभाषा में काव्य-रचना की जिसमें अन्य प्रान्तीय भाषाओं अथवा जन-बोलियों के शब्दों का मिश्रण नहीं हुआ है। भाषा का माधुर्य और संगीतात्मक गुण उनकी कविताओं में भलीभाँति विद्यमान है। उनके शव्द-चयन में कठोर और कर्ण-कटु शव्दों का कोई स्थान नहीं है। मधुर और कोमल शब्दों का प्रवाह सरस और स्वाभाविक रूप से अग्रसर होता है। इस प्रकार मतिराम की कविताएँ ध्वनि और भाव दोनों दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। मतिराम को देव के स्तर पर रखने का मिश्रबन्धुओं का विचार वास्तव में उचित है। इन दोनों कवियों की प्रतिभा समान थी और दोनों का एक ही श्रेणी में गिना जाना उचित है। श्रेष्ठता के विचार से भी मतिराम की रचनाएँ देव से किसी प्रकार कम नहीं हैं।

कुलपति मिश्र—

वे ब्रज के रहनेवाले तथा बिहारी के भगिनेय थे। वे संस्कृत साहित्य और काव्य-शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे और उन्होंने अपनी पुस्तक 'रसरहस्य' में साहित्यिक आलोचना के विभिन्न अंगों पर विस्तृत रूप से विचार प्रस्तुत करने का यत्न किया है। उनकी रचनाओं में केवल यही पुस्तक उपलब्ध है। ग्रन्थ के नामानुसार इस पुस्तक में केवल रस विषयक चर्चा ही नहीं सम्पादित हुई है बल्कि मम्मट के 'काव्य-

प्रकाश' के ढंग पर इसकी रचना हुई है और इस प्रकार इसका क्षेत्र व्यापक है। इस युग के केवल इनेगिनें विद्वान कवियों की काव्य-दृष्टि कुलपति मिश्र की भाँति सूक्ष्मदर्शिनी थी। यद्यपि उनके विचार मम्मट से मिलते हैं फिर भी उन्होंने अनेक स्थलों पर उक्त आचार्य के विचारों का तर्कपूर्ण खण्डन कर अपना मौलिक और स्वतन्त्र मत प्रस्तुत किया है। उन्होंने कविता की प्रकृति और उसके प्रभाव पर अपने स्वतंत्र विचार प्रकट किये हैं। कविता के माध्यम से व्याख्या तथा विभिन्न पक्षों को प्रस्तुत करने की कठिनाई का अनुभव करनेवाले स्फुट गद्यांशों में रचनाओं की परम्परा के प्रवर्तक वे हिन्दी के सर्वप्रथम आचार्य थे।

कुलपति मिश्र, कवि से अधिक आचार्य के रूप में, हमारे सामने आते हैं। यद्यपि उनकी रचनाओं से उनके ब्रजभाषा, प्राकृत, और उर्दू के ज्ञान का पता लगता है फिर भी उनमें भाषाओं का काव्यात्मक एवं सरस प्रयोग नहीं हुआ है। कविताओं में स्वाभाविक सरसता लाने की अपेक्षा विविध भाषाओं का ज्ञान विद्वत्ता के सहारे उनके सिद्धान्तों को ठीक प्रमाणित करने की उद्देश्यपूर्ति में ही सहायक हुआ है।

सुखदेव—

काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी विभिन्न विषयों पर विद्वत्तापूर्वक और विस्तृत रूप से लिखने का सफल प्रयास करनेवाले एक अन्य कवि सुखदेव थे। विशेषकर उन्होंने छन्द-शास्त्र के सिद्धान्तों का सविस्तार और कुशल विवेचन किया है। उनके रस-सम्बन्धी विचार भी प्रशंसनीय हैं। कम्पिला नामिक स्थान में उनका जन्म हुआ और उन्होंने काशी में शिक्षा पायी। कवि-जीवन में वे कई आश्रय-दाताओं के यहाँ रहे तथा वे कई ग्रन्थों के रचयिता थे जिनमें 'फजल अली प्रकाश' तथा 'रसार्णव' अधिक प्रसिद्ध हैं। कवि रूप में वे कुलपति मिश्र से अधिक सफल हुए हैं।

कालिदास त्रिवेदी—

इस कवि के बारे में बहुत कम बातें ज्ञात हो सकी हैं। 'कालिदास-हजारा' नामक अपने प्रसिद्ध काव्य-संग्रह के कारण ही वे विश्रुत हैं। यह भिन्न-भिन्न काल के दो सौ से अधिक कवियों की एक हजार कविताओं का संग्रह है। हिन्दी पद्य के इतिहास के लिए सामग्री सुलभ करने में इस ग्रन्थ की उपयोगिता सर्वस्वीकृत है। औरंगजेब की सेना ने जिस समय गोलकुण्डा पर घेरा डाला, कालिदास त्रिवेदी वहाँ वर्तमान थे। अपनी रचनाओं में उसका वर्णन उन्होंने किया है। उनकी प्रसिद्ध रचना 'वारवधू विनोद' है जिसमें 'नायिका-भेद' का वर्णन हुआ है।

देवदत्त—

'देव' इस काल के सर्वश्रेष्ठ कवियों में गिने जाते हैं यद्यपि हिन्दी के महा-

कवियों की सूची में उनके निश्चित् स्थान के बारे में पर्याप्त मतभेद है। उनका जन्म सन् १६७३ ई० में हुआ था। अपनी एक कविता में उन्होंने अपना निवास-स्थान इटावा बतलाया है तथा उनके वंशज अब भी इस जिले के कई ग्रामों में बसे हुए हैं। कुछ दिन पूर्व तक यह माना जाता था कि वे सनाढ्य ब्राह्मण थे लेकिन डा० नगेन्द्र ने कवि के सम्बन्ध में कुछ नयी बातों का पता लगाया है जिससे यह पता चलता है कि वे कश्यप गोत्रीय द्विवेदी, कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। प्रौढ़ काव्यगत् प्रतिभा उनमें शैशवकाल से ही वर्तमान थी क्योंकि 'भाव विलास' नामक अपने प्रथम ग्रन्थ की रचना उन्होंने सोलह वर्ष की अवस्था में ही की थी। दुर्भाग्यवश, प्रारम्भ में उन्हें कोई उदार आश्रयदाता नहीं मिला। जीवन के अन्तिम वर्षों में वे राजा भोगीलाल के आश्रय में रहे जिनकी उदारता की प्रशंसा उन्होंने मुक्तकण्ठ से की है। उदार आश्रयदाता की खोज में सम्भवतः कवि ने देश के अनेक भागों में भ्रमण किया और इसी के परिणाम स्वरूप उन्होंने प्रचुर अनुभव और ज्ञान संग्रहीत किया जो उनकी दो रचनाओं में व्यक्त हुआ है। जीवन के विभिन्न कालों में वे इटावा, आगरा, दिल्ली, और अवध के समीप-वर्ती प्रदेशों में रहे। यही कारण है कि उन्हें नाना प्रकार के लोगों तथा विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं की जानकारी का अवसर मिला। जीवन के अन्तिम दिनों में उनका दृष्टिकोण आध्यात्मिक हो गया था।

मिश्रबन्धुओं ने देव की मृत्यु का सम्भावित-काल सन् १७४५ माना है तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस पर कोई आपत्ति नहीं की है। किन्तु एक महत्त्वपूर्ण घटना के आधार पर इस तिथि के कुछ काल अनन्तर उनकी मृत्यु होने का प्रमाण हमें मिलता है। संभवतः 'सुख-सागर-तरंग' ही उनकी अन्तिम पुस्तक थी जो कवि की प्रारंभिक रचनाओं का संग्रहमात्र है। यह संग्रह पिहानी के सरदार अकबर अली खाँ को उनके राज्याभिषेक के अवसर पर सन् १७६७ में भेंट किया गया था। अतः कवि देव सन् १७६७ तक तो अवश्य जीवित रहे तथा उनकी मृत्यु भी इसी तिथि के उपरान्त मानना अधिक तर्कसंगत है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भूषण और मतिराम की तरह वे भी दीर्घजीवी थे।

कवि देव एक अद्भुत प्रतिभा सम्पन्न और प्रभावशाली कवि थे। उनके सम-कालीन कवियों में शायद ही कोई ऐसा कवि निकले जो प्रभूत परिमाण में उत्कृष्ट रचना करने के कारण उनकी समता कर सके। हिन्दी साहित्य के इतिहासकार देव-रचित ग्रन्थों की संख्या ७२ या ५२ बतलाते हैं किन्तु २५ से कुछ अधिक कवि द्वारा लिखित ग्रन्थों के नामों का उल्लेख ही साधारणतया किया जाता है।

यदि हम संदेहास्पद ग्रन्थों के नाम छोड़ दें, तब भी कवि द्वारा विरचित निम्न-लिखित १८ ग्रन्थ शेष बच जाते हैं। (१) भाव-विलास, (२) अष्टयाम

(३) भवानी विलास, (४) रस विलास, (५) प्रेमचन्द्रिका, (६) राग रत्नाकर, (७) सुजान विनोद, (८) जगत दर्शन पच्चीसी, (९) आत्म दर्शन पच्चीसी, (१०) जातवदर्शन पच्चीसी, (११) प्रेम पच्चीसी, (१२) शब्दरसायन, (१३) सुखसागर तरंग, (१४) प्रेम तरंग, (१५) कुशल विलास, (१६) जाति विलास, (१७) देव चरित्र और (१८) देव माया प्रपंच ।

ये विभिन्न ग्रन्थ कवि की प्रकृति के तीन भिन्न रूप प्रस्तुत करते हैं और तीन श्रेणियों में विभक्त हो सकते हैं—देव अपने युग के प्रतिनिधि कवि थे अतः प्रेम तथा नारी-सौन्दर्य की ओर उनकी विशेष रुचि थी । वे एक महान विद्वान थे तथा अपने काव्य में उन्होंने अपने सम्पूर्ण पांडित्य का समावेश कर देने का यत्न किया है । जैसे-जैसे वे प्रौढ़ होते गये उनका दृष्टिकोण दार्शनिक और आध्यात्मिक होता गया । 'अष्टयाम', 'जाति विलास', 'प्रेम चन्द्रिका', 'प्रेम पच्चीसी' आदि रचनाओं से उनकी शृंगार-रस सम्बन्धिनी विशेष और गहरी रुचि का द्योतन होता है; 'भाव विलास', 'भवानी विलास' और 'रस विलास' उनके गम्भीर अध्ययन का दिग्दर्शन कराते हैं तथा 'जगत दर्शन पच्चीसी', 'आत्मदर्शन पचीसी', 'देव माया प्रपंच', तथा ऐसे ही अन्यान्य ग्रन्थ सांसारिक प्रपंचों से रहित होकर आध्यात्मिकता का उद्‌घाटन करते हैं ।

देव को महाकवि मानने में जरा भी सन्देह नहीं किया जा सकता । कोई अरसिक आलोचक ही, जिसने उनकी कविताओं का रसास्वादन न किया होगा उन्हें 'कोरा तुकबन्द' कह सकता है । सर्वप्रथम विचारणीय बात तो यह है कि उन्होंने प्रभूत परिमाण में साहित्यसर्जन किया तथा उनकी काव्य-सर्जना की अविरल धारा जीवन के अन्तिम दिनों तक समरस प्रवाहित रही । सात सौ साधारण दोहों, सोरठों या ऐसे ही किसी लघु परिमाण में उन्होंने काव्य-रचना नहीं की अपितु वे हमें साहित्य के विस्तृत साम्राज्य में उन्मुक्त विचरण एवं विहार करने तथा ईश्वर की विराट-विशाल व्याप्ति के दर्शन करने का आमन्त्रण देते हैं । प्रभूत परिमाण में श्रेष्ठ और उत्कृष्ट रचना करने के कारण उनकी प्रतिष्ठा और प्रशंसा अपेक्षित है । लेकिन उनकी महत्ता के प्रतिपादन के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है । यदि हम उनकी रचनाओं का अवलोकन ऐतिहासिक क्रम से करें तो उन में हम वस्तु और रूप दोनों की दृष्टि से साहित्य की श्रीवृद्धि तथा विकास के चिह्न स्पष्ट लक्षित पाते हैं । इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी प्रतिभा अलौकिक और बहुमुखी थी । इस काल के अन्य किसी भी कवि के बारे में यही बात नहीं कही जा सकती । उनकी प्रारंभिक रुचि नारी रूप और शृंगारिक भावनाओं की अभिव्यक्ति में थी । जीवन के मध्य-काल में आकर उसका विकास सच्चे और पवित्र प्रेम में निहित अपार शक्ति के चित्रण में परिणत हो जाता है ।

अनन्तर उनकी रुचि अध्यात्म के प्रति आकृष्ट होती है। इसी प्रकार समय के साथ-साथ उनकी प्रारंभिक रचनाओं से ही उत्तरोत्तर परिमार्जन आने लगता है जब तक कि कवि भाव और शैली का साम्य तथा सन्तुलन स्थापित नहीं कर लेता। मतिराम, भूषण, दास अथवा बिहारी आदि कवियों की अपेक्षा देव की रचनाओं में अधिक वैविध्य है तथा उनमें काव्यवस्तु में अन्तर्लीन एवं आत्म-विभोर होकर रचना करने की क्षमता भी अधिक लक्षित होती है। उनकी प्रतिभा बिहारी की भाँति पूर्णतः विषय-प्रधान न थी। विशुद्ध काव्य का मौलिक तत्त्व और गुण उनकी रचनाओं में अपने युग के अन्य कवियों की रचनाओं से अधिक परिमाण में पाया जाता है जो उनकी सूक्ष्म ग्राहिका बुद्धि और क्रियाशीलता का द्योतक है। देव की कविताओं में इसके अतिरिक्त और भी कई अनुपम गुण हैं। उनके अधिकतर छन्दों का रचना-कौशल श्रेष्ठ है और उनकी उत्तम रचनाओं का एक ऐसा संग्रह तैयार किया जा सकता है जो काव्य-रसिकों और काव्य कला प्रेमियों के लिए आनन्द का स्थायी साधन होगा। इन कविताओं की एक-एक पंक्ति का मधुर, मन्थर प्रवाह मादक संगीत से गूँजित होता रहता है। स्थल-स्थल पर सर्वांगपूर्ण सजीव चित्र अंकित करने में कवि की अद्भुत और विलक्षण कल्पना-शक्ति का पता लगता है। शब्दों और विशेषणों के उचित प्रयोग द्वारा वे प्रेम तथा प्रणय-व्यापार के क्रिया-कलाप सम्बन्धी समृद्ध और सजीव वातावरण प्रस्तुत करते हैं। तदनन्तर पूर्णतः अलौकिक स्थिति उत्पन्न कर देने में वे विशेष पटु हैं।

कहा जाता है कि महाकवि देव ने कोई नवीन और मौलिक सृष्टि नहीं की किंतु पूर्वकथित उक्तियों को ही सविस्तार सचित्ररूप में प्रस्तुत किया है। लेकिन इन दो सौ वर्षों में किसी भी कवि में मौलिक प्रतिभा होने का दावा करना निरर्थक और भ्रामक कथन है। इसके अतिरिक्त सिद्धान्तों को उदाहरण सहित देने के सीमित उद्देश्य की प्राप्ति में कवि ने निःसन्देह प्रभूत सफलता प्राप्त की है। तब भी इस कला में केवल देव की ही देन को एकमात्र मान्यता देना न्याय-संगत नहीं हो सकता। देव की तुलना में निम्न ठहरने वाले कवि दास ने भी इस कला के प्रदर्शनार्थ अपनी कुशल लेखनी उठायी थी और उनकी ऐसी रचनाएँ देव की अपेक्षा सम्भवतः अधिक सन्तोषजनक हैं।

देव ने अपनी रचना ब्रजभाषा में की है और ब्रजभाषा के वे एक अच्छे ज्ञाता माने जाते हैं। इस मधुर भाषा की मूल आत्मा से उनका घनिष्ट परिचय था जिसका उचित निर्वाह उन्होंने अपने काव्य में किया है। संस्कृत के ज्ञाता होने के कारण उन्होंने बहुत से संस्कृत शब्दों को भी प्रयुक्त किया है और अपनी रचनाओं में उन सब शब्दों के सरस समावेश में वे पूर्णतः सफल हुए हैं। आज-कल विद्वान् साहित्यिक लोग देव की रचनाओं में व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियाँ तथा

शब्दों की विकृति आदि खोज निकालने में लगे हुए हैं, किन्तु उन्हें इस सत्य को स्वीकार करना ही होगा कि ऐसे दोष कवि की निम्न कोटि की रचनाओं में ही पाये जाते हैं। उनकी उच्चकोटि की कविताएँ सब प्रकार से पूर्ण तथा दोषमुक्त हैं। देव के सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य में एक दीर्घकालीन विवाद चलता रहा है। देव और बिहारी में कौन श्रेष्ठ है इस प्रश्न को लेकर विद्वानों के दो विरोधी दलों में एक लम्बे समय तक विवाद हो चुका है। मिश्रबन्धुओं तथा कुछ अन्य आलोचकों ने सूर और तुलसी के बाद देव का स्थान निश्चित कर उन्हें अधिक ऊचे उठाने का प्रयत्न किया है तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा लाला भगवान दीन ने उन्हें श्रेष्ठता के विचार से बिलकुल निम्न स्तर पर लाकर रख दिया है। इससे यह तो स्पष्ट है कि लखनऊ तथा बनारस वासी विद्वानों की प्रतिद्वंद्विता ने विरोध भावना को प्रोत्साहन देकर निर्णयात्मक बुद्धि को क्षति पहुँचाई है। मिश्रबन्धुओं ने अपने कथन की प्रामाणिक पुष्टि नहीं की है तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा इस विषय में दिये गये निर्णय पर हमें आश्चर्य और खेद है, क्योंकि उनका निर्णय सामान्यतः उचित ही होता है। देव सम्बन्धी अपने निर्णय में वे कवि के प्रति केवल आंशिक न्याय कर सके हैं। कवि के अधिकतर दोषों का वर्णन उन्होंने किया है किन्तु गुणों का उल्लेख प्रसंगवश ही हो पाया है। इन दोनों विरोधी दलों की सम्मतियों को स्वीकार कर लेना भ्रामक होगा। वास्तव में यह निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दी साहित्य के महारथियों में देव की गणना उचित है तथा अपने युग के श्रेष्ठतम कवियों में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। बिहारी, जायसी, कबीर, विद्यापति या घनानन्द से देव क्या अधिक श्रेष्ठ थे ?—ऐसे विवाद की कोई आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि ऐसा प्रश्न निष्प्रयोजन है।

इस अध्याय को समाप्त करने के पहले सुरति मिश्र, कवीन्द्र, और श्रीपति नामक तीन कवियों का उल्लख कर देना शेष रह जाता है। ये तीनों ही कवि काव्य-शास्त्र के सफल लेखक थे। सुरति मिश्र ने रस, अलंकार तथा इसी प्रकार के अन्य विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। वे भाष्यकार तथा अनुवादक के रूप में प्रसिद्ध हैं। बिहारी सतसई, कवि-प्रिया, और रसिक-प्रिया पर उन्होंने टीकाएँ लिखी हैं। संस्कृत-कहानियों के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'बैताल पंचविंशति' का अनुवाद उन्होंने ब्रजभाषा-गद्य में किया है। सुरति मिश्र की अपेक्षा कवीन्द्र अधिक सफल कवि थे तथा प्रसिद्ध ग्रन्थ 'राम चन्द्रोदय' के रचयिता माने जाते हैं। निस्संदेह श्रीपति इन तीनों में श्रेष्ठतम प्रतिभाशाली कवि और विद्वान् थे। उनकी रचनाओं में काव्य के अमूल्य तत्व पाये जाते हैं तथा उनका वर्षाऋतु का वर्णन विशेष-आकर्षक है। विद्वानों में उनका स्थान प्रमुख है तथा उनकी ही

रचना-पद्धति को अपनानेवाले कवि दास ने प्रसंगानुसार उनका आभार स्वीकार किया है। उन्होंने काव्य-शास्त्र तथा अलंकार-शास्त्र विषयक आधे दर्जन ग्रन्थों की रचना की है और उन सब ग्रन्थों में अन्य काव्य-रचयिताओं की अपेक्षा विषय-वस्तु का उचित निर्वाह अधिक विद्वत्तापूर्ण, विशद, और गंभीरता के साथ आ है।

एकादश प्रकरण

उत्तर-रीतिकाल के कवि (१७५०-१८५०)

यह काल प्रत्येक दृष्टि से अपने पूर्ववर्ती काल का ही अनुवर्ती है। वे शक्तियाँ जो काव्य के क्षेत्र में १७५० के पूर्व से कार्य कर रही थीं इस काल में बराबर क्रियाशील रहीं। साथ ही इस युग में अपने पूर्ववर्ती युग की सभी विशिष्टताएँ और अधिक व्यवस्थित तथा निखरे हुए रूप में मिलती हैं। प्रेम और शृंगार विषयक काव्य के प्रति अत्यधिक व्यामोह के कारण काव्य-क्षेत्र में गत्यवरोध उत्पन्न हो गया। प्रत्येक कवि अपनी कविताओं में नख-शिख, नायिका भेद, षट्-ऋतु और प्रेमी-प्रेमिकाओं की मनोदशा का वर्णन करने लगा। वीर तथा भक्ति-रस की कविताओं की रचना न्यून होती जा रही थी। पूर्ववर्ती काल की भाँति इस काल में भी हम ऐसे शृंगारिक कवियों की परम्परा चलती हुई देखते हैं जो अपनी कविताओं के माध्यम से काव्य और अलंकार-शास्त्रों के सिद्धान्त उपस्थित करते हैं। इस युग के कवियों में आचार्य बनने की प्रवृति निरन्तर परिलक्षित होती है, किन्तु उनका काव्य सामान्यतः ओज, प्रसाद आदि अपेक्षित गुणों से वंचित था। किन्तु पदमाकर ऐसे कवि इस कथन के अपवादस्वरूप लिये जा सकते हैं। इस परम्परा के कवियों का कौशल रूढ़िवादी तथा एक ही साँचे में ढली हुई कविताओं के निर्माण की ओर अधिकाधिक अग्रसर होता गया तथा इस काल में शायद ही एसा कोई बिरला कवि मिलता है जिसने उन रूढ़ियों का अनुकरण न कर कोई नवीन और मौलिक बात मनोहर ढंग से कही हो। जहाँ तक रचना और शैलीगत विशेषताओं का प्रश्न है इस काल में ह्रास के लक्षण स्पष्टरूपण दिखाई देते हैं। काव्य-रचना की भाषा-शैली जो चिन्तामणि और देव के काल में अधिक अलंकार प्रधान हो गई थी अब आगे चलकर इस काल में पूर्णतः आलंकारिक होकर अपना स्वाभाविक गुण, ओज, और माधुर्य खो बैठी। कवियों न एसे विषयों पर रचनायें कीं जो स्थायी तथा गंभीर नहीं थे। उनकी काव्य-प्रेरणा का आधार गम्भीर विषयों से रहित सर्वथा अशक्त और निर्बल था। छंदों का अलंकरण वाह्य और कृत्रिम है।

विषय और उसकी अभिव्यक्ति का उचित संतुलन जो अच्छे काव्य का अनिवार्य लक्षण है इस काल की कविताओं में नहीं मिलता अथवा बहुत थोड़ा मिलता है पद्माकर को छोड़कर इस काल का कोई भी कवि ऐसा नहीं है जिसकी तुलना बिहारी, मतिराम, भूषण, या देव से की जाय। एक ही विषय वस्तु की बार-बार अभिव्यक्ति होने के कारण काव्य का आकर्षण जाता रहा और वह अधिक दुरूह हो गया।

भिखारी दास (दास)—ये जाति के श्रीवास्तव कायस्थ थे और प्रतापगढ़ 'अवध' के राजा पृथ्वीपति सिंह के भाई हिन्दूपति सिंह के आश्रय में रहते थे। इनका पहला काव्य-ग्रन्थ जो 'विष्णु पुराण' का अनुवाद था सन् १७२८ में लिखा गया। १७३४ में इसके अनुकरण पर 'रस सारांश' की रचना हुई। इनके काव्य-ग्रन्थों के नाम हैं 'नाम प्रकाश' (१७३८), 'छन्दार्णव पिंगल' (सन् १७४२), 'शृंगार निर्णय' (सन् १७५०)। विष्णु-पुराण का अनुवाद इनकी मौलिक कृति नहीं मानी जाती, साथ ही इसमें कवि की अपरिपक्वता और काव्य के दोष झलकते हैं। 'रस सारांश' में रसों का निरूपण है किंतु वास्तव में यह पुस्तक नायिका-भेद विषय को लेकर ही लिखी गई है। कुछ बातों में दास अपने मार्ग से भटक भी गये हैं। 'नामप्रकाश' नामक ग्रन्थ में संस्कृत अमरकोष में पाये जानेवाले शब्दों के समानार्थक शब्द उपयुक्त ढंग से रखे गये हैं। 'छन्दार्णव पिंगल' छन्द-शास्त्र का ग्रन्थ है। 'काव्य-निर्णय' काव्य शास्त्र का विस्तृत ग्रन्थ है। इसमें काव्य के तत्त्वों और काव्यांगों का निरूपण बड़े आकर्षक ढंग से किया गया है। इसकी सबसे अधिक आकर्षित करनेवाली विशेषतायें हैं विभिन्न शब्द-चित्रों का विवेचन, काव्य की प्रकृति, उसके कार्य, और प्रभाव की व्याख्या। दास ने काव्य की मौलिक और स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है, अतः आचार्यों में उनका स्थान ऊँचा है।

'शृंगार-निर्णय' में शृंगार-रस का विशद वर्णन है जो उस युग की साहित्यिक विशेषता थी। इस ग्रन्थ में तत्सम्बन्धी बड़े उपयुक्त उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं और काव्य के गुणों की परख के लिये वे ध्यान देने योग्य हैं। कवि की अन्तिम दो पुस्तकों पर मुख्यतः उसका यश आधारित है।]

अपने पूर्ववर्ती शृंगारिक कवियों मतिराम, देव की भाँति दास ने अपनी रचनाओं में काव्य-पांडित्य तथा काव्य-प्रतिभा का समन्वय बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है। कुछ विद्वान् दास को मतिराम और देव की अपेक्षा काव्य का अधिक महान् आचार्य अथवा काव्य-शास्त्र का अधिक सफल निर्माता मानते हैं। इसमें संदेह नहीं कि अन्य अनेक लेखकों की अपेक्षा साहित्य की आलोचना जैसे विषय पर इनका विचार और विवेचन अधिक संतोषप्रद है। इनकी सबसे

बड़ी विशेषतायें गंभीरता, उचित निर्णय की क्षमता, तथा स्पष्टता हैं। उनकी अभिव्यंजना की प्रणाली और विषय को स्पष्ट करने का ढंग स्तुत्य है। वर्ण्य वस्तु या विषय को बोधगम्य और सुस्पष्ट कराने की अद्भुत क्षमता उनमें है। सिद्धान्तों का विवेचन और औचित्य सहज और समुचित उदाहरणों द्वारा प्रतिपादित किया गया है तथा उसमें भ्रम अथवा संदेह के लिये जरा भी स्थान नहीं है। विचारों और उनकी अभिव्यंजना की सुस्पष्टता के विचार से दास को उन कवियों में उच्च स्थान दिया जाता है जिन्होंने साहित्य संबंधी सिद्धान्तों पर ग्रन्थों का निर्माण किया है। काव्य-शास्त्र विषयक उनकी पुस्तक में काव्य के सम्पूर्ण अंगों और उपांगों का विवेचन हुआ है तथा अपने पूर्ववर्ती लेखकों की बहुत कुछ अपूर्णताओं को मिटानें का कार्य इन्होंने किया। शब्दों की विशदता तथा भाषा की मिश्रित प्रकृति पर इनका विवेचन विशेष उल्लेखनीय है। इनके पूर्ववर्ती कवियों ने जो कुछ जिस रूप में कहा या लिखा था उसका अन्धानुकरण करने के ये घोर विरोधी थे। इसके प्रतिकूल इन्होंने अपने स्वतंत्र चिन्तन और विचार-धारा को मान्यता दी। अपनी रचनाओं [illegible] ने काव्य की प्रवृति और उसकी उपयोगिता आदि मौलिक प्रश्नों पर [illegible] श डाला है, जो श्लाघनीय है। यदि दास को अधिक उपयुक्त युग औ[illegible] गद्य का अधिक विकसित माध्यम उपलब्ध होता तो वे निस्संदेह उच्चकोटि के आलोचक हो सकते थे। इस धारणा की पुष्टि उनके सुस्पष्ट सिद्धान्त प्रतिपादन तथा विवेचन एवं उदाहरणों के उपयुक्त चयन [illegible] होती है।

कवि रूप में भी इनका स्थान उच्च है और अपनी लाक्षणिक कविताओं में चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति के लिये भी इनका नाम विशेष महत्व रखता है। इनकी कवितायें अश्लीलता तथा वर्णन की निरर्थक विशदता के दोषों से रहित हैं इसलिये वे चुस्त और साहित्यिक ब्रजभाषा के अच्छे उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। इनकी रचनाओं में अलंकार विशेषकर अनुप्रासों का प्रयोग संयम के साथ हुआ है साथ ही सजावट की ऐसी कृत्रिमता भी नहीं मिलती जैसी इनके समकालीन तथा पूर्ववर्ती कवियों की कविता में पाई जाती है।

इस प्रकार जब हम कवि और आलोचक के रूप में दास की सफलता का मूल्यांकन करते हैं तो सहज ही हम उनके लिए उच्च स्थान निर्धारित करते हैं। किन्तु मिश्रबन्धुओं ने दो एक ऐसी बातों का संकेत किया है जिससे कवि की महानता घट जाती है। मिश्रबन्धुओं के अनुसार अन्य शृंगारी कवियों की भाँति इनके काव्य की प्रेरणा लौकिक होने के कारण दुर्बल रही है। उनका यह भी कहना है कि इनके काव्य में जो उचित नियंत्रण और परिपुष्टता मिलती है हम उसका आदर करते हैं किन्तु काव्य की विशदता का अभाव खटकता है। साथ-ही-साथ मिश्र-

बन्धुओं ने इनके काव्यों पर कहीं-कहीं अन्य कवियों से भावापहरण का भी दोष लगाया है। इनकी रचनाएँ न्यूनाधिक मात्रा में अन्य ग्रन्थों का भाषानुवाद या अनुकरण हैं। इनमें सहज विवेक था किन्तु अन्य कवियों के ऋण को स्वीकार करने की इन्होंने आवश्यकता नहीं समझी। इन्होंने श्रीपति की रचनाओं से बहुत कुछ ग्रहण किया किन्तु उनका कहीं नामोल्लेख तक नहीं है। अज्ञानता का यह अभिनय इनका दूषण ही कहा जायगा। किन्तु इन त्रुटियों के होते हुए भी कवि रूप में उनकी ख्याति स्थायी है।

तोषनिधि—

ये वर्तमान इलाहाबाद जिलान्तर्गत एक गाँव में रहते थे। 'सुधानिधि' के रचयिता के रूप में ये हिन्दी साहित्य में विख्यात हैं। सुधानिधि रस-भेद और भाव-भेद से सम्बन्धित पाँच सौ छन्दों का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इनकी इस ग्रन्थ की कविताएँ उच्चकोटि की हैं और आदर से पढ़ी और उद्धरित की जाती हैं। भावप्रवण होते हुए भी इनकी कविताओं में अतिशयोक्ति दोष पाया जाता है।

दलपति राय और वंशीधर—

दोनों व्यक्ति अहमदाबाद के रहनेवाले थे। दोनों ने मिलकर सन् १७३५ में 'अलंकार रत्नाकर' नामक ग्रन्थ लिखा। उक्त ग्रन्थ जो कि उदयपुर के महाराणा जगत सिंह के आदेश पर लिखा गया, बहुत कुछ अंशों में 'भाषा-भूषण' की टीका है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें विभिन्न अलंकारों की विशेषताएँ विस्तार-पूर्वक वर्णित हैं। इन विभिन्न अलंकारों का उदाहरण देने के लिए दोनों कवियों ने स्वयं अनेक कवितायें रची हैं और इनका स्वरूप समझाने के लिए उदाहरण के रूप में दूसरे कवियों की कविताएँ भी उद्धरित की हैं।

सोमनाथ—

ये माथुर ब्राह्मण थे और भरतपुर के शासकों के आश्रय में रहते थे। इन्होंने सन् १७३७ में 'रस पीयूष निधि' नामक रीति का एक बृहद ग्रन्थ बनाया जिसमें पिंगल, काव्य लक्षण, प्रयोजन, भेद, भाव, रस, रीति, गुण इत्यादि विषयों का विशद निरूपण है। इसका महत्व श्रीपति और भिखारी दास की कृतियों से तनिक भी कम नहीं है। इनकी कविताओं में भावुकता और सहज सौन्दर्य प्राप्त होता है। इनकी कवितायें शास्त्रीयता का बोझ न रहने के कारण सुबोध और भावगम्य हैं। इन्होंने 'सिंहासन बत्तीसी' का अनुवाद भी पद्य में किया और 'मालती माधव' के आधार पर 'माधव-विनोद' नामक नाटक लिखा। इस प्रकार इन्होंने अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया।

रसलीन—

इनका असली नाम सैयद गुलाम नबी था और इन्होंने 'अंग दर्पण' और

'रस प्रबोध' नामक दो ग्रन्थ दोहों में लिखे । 'अंग दर्पण' में 'नख-शिख' का उपमा उत्प्रेक्षा से संयुक्त चमत्कारपूर्ण वर्णन है । दोहों की सुन्दरता के कारण यह पुस्तक विख्यात है । 'रस प्रबोध' में रस सिद्धान्त का निरूपण है । अपने सुन्दर दोहों के कारण 'रसलीन' विहारी के साथ स्मरण किये जाते हैं ।

रघुनाथ——

ये काशी के महाराज बरिबंड सिंह के यहाँ राजकवि थे और इनका रचना-काल सन् १७३३ से सन् १७५३ तक माना जाता है । इन्होंने चार ग्रन्थों की रचना की । 'रसिक मोहन' अलंकार विषयक ग्रन्थ है जिस में सुन्दर उदाहरण दिये गये हैं । 'काव्य कलाधर' में 'नायिका-भेद' का वर्णन है यद्यपि इसमें भाव और रस का भी निरूपण किया गया है । 'जगत मोहन' में एक ऐश्वर्यवान राजा की दैनन्दिनी है और 'इश्क महोत्सव' में खड़ी बोली की कविताएँ लिखी गयी हैं ।

दूलह——

ये कालिदास त्रिवेदी के पौत्र और 'कवीन्द्र' के पुत्र थे । अपने काव्य सौन्दर्य के कारण ये प्रसिद्ध हो गये हैं । कुछ फुटकर कविताओं के अतिरिक्त इन्होंने 'कवि-कुल-कंठाभरण' नामक अलंकार का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा । इसमें कवित्त और सवैयों में अलंकार के स्वरूप और उदाहरण दोनों के सम्मिलित कथन की परिपाटी चलाई गई है । इसलिए इनकी कविताएँ सहज ही स्मरणीय बन गई हैं ।

देवकीनन्दन——

ये कन्नौज के निकट रहते थे और इन्होंने अपनी रचनाएँ अठारहवीं शताब्दी के अंतिम दिनों में की थीं । इनकी चार पुस्तकों के नाम क्रमशः 'श्रृंगार चन्द्रिका', 'अवधूत भूषण', 'सरफराज चन्द्रिका' और 'नख-शिख' हैं । 'श्रृंगार चन्द्रिका' में रसों का विवेचन है किन्तु इसका कुछ भाग अलंकारों पर भी प्रकाश डालता है । 'सरफराज चन्द्रिका' में अलंकारों का स्वतन्त्र रूप में विवेचन किया गया है । 'अवधूत भूषण' वास्तव में 'श्रृंगार चन्द्रिका' का ही परिवर्धित रूप है । यह कवि अपनी काव्य-कला और उसके चमत्कार प्रदर्शन में प्रवीण थे यद्यपि शब्दों और भावों को सजाने की ओर उनकी विशेष रुचि थी । लालित्य और माधुर्य भावों से पूर्ण होने के कारण इनकी कविताओं से पाठकों का मन ऊबता नहीं ।

बेनी प्रवीन——

ये लखनऊ के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे । अपने कवि-जीवन के प्रारंभिक काल में ये लखनऊ के एक सम्पन्न रईस ललन जी के आश्रय में रहते थे । उन्हीं के आदेश से इन्होंने 'नव रस तरंग' नामक ग्रन्थ की रचना की । इसके पूर्व ये अपने 'श्रृंगार भूषण' नामक ग्रन्थ की रचना कर चुके थे । इनकी तीसरी पुस्तक 'नाना राव प्रकाश' केशव की 'कवि-प्रिया' के ढंग पर लिखी गयी है । यह कहा जाता

है कि सन् १८५७ के स्वतन्त्रता-संग्राम के प्रसिद्ध वीर नाना राव की प्रशंसा में इसकी रचना बिठूर में हुई थी। इसकी हस्त-लिखित प्रति नष्ट हो गई है किन्तु इसमें संदेह नहीं कि यह महान् ग्रन्थ था। इनके लिखे हुए 'नव रस तरंग' नामक ग्रन्थ में विभिन्न रसों का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत हुआ है किन्तु प्रचलित परिपाटी पर ही श्रृंगार-रस तथा उसके अंगों-उपाँगों तथा नायिका-भेद, नख-शिख आदि के वर्णन में कवि ने अपनी अधिक पटुता प्रदर्शित की है। इसमें षट्ऋतु वर्णन बड़ा ही मनोहर है। इस ग्रन्थ में पाये जाने वाले काव्य के उत्कृष्ट गुण और वैशिष्टच को ध्यान में रखकर ही इतिहासकारों ने इस कवि को मतिराम के समकक्ष स्थान दिया है। इनकी भाषा और पदावली में परिष्कार है तथा छन्दों में प्रवाह और माधुर्य मिलता है। कवि की उत्कृष्ट रचनाओं की तुलना में निम्न कोटि की रचनाएँ अत्यन्त न्यून हैं।

पद्माकर भट्ट—

इस काल के सर्वाधिक लोकप्रिय तथा शीर्षस्थ कवियों में पद्माकर भट्ट का नाम आता है। इनके पिता मोहनलाल भट्ट संस्कृत के प्रकांड पंडित और कुशल कवि थे। विभिन्न राज-दरबारों में इनका यथेष्ट सम्मान हुआ था। पद्माकर का जन्म सन् १७५३ में बाँदा में हुआ। कवि ने स्वयं लिखा है कि उन्हें अच्छी शिक्षा मिली और वे संस्कृत और प्राकृत के अच्छे ज्ञाता थे। अपने पिता की तरह ही आश्रयदाताओं की खोज में ये भिन्न भिन्न राज दरबारों में गये और जहाँ भी पहुँचे इन्हें प्रचुर द्रव्य और अत्यधिक सम्मान प्राप्त हुआ जो देव को सदा दुर्लभ रहा। इनके प्रारम्भिक आश्रयदाताओं में हिम्मत बहादुर थे जो लखनऊ के नवाब के प्रसिद्ध वीर सेनापति थे। हिम्मत बहादुर के शौर्य और पराक्रम को ही 'पद्माकर' ने अपने प्रथम प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हिम्मतबहादुर विरदावली' का विषय बनाया है। इस ग्रन्थ में वीर-रस की रचनाएँ हैं जो उत्कृष्ट और प्रशंसनीय हैं। कुछ लोगों का कहना है कि पद्माकर ने 'राम रसायन' नामक ग्रन्थ की रचना इसके पूर्व की थी इसमें 'बाल्मीकि रामायण' की कथा दोहों और चौपाइयों में दी गई हैं। किन्तु 'राम रसायन' की कविताएँ निम्न कोटि की हैं और पद्माकर द्वारा उसकी रचना इतनी संदिग्ध है, कि इस पर विचार करना अनावश्यक प्रतीत होता है। सन् १७९९ के पश्चात् कवि ने रघुनाथ राव राघोवा की प्रसिद्ध राजधानी सितारा की यात्रा की। राघोवा ने इनका भव्य स्वागत किया और पुरस्कार में अच्छी धन-राशि प्रदान की। कुछ काल पश्चात् ये जयपुर की ओर बढ़े। वहाँ महाराज प्रताप सिंह तथा उनके पुत्र जगत सिंह की सुखद छत्रछाया में इन्होंने कई वर्ष व्यतीत किये। पद्माकर के श्रेष्ठतम ग्रन्थ 'जगद्विनोद' की रचना इसी स्थान पर हुई। भिन्न-भिन्न भावों और रसों की विवेचना और वर्णन प्रस्तुत

करनेवाला यह प्रसिद्ध और वृहद् ग्रन्थ है। 'जगद्विनोद' के टक्कर का केवल एक ही दूसरा ग्रन्थ है मतिराम का 'रसराज' तथा रीतिकालीन काव्य के प्रतिनिधि ग्रन्थों के रूप में इन दोनों पुस्तकों को प्रस्तुत किया जा सकता है। पद्माकर ने 'जगद्विनोद' के पश्चात् शीघ्र ही 'पद्माभरण' की रचना की जिसमें उदाहरणों के साथ अलंकार वर्णित हैं। इस पुस्तक की रचना दोहों में हुई है तथा इसमें विषय का ऐसा समुचित निर्वाह हुआ है जो प्रशंसनीय है। इन्हीं दिनों पद्माकर ने उदयपुर की यात्रा की जहाँ मुक्त हृदय से राणा ने इनका स्वागत किया। इसके पश्चात् ये ग्वालियर-नरेश के दरबार में पहुँचे जहाँ महाराज दौलतराव सिंधिया ने इनको बहुमूल्य भेंट देकर सम्मान प्रदर्शित किया। मार्ग में बूँदी के राजभवन में कुछ दिन बिताकर पद्माकर बाँदा लौट आये। जनश्रुति है कि जीवन के अन्तिम दस वर्षों में ये रोगग्रस्त रहे। ये वृद्ध और रोग से पीड़ित होकर गंगा-तट पर शान्तिपूर्वक शरीरान्त करने के विचार से कानपुर चले आये। 'प्रबोध पचासा' तथा 'गंगा लहरी' की रचना इसी काल में हुई। इन दोनों पुस्तकों में भौतिक ऐश्वर्य और समृद्धि सुख के प्रति वितृष्णा, पिछले पापों के लिये पश्चाताप तथा भक्ति भावना का सुन्दर समन्वय मिलता है। सन् १८३३ में कानपुर में ही कवि का परलोकवास हुआ।

पद्माकर की व्यापक लोकप्रियता का कारण स्पष्ट है। उन्होंने बहुसंख्यक जनता को आकृष्ट किया और अत्यधिक प्रसिद्धि पाई। उनका यश और प्रभाव उनकी मृत्यु के पश्चात् भी बना रहा तथा अनेक कवियों ने उनका अनुकरण किया। यह प्रायः निश्चित ही है कि आधुनिक काल में भी रत्नाकर जैसे प्रसिद्ध कवि की रचनाओं पर उनका प्रभाव पड़ा, कदाचित् बिहारी के अतिरिक्त किसी अन्य रीतिकालीन कवि के इतने अधिक प्रशंसक तथा अनुगामी नहीं हुए।

यद्यपि अधिकांश लोगों की दृष्टि में पद्माकर 'जगद्विनोद' के रचयिता मात्र है जिन्होंने श्रृंगार-रस के वर्णन में अपनी विशेष रुचि दिखलाई है, तथापि जिन लोगों ने उनकी रचनाओं का अध्ययन किया है वे भलीभाँति जानते हैं कि उनके काव्य में विविधता का समावेश है। उसमें हमें वीर, श्रृंगार तथा भक्ति इन तीनों रसों का पूर्ण परिपाक और सफल निर्वाह दिखाई देता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, 'हिम्मत बहादुर विरदावली' में युद्ध और वीरता सम्बन्धी अनुपम रचनायें हैं। 'प्रबोध पचासा' तथा 'गंगा लहरी' अपने ढंग की उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। किये हुए पापों के प्रति दारुण मर्मभेदिनी व्यथा, निष्फल भौतिक सुखों से पराङ्गमुख होने की बलवती लालसा तथा ईश्वर की करुणा में अमोघ विश्वास का सम्यक् समावेश पद्माकर की अन्तिम रचनाओं में हुआ है। 'जगद्विनोद' की विशेषताओं और उसकी प्रशंसा के सम्बन्ध में कुछ उल्लेख करने की आवश्यकता ही नहीं, उसकी श्रेष्ठता सर्वमान्य है। यह ग्रन्थ उस काव्य के उच्च स्तर पर पहुँचता है जिसकी

परम्परा का प्रारम्भ हुए डेढ़ सौ वर्षों से भी अधिक बीत चुके थे। विषय के साथ-साथ अभिव्यंजना कौशल की दृष्टि से भी पद्माकर के काव्य में विविधता का समावेश हुआ है। काव्य-मर्मज्ञों तथा रसिकों के लिए वर्ण्य विषय तथा परिस्थितियों के अनुरूप छन्दों का उचित तथा विविध प्रयोग अत्यन्त रोचक है। कहीं तो उनकी पंक्तियाँ बिना अवरोध या कर्कशता के स्निग्ध और स्वाभाविक ढंग से प्रवाहित होती हैं तो कहीं उनके पद्यों में झरने की कल-कल, छल-छल ध्वनि से युक्त निनादित संगीत का रव है। जहाँ तक भाषा और पदावली सम्बन्धी प्रवाह, माधुर्य और सरसता के निर्वाह का प्रश्न है पद्माकर की भाषा इन्हीं दो अवस्थाओं के अन्तर्गत अपनी मनोहर क्रीड़ा दिखलाती है, यही इसके दो भेद हैं। यह सच है कि पद्माकर की कुछ रचनाओं में अनुप्रास-बहुलता की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है जो दोष माना जाता है। किन्तु कवि की इस प्रवृत्ति के विशेष समर्थन में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन अत्यन्त सार्थक है कि अनुप्रासों के अत्यधिक प्रयोग उनके काव्य में यत्र-तत्र ही कुछ विशेष प्रकार के पद्यों में मिलेंगे। अनुप्रासों का अत्यधिक प्रयोग कुछ विशेष लक्ष्य और प्रयोजन से किया गया है। यद्यपि शुक्ल जी का यह तर्क अनुप्रासों से बोझिल कविता के भार को कुछ कम कर देता है किन्तु यह तो सत्य है कि पद्माकर का काव्य और भी अधिक लोकप्रियता और प्रशस्ति प्राप्त करतायदि कवि ने शब्दानुप्रासों के प्रयोग में अधिक संयम से काम लिया होता।

शब्दों के प्रयोग द्वारा आँखों के सामने सजीव चित्र प्रस्तुत कर देने की अद्भुत और अपूर्व क्षमता पद्माकर में थी। बिहारी को छोड़कर इस काल के किसी भी अन्य कवि में ऐसी विस्मयकारी और अलौकिक प्रतिभा न थी। इसी का यह परिणाम है कि कवि के कतिपय पद्यों में दुर्लभ चित्रात्मकता है। उनकी कविताओं में केवल प्रेमियों तथा उनकी सुकुमार वृत्तियों का रूपांकन ही नहीं अपितु महत्वपूर्ण स्थितियों, भावनाओं और मनोदशाओं का चित्रण भी मिलता है। इस तरह पद्माकर के काव्य-विषय, स्थिति के संयोजन तथा काव्य में चित्रित रमणीय वातावरण के आधार पर किसी कुशल चित्रकार द्वारा अनेक मनोहर चित्रों का निर्माण किया जा सकता है। विषय के सरल अभिव्यक्ति की क्षमता पद्माकर के काव्य को सुस्पष्टता और सजीवता प्रदान करती है। पद्माकर के काव्य के अध्ययन द्वारा हम भोग और ऐश्वर्य से परिपूर्ण एक ऐसे सामंतशाही लोक में प्रविष्ट होते हैं जिसमें जीवन की सामान्य समस्याओं के लिए कोई स्थान नहीं है। उस संसार में संचरण और निवास करनेवालों का एक मात्र उद्देश्य आनन्द और सुख की एषणाओं के पीछे भटकते रहना ही प्रतीत होता है। इस प्रकार के जीवन से कवि का अच्छा परिचय था तथा काव्य में उस ढंग के वातावरण को सजाकर

प्रस्तुत करने में कवि ने सफलता प्राप्त की है । 'जगद्विनोद' का अध्ययन सामन्तों के संसार तथा राजमहल के सुख और आनन्द की एक विहंगम झाँकी दे देता है ।

प्रताप साहि—

ये चरखारी के महाराज विक्रम साहि के राजकवि थे । 'व्यंगार्थ कौमुदी' (सन् १८२५) और 'काव्य-विलास' (सन् १८२९) नामक दो ग्रन्थों के अलावा इन्होंने और भी अनेक मौलिक ग्रन्थों और टीकाओं का निर्माण किया । इनकी टीकाओं में 'रसराज', 'बिहारी सतसई' और बलभद्र कृत 'नख-शिख' की टीका का नाम विशेष उल्लेखनीय है । 'व्यंगार्थ कौमुदी' में व्यंजना के अनेक उदाहरण हैं तथा संस्कृत काव्य-शास्त्र की ध्वनि शाखा को प्रस्तुत करने वाला यह सबसे अनुपम और प्रधान ग्रन्थ है । 'काव्य-विलास' का क्षेत्र व्यापक है तथा इसमें काव्य की सामान्य विवेचना, उसके कार्य, गुण, दोषों आदि का विचार हुआ है । काव्य के सिद्धान्त पक्ष का विदेचन करनेवाले मतिराम, श्रीपति, तथा दास जैसे आचार्यों की कोटि में प्रताप साहि का नाम गिना जाता है । वास्तव में देखा जाय तो एक प्रकार से अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा चलाये हुए सैद्धान्तिक कार्य को विकसित और परिष्कृत कर इन्होंने उसे पूर्णता तक पहुँचाया । अतः पूर्ववर्त्ती आचार्यों से भी ऊँचे स्थान के ये अधिकारी प्रमाणित होते हैं । कवि के रूप में, माधुर्य और रसात्मक अभिव्यंजना के विचार से ये मतिराम के निकट तथा चित्रात्मक वैविध्य की दृष्टि से पद्माकर के समकक्ष हैं । इस प्रकार कवि और आचार्य या आलोचक दोनों के रूप में ये श्रेष्ठ और महान हैं ।

द्वादश प्रकरण

रीतिकाल के अन्य कवि (सन् १६५०-१८५०)

पिछले दो अध्यायों में हमने रीति-काव्य शाखा के प्रमुख कवियों की रचनाओं पर विचार किया है। काव्य के कुछ विशेष गुण-तत्व इन सभी कवियों में पाये जाते हैं। एकमात्र भूषण को छोड़कर इन सारे कवियों में घोरतम वासनामय श्रृंगारिक प्रेम-काव्य रचना की प्रवृत्ति पायी जाती है तथा कुछ कवियों की रचनाओं में तो केवल श्रृंगार के एकाँगी चित्रण की रुचि ही लक्षित होती है। वे सभी कवि कुछ निश्चित साहित्यिक सिद्धान्तों के समर्थक थे तथा समान रूप से उन्होंने अपनी रचनाओं में उनको प्रस्तुत एवं व्यवहृत करने का प्रयत्न किया है। इनमें से कुछ ने रस-सिद्धान्त, कुछ ने ध्वनि, तथा अन्य ने अलंकारों की परम्परा को अपनाया। यद्यपि इन विभिन्न सिद्धान्तों में से किसी एक को ही उन्होंने प्रधानता दी है फिर भी अन्यान्य सिद्धान्तों का विचार और उनका वर्णन करने के लिए भी वे सदा तत्पर दिखाई देते हैं। जैसे-जैसे समय बीतता गया सिद्धान्तों के प्रति आग्रह अधिकाधिक जोर पकड़ता गया। इसी भावना का परिणाम है कि प्रायः दो सौ वर्षों तक ये कवि निरन्तर काव्य-शास्त्र और छन्द-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना में संलग्न रहे तथा कविता अधिकाधिक पांडित्यपूर्ण, रूढ़िग्रस्त तथा आलंकारिक होती गई। इसमें यथार्थ भावना एवं स्वच्छन्द अनुभूति के सहज-स्वाभाविक प्रकाशन की शक्ति नष्ट हो गयी। यही कारण है कि रीति कालीन काव्य की प्रायः कड़ी आलोचना हुई है और कभी-कभी तो उसे निकृष्ट और निम्न श्रेणी का काव्य माना गया है।

यद्यपि इन दो सौ वर्षों में रचित प्रायः अधिकांश काव्य इसी प्रकार का था फिर भी यह धारणा भ्रामक है कि अन्य प्रकार का काव्य इस-काल में बिलकुल लिखा ही नहीं गया। हमारे विचारार्थ इस काल के कितने ही कवि शेष बच जाते हैं जिनको हम किसी प्रकार भी उन कवियों की श्रेणी में नहीं बैठा सकते जिनका विचार हम पिछले अध्यायों में कर आये हैं। इस काल के इन अन्य कवियों को हम कई श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं।

(क) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण श्रेणी उन कवियों की है जिनके काव्य में उनके

काल के प्रभाव की छाया स्पष्ट है। उनकी कविता शृंगारिक है, परन्तु उन्होंने स्वाभाविक भावनाओं को रूढ़िमुक्त और स्वच्छन्द बनाकर उसे अपने काव्य में अंकित किया है। इन कवियों के काव्य में उत्कृष्ट गुण और तत्व वर्तमान हैं । इस श्रेणी के महत्वशाली कवि घनानन्द, आलम, बोधा, ठाकुर और द्विजदेव हैं।

(ख) दूसरी श्रेणी के कवि वे हैं जिन्होंने विशद प्रबन्ध-काव्यों की रचना की। सबल सिंह, लाल, सूदन और चन्द्रशेखर उनमें से विशेष उल्लेखनीय हैं । उनकी रचनाओं में शृंगार-रस नहीं अपितु वीर-रस ही प्रधान है।

(ग) तीसरी श्रेणी उन कवियों की है जिनका उद्देश्य बुद्धि-संगत उक्तियों का कथन अथवा व्यावहारिक ज्ञान का निर्देशन है । वृन्द तथा गिरिधर कवि राय इस श्रेणी के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि हैं।

(घ) चतुर्थ श्रेणी के कवियों ने भक्ति-विषयक रचनाएँ की हैं । नागरीदास इसी श्रेणी के श्रेष्ठ कवि हैं।

सबल सिंह चौहान--

इनके बारे में केवल इतना ही ज्ञात हो सका है कि ये इटावा जिले के एक जमींदार थे तथा औरंगजेब के आश्रित उनके राजदरबार में अपने एक मित्र के साथ इन्होंने दिल्ली में ही जीवन व्यतीत किया। महाभारत की कथा को विशद वर्णनात्मक प्रबन्ध-काव्य में लिखनेवाले कवि के रूप में इनकी प्रसिद्धि है। यह विशाल ग्रन्थ बड़ी मन्द गति से सन् १६६१ और १७२४ के बीच दोहों तथा चौपाइयों में लिखा गया था। यह ग्रन्थ साहित्यिक गुण-तत्वों से रहित तथा महत्त्वहीन है किन्तु यह शीघ्र ही लोकप्रिय हो गया। इसका कारण यह था कि इसमें महाभारत की कथा अत्यन्त सरल शैली में कही गयी है जो जन-साधारण के मानसिक स्तर के लिए सहज ही बोधगम्य है।

वृन्द--

इस कवि का जन्म राजपूताने में हुआ था तथा इनकी रचनाएँ सत्रहवीं शताब्दी के अन्त अथवा अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ की हैं। यद्यपि तीन पुस्तकें उनकी लिखी हुई बतलायी जाती हैं फिर भी वे 'वृन्द सतसई' के रचयिता के रूप में ही अधिक प्रसिद्ध हैं। जैसा कि ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट है, यह पुस्तक सात सौ दोहों का संग्रह है तथा प्रत्येक दोहे में कुछ-न-कुछ सांसारिक ज्ञान निहित है। इसकी अभिव्यञ्जना में जीवन का सार भरा हुआ है जो मर्मस्पर्शी भी है । किन्तु जहाँ तक वृन्द के काव्य का प्रश्न है वह ज्ञान-साहित्य है, अतः कवि के रूप में उनका स्थान कोई महत्त्वपूर्ण नहीं है।

आलम--

आलम नामक कवि जाति का ब्राह्मण था। एक मुसलमान युवती से उसका

प्रेम हो गया फलतः उसने इस्लाम धर्म अंगीकार किया । उसकी प्रेयसी शेख एक प्रतिभापूर्ण नारी थी जिसने कविताएँ भी लिखीं और वे कविताएँ उसके प्रेमी की रचनाओं के साथ मिल गईं अतः यह कहना अत्यन्त कठिन है कि अमुक रचना या उसका कोई अंश प्रेमी कवि अथवा उसकी प्रेमिका में से किसके द्वारा रचा गया था । आलम का एकमात्र ग्रन्थ 'आलम केलि' है जो प्रकाशित हुआ है। किन्तु अनेक स्फुट रचनाएँ जो इस पुस्तक में संग्रहीत नहीं हैं कवि के नाम से आज भी जनता में प्रचलित हैं । आलम प्रेमी थे तथा उनका काव्य उनकी भावनाओं तथा अनुभूतियों की सहज-स्वाभाविक अभिव्यञ्जना है । उसमें प्रेमजन्य व्यथा, मिलन का आनन्द, और विरह-वेदना का चित्रण है । हृदय के स्वाभाविक उद्‌गार आलम की कविताओं को उनका विशिष्ट स्वर प्रदान करते हैं । अभिव्यञ्जना तथा वर्णित भावोद्‌गारों में सुन्दर साम्य है । कवि विषय या भाव-वस्तु से दूर नहीं जाता और न तो वह काव्य को अतिरञ्जित रूप में प्रस्तुत करता है । विचारों की प्रबलता और आवेग तथा प्रेमी और कवि की श्रेष्ठ मनोरम भावनाएँ गीत बन कर फूट पड़ती हैं । इन सब बातों का विचार करें तो इसमें किञ्चित् सन्देह नहीं कि आलम अद्‌भुत प्रतिभावान कवि थे ।

लाल—

इनका पूरा नाम गोरेलाल पुरोहित था । ये बुन्देलखण्ड के अन्तर्गत मऊ के निवासी थे तथा महाराज छत्रसाल के प्रिय कवि बन कर इन्होंने अपना अधिकांश समय ओरछा में व्यतीत किया । इनके जन्म तथा मृत्यु की ठीक-ठीक तिथियाँ अज्ञात हैं । किन्तु जो कुछ भी ज्ञात हो सका है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये सम्भवतः अपने आश्रयदाता के साथ सहयोगी वीर के समान रणक्षेत्र में लड़े थे । लाल-रचित सुलभ ग्रन्थ का अचानक अन्त उस समय ही हो जाता है जब सन् १७०७ के बाद औरंगजेब के उत्तराधिकारी और बेटे ने छत्रसाल से सन्धि की तथा उनसे सहायता माँगी । अतः इन दो बातों में से किसी एक के ही सत्य होने की सम्भावना है, या तो अपने आश्रयदाता के सम्पूर्ण पराक्रम तथा विजय-वर्णनों को रचने के पहले उनकी मृत्यु हो गयी अथवा काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित उस ग्रन्थ का पाठ एक अंशमात्र ही है ।

लाल ने यद्यपि क्रमशः 'छत्रप्रकाश', 'विष्णु विलास', और 'राज विनोद' नामक तीन ग्रन्थ लिखे, किन्तु उपरोक्त प्रथम ग्रन्थ के रचयिता के रूप में ही वे विशेष प्रसिद्ध हुए । 'छत्र-प्रकाश' दोहों और चौपाइयों में लिखा हुआ डेढ़ सौ पृष्ठों का कथा-त्मक प्रबन्ध-काव्य है । इसके प्रारम्भ में ओरछा के शासकों का वंशानुगत वर्णन है । तत्पश्चात् छत्रसाल के पिता चम्पतराय बुन्देला की देशभक्ति और उनके परा-क्रमों का विशद् वर्णन है । छत्रसाल के वीरतापूर्ण कार्य तथा युद्धक्षेत्र की उनकी

सफलताएँ विशेषत: सविस्तार वर्णित हुई हैं। यह वर्णन हमें प्रत्येक स्थल पर छत्रसाल की महानता, वीरता और देश-भक्ति का सच्चा परिचय देता है। मनगढ़न्त—कल्पित घटनाओं के मेल से कवि अपने कथानायक का वर्णन भावावेश अथवा अन्य किसी प्रभाव के वशीभूत होकर कदापि नहीं करता। आदि से अन्त तक ऐतिहासिक तथ्यों का निर्वाह बड़ी कुशलता से हुआ है तथा वीर छत्र-साल के जीवन से उचित घटनाओं के चयन द्वारा ओजस्वी प्रबन्ध-पटुता तथा उचित स्थल पर भावोत्कर्ष की व्यञ्जना द्वारा कवि ने अपने लक्ष्य की पूर्ति में विशेष सफलता प्राप्त की है। हिन्दी के प्रबन्धकारों में लाल का स्थान महत्त्वपूर्ण है तथा कुछ आलोचकों ने तो तुलसीदास के बाद उनका ही स्थान निश्चित किया है। गम्भीर-द्विधापूर्ण तथा जटिल परिस्थितियों के द्वारा अपने प्रबन्ध-काव्य की अविच्छिन्न श्रृंखला के निर्वाह में वे बड़ी कुशलता से विशेष सफल हुए हैं। उदाहरणार्थ छत्रसाल के युद्धों तथा शिवाजी से उनकी प्रसिद्ध ऐतिहासिक भेंट को हम ले सकते हैं।

जैसा कि हमने पहले कहा है 'छत्र-प्रकाश' की रचना दोहों और चौपाइयों में हुई है तथा तुलसीदास को छोड़कर अन्य कोई भी कवि इन सरल छन्दों का ऐसा प्रभावोत्पादक प्रयोग करने में समर्थ नहीं हो सका है। दोहों तथा चौपाइयों का यह मिश्रित प्रयोग-विशुद्ध चित्रण और वर्णनों तथा भाषण और कथोपकथन के लिए समान रूप से किया गया है। आद्योपान्त शब्दों का चयन-सरल और स्वाभाविक हुआ है। कवि शब्दों की सस्ती चमत्कारिक संगीतात्मकता के फेर में कहीं भी नहीं पड़ा है और न शब्द-वैचित्र्य और भाषा में चमत्कार लाने का यत्न ही कहीं दृष्टिगोचर होता है। भाषा का सौन्दर्य विचारों और भावनाओं के सौन्दर्य से घुल-मिल गया है। कवि की भाषा में ब्रजभाषा, अवधी, तथा बुन्देलखण्डी जन-भाषा के शब्दों का सुन्दर मेल है, अत: कभी-कभी हमें यह बोध होता है कि इनकी भाषा में तुलसीदास द्वारा प्रयुक्त अवधी से अधिक वैविध्य है। भूषण की तरह लाल ने भी अपने समय के सबसे बड़े वीर और देशभक्त नरेश के प्रशंसा-गान में जीवन का सदुपयोग किया। इस तरह कवि ने अपने उस भव्य व्यक्तित्व को हमारे सम्मुख रखा जो उन अन्य समकालीन गुण-गायक कवियों से भिन्न अपना पृथक परिचय देता है जिन्होंने केवल धन के लिए ही पतनोन्मुख जमींदारी के अधीश्वरों का गुणगान किया था। कवि लाल हिन्दी-काव्य की एक अमूल्य निधि हैं।

घनानंद—

प्रो० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के आधुनिक अनुसन्धान-कार्य से कवि के जीवन तथा उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में एक निश्चित मत पर पहुँचने में पर्याप्त सहायता मिली है। अभी तक बतलायी जानेवाली अनेक तिथियों का खण्डन करने

के पश्चात् वे सन् १६७३ कवि की जन्म-तिथि तथा सन् १७६१ कवि की मरण-तिथि निश्चित करते हैं। प्राचीन ग्रन्थों तथा उनकी पुस्तक में भी आनन्द, आनन्द घन, और घन आनन्द इन तीन नामों को लेकर कवि के नाम के बारे में भ्रम होने का उल्लेख है अतः स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि इन तीनों नामों का सम्बन्ध किसी एक व्यक्ति से है अथवा भिन्न-भिन्न कवियों से। यह निर्धारित किया गया है कि घनानन्द अथवा आनन्द घन से भिन्न एक आनन्द नामक अन्य कवि हुआ था और यद्यपि घनानन्द नाम के दो भिन्न कवि भी हुए हैं किन्तु जिससे हमें यहाँ प्रयोजन है वह कवि अपने को आनन्द घन और घनानन्द इन दोनों नामों से प्रचारित करता था और इसीलिए उसकी इच्छा के प्रति आदर प्रकट करने के निमित्त दोनों नाम एक दूसरे के पर्याय-रूप में व्यवहृत होते आए हैं।

घनानन्द जाति के कायस्थ थे तथा दिल्ली में पैदा हुए थे। मुहम्मद शाह को इन्होंने मीर मुंशी अथवा प्रधान लिपिक के रूप में अपनी सेवाएँ अर्पित कीं। लोगों में यह प्रचलित धारणा है कि किसी साधारण बात पर अकारण अप्रसन्न हो शाह ने इन्हें निष्कासित कर दिया तथा वे वृन्दावन आये और वहाँ मृत्युपर्यन्त निवास किया। जिस परिस्थिति में इनकी मृत्यु हुई वह घटना बड़ी ही हृदय-द्रावक है। अहमदशाह अब्दाली के द्वितीय आक्रमण के समय लुटेरों के एक दल ने इन्हें घेर लिया। उन्होंने इनसे ज़र-ज़र की रट लगाकर धन माँगा। त्याग का जीवन बिताने वाले घनानन्द के पास देने के लिए कुछ भी न था अतः उन्होंने रज-रज-रज कहकर तीन बार मुट्ठी भर-भर कर वृन्दावन की धूल उन पर फेंक दी। इस पर क्रुद्ध सिपाहियों ने कवि के जीवन का अन्त कर दिया।

प्रो० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा उल्लिखित सूची में कवि के ग्रन्थों की संख्या ४० है। यह सूची छतरपुर राज्य से प्राप्त हुई हस्तलिपियों की वृन्दावन से मिली सूचना तथा आंग्ल संग्रहालय (ब्रिटिश म्यूजियम) में सुरक्षित हस्त-लिपियों की नामावली के तुलनात्मक अध्ययन पर अवलंबित है। 'घनानन्द कवित्त' और 'घनानन्द-पदावली' को छोड़कर 'सुजान हित', 'कृपाकंद निबन्ध', 'वियोग-बेलि', तथा 'इश्कलता' उनके अन्य काव्य ग्रन्थ हैं।

इस काल के अन्य कवियों की तुलना में सबसे अधिक हिन्दी काव्य-क्षेत्र का विस्तार घनानन्द ने किया तथा उसे महत्ता प्रदान की। उनकी रचनाओं में कविता उन्मुक्तगगन में स्वच्छन्द विचरण करती है तथा उसे वह स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई है जिससे रीति-कालीन कवियों ने उसे वंचित कर दिया था। निर्जीव रूढ़ियों, अन्धविश्वासों तथा बँधी-बँधाई परिपाटी को उन्होंने जरा भी महत्व नहीं दिया है तथा उनका काव्य अपने स्वाभाविक नियमों को

छोड़कर अन्य कोई नियम नहीं मानता । बहता हुआ जलस्रोत जैसे अपना मार्ग ग्रहण कर लेता है ठीक उसी प्रकार कवि की प्रकृत-स्वाभाविक तथा शक्ति-शालिनी भावनाएँ स्वतः अपनी यथार्थ अभिव्यंजना पा जाती हैं । एक ऐसे समय में जब कि साधारणतः काव्य-रचना कृत्रिमता के तुषारपात से, शैली की एकरूपता से, तथा अलंकारों के जटिल प्रयोग से श्री-विहीन होकर निरर्थक भार से दबी जा रही थी, घनानन्द की कविता वास्तव में मनोहारिणी तथा नवीन चेतना जाग्रत करने वाली थी । लौकिक तथा पारलौकिक दोनों अर्थ में कवि प्रेमी था । प्रत्येक क्षण उसने विरह वेदना का अनुभव किया था तथा परम प्रियतम से मिलन के लिए वह निरन्तर व्याकुल रहा । विरह की यही व्यथा तथा व्याकुलता मूलतः उसके मधुर काव्य का विषय है ।

सरस मर्मस्पर्शी विशुद्ध विचारों और भावनाओं के चित्रण के लिए घनानन्द ने ब्रजभाषा का सुन्दर एंव मधुर प्रयोग किया है । यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि किसी भी अन्य कवि ने ब्रजभाषा पर ऐसा पूर्ण अधिकार नहीं दिखलाया है । उनके काव्य में ब्रजभाषा अपने विशुद्ध, पूर्ण विकसित, तथा मधुर रूप में व्यवहृत हुई है तथा उनके बाद के किसी कवि द्वारा उन्हें 'ब्रजभाषा-प्रवीण' की उपाधि का दिया जाना अत्यन्त सार्थक और उचित है । उनके काव्य को छोड़कर इस प्रकार की भाषा की सरस, स्वाभाविक मदिर-गति तथा पंक्तियों और पदों में मधुर लय और संगीत अन्यत्र नहीं मिलते । उनकी भाषा में सरलता का स्वाभाविक गुण वर्तमान है । कवि की कितनी ही रचनाएँ माधुर्य और सरलता इन दो दुर्लभ गुणों के कारण मन पर मर्मस्पर्शी प्रभाव डालती हैं । परन्तु उनकी ऐसी रचनाएँ भी हैं जो अभिव्यञ्जना की दृष्टि से सरल नहीं है । घनानन्द ने अलंकारों के व्यवहार की परम्परा को नहीं अपनाया किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि उनका काव्य अलंकारों की स्वाभाविक सुषमा और सौन्दर्य से वंचित हो गया । विरोधी भावनाओं के साथ-साथ चित्रण तथा साधारणतः विरोधी भावों और रूपकों में साम्य स्थापित करने की प्रवृत्ति कवि में थी । प्रचुर मात्रा में सुलभ ऐसी प्रतिभा पाठकों के आनन्द का चिर स्रोत है । इस प्रतिभा का चमत्कार निम्न कोटि का नहीं अपितु कवि की घनी अनुभूतियों के प्रत्यक्ष उद्‌गार के रूप में प्रकट हुआ है । ये अनुभूतियाँ ऐसी तीव्र और पैनी हैं कि साधारण अभिव्यञ्जना-शैली उसे प्रत्यक्ष करने में सर्वथा असमर्थ है अतः अभिव्यञ्जना की नयी प्रणालियों की आवश्यकता पड़ी । घनानन्द की सबसे बड़ी देन यह थी कि उन्होंने शब्दों और उक्तियों को नया अर्थ और नयी सांकेतिकता प्रदान कर अभिव्यञ्जना के नये तत्त्वों से भाषा को समृद्ध किया । उनकी अत्यन्त व्यक्तिगत आन्तरिक अनुभूति भाषा का माध्यम पाकर हमारे सम्मुख सजीव हो उठती है । भाषा के

इस नवीन माध्यम का निर्माण भावनाओं की तीव्रता के सहारे किया गया है।

कवि की प्रतिभा विशेषतः अन्तर्वृत्ति-निरूपक ही थी। दृश्य-जगत के मूर्त्त वर्णनों की अपेक्षा विचारों, भावनाओं और कल्पनाओं से ही इनका अधिक प्रयोजन था। जहाँ कहीं भी वाह्य-जगत के ऐसे वर्णन आए हैं उनमें अन्तर्वृत्ति की क्रिया-प्रक्रिया का ही रंग गाढ़ा हो गया है। कवि की आत्मानुभूति और अनुभव का सम्बन्ध प्रेम से ही है तथा रीतिकाल में प्रेम के गीत गाने वाले पहले और अग्रगण्य कवि घनानन्द ही हैं। सर्वत्र एक भाव से इस प्रेम की चेतना तथा उससे उत्पन्न होने वाले आनन्द और मधुर-वेदना 'प्रेम की पीर' की व्यञ्जना का निरन्तर निर्वाह करने का उन्होंने प्रयास किया है। जब वे प्रेम की आन्तरिक-दशा का चित्रण करते हैं तो प्रायः रहस्यमय मनोलोक तक पहुँचते हुए-से प्रतीत होते हैं तथा उनके शब्द अपने अर्थ से अधिक संकेत दे जाते हैं। किन्तु बहुधा उनके गाये हुए प्रेम के गीत इस ढंग के हैं कि उनकी भावनाओं का रसास्वादन कर लेना जनसाधारण के लिए भी सुगम है।

भावनाओं तथा अनुभूतियों की सचाई, स्वाभाविकता और स्वच्छन्दता साथ ही साथ भाषा के सुन्दर और कलात्मक प्रयोगों के कारण घनानन्द के काव्य का अनुशीलन अनुपम आनन्द-रस से आत्मविभोर कर देता है। रीतिकालीन काव्य के नीरस और कृत्रिम वातावरण में कवि का प्रादुर्भाव ऐसा ही आनन्ददायक तथा मनोहर है जैसे किसी शुष्क मरुस्थल में हरित भूमि।

नागरीदास—

इनका जन्म सन् १६९९ में कृष्णगढ़ के राजघराने में हुआ था। बाल्यावस्था से ही इनमें अद्भुत वीरता के चिह्न वर्तमान थे। बड़े होने पर ये एक श्रेष्ठ वीर प्रमाणित हुए। गृहकलह तथा भाई-भाई के पारस्परिक युद्धों से ये इतने ऊब गये कि इन्होंने कृष्णगढ़ के राजसिंहासन पर बैठने का अपना अधिकार छोड़ दिया। वृन्दावन में जाकर भगवान कृष्ण की उपासना में अपना शेष जीवन व्यतीत किया तथा ब्रजप्रदेश इन्हें अत्यन्त प्रिय था और एक दिन या एक रात के लिए भी उससे अलग होना इन्हें असह्य था। ये एक बहुप्रज्ञ लेखक थे तथा इनके लिखे हुए ग्रन्थों की संख्या करीब-करीब ७३ मानी जाती है किन्तु उनमें से अधिकांश आकार में वहुत छोटे हैं। इनकी काव्य-सामग्री कृष्ण तथा राधा के जीवन तथा ब्रज में उनके मधुर केलिकलापों से ली गयी है। कवि ने विविध छन्दों का प्रयोग किया है। उनके पद सरस हैं किन्तु अन्य कविताएँ ऐसी नहीं कि उनकी सराहना हो सके। नागरीदास का ब्रजभाषा पर अच्छा अधिकार था उनकी रचनाएँ इस काल के भक्ति काव्य का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

गिरधर कविराय––

कितने आश्चर्य की बात है कि इस कवि के जीवन का कुछ भी वृत्तान्त ज्ञात नहीं, जब कि इनकी कुण्डलियाँ अत्यन्त लोकप्रिय हैं। इनकी यह लोकप्रियता रचनाओं के साहित्यिक गुणों के कारण नहीं अपितु सम्भवत: उनके कथन की स्पष्टता और व्यावहारिकता के कारण ही है। बड़े स्वाभाविक ढंग से कवि ने दैनिक जीवन के साधारण अनुभवों और व्यापारों का वर्णन किया है। उनके कथन का सम्बन्ध चिर-परिचित दैनिक व्यापारों से है और उनके शब्दों में जन-साधारण के अनुभवों का आभास व्यक्त है अत: लोग उनकी रचनाएँ चाव से पढ़ते हैं। व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करने वाले उपदेशक के रूप में गिरधर कवि वृन्द की काव्य-परम्परा के अनुगामी हैं, यद्यपि वृन्द उनसे उत्कृष्ट कवि हैं। यह माना जाता है कि सन् १७४३ के लगभग उन्होंने कुण्डलियों की रचना की।

गुमान मिश्र––

इस कवि का जन्म महोबा में हुआ था और इन्होंने पिहानी के अकबर अली का आश्रय-प्राप्त किया। 'नैषध-चरित्र' के पद्यानुवादक के रूप में इनकी विशेष ख्याति है। यदि थोड़े में कहें तो अनुवाद सफल हुआ है, यद्यपि जहाँ-जहाँ पर भावार्थ की सूक्ष्म मौलिकता का प्रश्न है उसे कवि अपने अनुवाद में उसी प्रकार ठीक-ठीक व्यक्ति कर सकने में असफल रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ में व्यवहृत छंदों की विविधता हमें 'रामचन्द्रिका' की याद दिला देती है। रीति-शैली की आधारभूत विषय-वस्तु को लेकर गुमान ने कुछ अन्य पुस्तकें भी लिखी हैं, ऐसा माना जाता है। उनका काव्य उत्कृष्ट एवं उच्च स्तर का है।

सूदन––

मथुरा के एक चौबे परिवार में इनका जन्म हुआ था। बाद में ये भरतपुर में जाकर बस गये जहाँ इन्होंने राजा सुजान सिंह उपनाम सूरजमल के राजकवि के रूप में अधिकांश जीवन व्यतीत किया। 'सुजान चरित्र' नामक उनका प्रबन्ध-काव्य उनके आश्रयदाता के पराक्रमों का विशद वर्णन है। अपने नव-प्रकाशित वर्तमान रूप में यह ग्रन्थ २३४ पृष्ठों का है फिर भी यह अपूर्ण ही प्रतीत होता है। इसमें सन् १७४५ से लेकर सन् १७५३ तक की ऐतिहासिक घटनाओं का कालक्रम से वर्णन हुआ है। कवि लाल के 'छत्र-प्रकाश' की तरह ऐतिहासिक तथ्यों के दिग्दर्शन में ही इसकी विशेषता सन्निहित है तथा इस विचार से यह एक अमूल्य ग्रन्थ है। काव्यगुण की दृष्टि से यह कवि लाल के 'छत्र-प्रकाश' से निस्संदेह निम्न कोटि का ग्रन्थ है। भाषा की विशुद्धता तथा उसका स्वाभाविक प्रवाह भी वैसा सरस नहीं है। प्रबन्ध-काव्य के विकास में सहायक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचानने की

वास्तविक क्षमता सूदन में न थी और न तो वे कथा द्वारा सुलभ स्थलों का अधिक से अधिक सदुपयोग ही कर पाये हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि अनेक स्थलों पर प्रबन्ध-काव्य नीरस हो गया है। अनावश्यक विस्तार तथा वर्णनों की निष्फल पुनरावृत्ति कवि के अन्य दोष हैं। उदाहरणार्थ एक स्थल पर कवि ने घोड़ों के विभिन्न भेदों की एक विस्तृत सूची बना डाली है, यह वर्णन कवि के तद्विषयक ज्ञान के व्यर्थ प्रदर्शन को छोड़कर अन्य कोई महत्त्व नहीं रखता। मिश्रबन्धुओं का यह कथन अत्यन्त सार युक्त है कि युद्ध के प्रारम्भिक आयोजन के वर्णन में सूदन, युद्ध के वर्णन में लाल, तथा भयाकुल वैरी के अस्त व्यस्त पलायन के दृश्यों को अंकित करने में भूषण प्रवीण हैं। भाषा तथा कथावस्तु के निरूपण इन दोनों विचारों से सूदन प्रबन्ध-काव्य की रचना करनेवाले एक महत्त्वपूर्ण कवि हैं यद्यपि लाल की तुलना में उनका स्थान निम्न ठहरता है।

बोधा—

इनका वास्तविक नाम बुद्धिसेन था। स्नेह के कारण इनके आश्रयदाता इन्हें बोधा कहकर पुकारा करते थे। ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे तथा बाँदा जिले के राजापुर ग्राम में इनका जन्म हुआ था जो तुलसीदास का भी जन्मस्थान माना जाता है। इनके जन्म और मृत्यु की निश्चित तिथियाँ अभी तक ज्ञात नहीं हो सकी हैं किन्तु फिर भी अधिक सम्भव है कि सन् १७४७ ही इनकी जन्मतिथि हो। यह तिथि 'शिवसिंह सरोज' में दी हुई है तथा हिन्दी साहित्य के परवर्ती ऐतिहासिकों का भी इस सम्बन्ध में यही मत है। अपने जीवन के अन्तिम काल तक बोधा पन्ना के राज दरबार में रहे।

बोधा एक महान् रसिक कवि थे। उनके प्रेम-वर्णन में आध्यात्मिकता का पुट लेशमात्र भी नहीं है। वह पूर्ण रूप से ऐहिक और वासनामय प्रेम था। 'विरह वारीश' तथा 'इश्कनामा' नामक उनकी दो पुस्तकें राज-दरबार की सुभान नामक वेश्या तथा कवि की प्रियतमा को सम्बोधित कर उसी के करुण वियोग में लिखी गई हैं। उसके मादक सौन्दर्य का वर्णन कवि ने कई पद्यों में किया है। शारीरिक तथा वासनाजन्य आकर्षण के होते हुए भी उन कविताओं में तीव्र भावनाओं के कारण अनूठी तरलता आ गई है। प्रणय-वेदना की ऐसी ही अनूठी व्यञ्जना करने का यत्न भी उन्होंने किया है। उन्होंने अन्तर की सारी वेदना प्रेमसक्ति शब्दों में भरकर रख दी है तथा लज्जा-संकोच अथवा अन्य किसी द्विधा या हिचक का अनुभव किये बिना स्वच्छन्द होकर प्रेमिका के प्रति अपनी आसक्ति की अभिव्यञ्जना की है। उनकी सच्चाई तथा दृढ़ निर्भीकता हम पर अपना एक विशेष प्रभाव डालती है।

उनकी कविता ब्रजभाषा में रचित है और यद्यपि उसमें परिष्कार एवं लालित्य नहीं है, फिर भी उसमें में पर्याप्त आवेग और तीक्ष्ण प्रभाव है। प्रेममार्गी कवि होने के कारण तथा काव्याभिव्यञ्जना को नीरस और शुष्क करने वाली रीति-कालीन परिपाटी और रूढ़ियों के प्रति गहरी अश्रद्धा के कारण बोधा आलम और घनानन्द की कोटि में आते हैं।

ठाकुर—

इस नाम के कम-से-कम तीन कवि तो अवश्य ही हुए हैं, अतः कवि के जीवन-वृत्त तथा उसकी रचनाओं के सम्बन्ध में भ्रान्ति उत्पन्न होती है। इन कवियों में सबसे अधिक उल्लेखनीय कवि ठाकुर या ठाकुरदास हैं जो जैतपुर नरेश पारीछत के राजकवि थे। इनके कुटुम्बी मूलतः अवध में निवास करते थे किन्तु कवि के पिता बुन्देलखण्ड में जाकर बस गये थे अतः उनका परिवार भी वहाँ बस गया। ठाकुर कवि का जन्म सन् १७६६ तथा देहावसान सन् १८२३ में हुआ। इस कवि के नाम से प्रकाशित एक मात्र ग्रन्थ 'ठाकुर-ठसक' है जिसमें कवि के ही नाम के अन्य कवियों की रचनाएँ भी संग्रहीत हो गई हैं; इसका स्पष्ट आभास मिलता है।

ठाकुर स्वच्छन्द प्रकृति के कवि थे तथा बोधा की तरह ही अपने वर्णनों में वे निर्भीक और स्पष्टवादी थे। उनकी रचनाओं से यह स्पष्ट है कि उनका व्यक्तित्व दृढ़ था तथा वे अपने विचारों और अपनी मान्यताओं के कट्टर अनुगामी थे। कवि के रूप में ये बोधा के ही समान थे। स्वाभाविकता तथा यथार्थ के निर्भीक प्रकाशन के कारण ठाकुर प्रधानतः प्रेम निरूपक कवि ही ठहरते हैं। इनकी भावनायें प्रबल और तीव्र हैं तथा उनकी अभिव्यञ्जना स्पष्ट और प्रभावपूर्ण है। अपनी एक कविता में ठाकुर ने उन कवियों की भर्त्सना की है जिन्होंने काव्य रचना की बँधी-बँधाई परिपाटी तथा उसके नियमों और रूढ़ियों का पालन किया है। इस प्रकार उन्होंने कवि-कर्म के निर्वाह में पूर्ण स्वतंत्रता पर बल दिया है। बोधा की अपेक्षा ठाकुर का लक्ष्य अधिक विस्तृत था। वे केवल प्रेमी कवि ही न थे। इस रचनाकार के सम्बन्ध में कोई ठीक-ठीक निश्चय न हो सकने के कारण उसका स्थान और उसकी श्रेणी को निर्धारित करना कठिन है, किन्तु साधारणतः यह तो कहा ही जा सकता है कि वे एक मौलिक प्रतिभाशाली कवि थे।

चन्द्रशेखर वाजपेयी 'शेखर'—

फतहपुर जिले के मुअज्जमाबाद ग्राम में सन् १७९८ में इनका जन्म हुआ

था। इनके पिता मनीराम जी भी एक प्रसिद्ध कवि थे। ७ वर्ष तक ये दरभंगा-क्षेत्र में रहे। इसके बाद जोधपुर चले गये जहाँ राजा मानसिंह के दरबार में इन्होंने ६ वर्ष व्यतीत किया, किन्तु अन्त में स्थायी रूप से ये पटियाला में महाराज करमसिंह और बाद में उनके पुत्र महाराज नरेन्द्र सिंह के राज कवि बन कर रहे। पटियाला में ही सन् १८७५ में इनका देहावसान हुआ ।

हिन्दी के उत्कृष्ट ग्रन्थ तथा वीर रस के श्रेष्ठ काव्य 'हम्मीर हठ' के अलावा वे अन्य आठ ग्रन्थों के रचयिता हैं जिनकी अधिकांश कविताएँ 'हम्मीर हठ' की रचनाओं की तरह ही महत्त्वपूर्ण और श्रेष्ठ हैं।

हिन्दी-साहित्य में ये कवि वीर-रस काव्य के रचयिता के रूप में श्रेष्ठतम कवियों की कोटि में आ जाते हैं। इसी कोटि के अन्य कवि भूषण और लाल हैं जिनकी तुलना इनसे हो सकती है, किन्तु 'हम्मीर हठ' जैसे उत्कृष्ट काव्य के समान अन्य उदाहरण विरल हैं। वैसे तो कथावस्तु में कोई मौलिकता नहीं किन्तु काव्य का विधान और उसका निर्वाह अनुपम है । कथा में कोई व्याघात उपस्थित नहीं होता तथा उसका विकास बड़ी सुन्दरता से हुआ है। काव्य का नायक अत्यन्त कुलीन, धीर और साहसी है। उसके व्यक्तित्त्व से कथा में निखार आ जाता है। उसकी तुलना में प्रतिनायक अलाउद्दीन अत्यन्त तुच्छ ठहरता है। कतिपय आलोचकों द्वारा उसका ऐसा चित्रण इस काव्य का दोष माना गया है। उन्होंने इस बात की ओर संकेत किया है कि हम्मीर की यथार्थ महानता चित्रित करने के लिए उसके प्रतिनायक का चित्र प्रतापी और पराक्रमपूर्ण होना आवश्यक था । परन्तु हम्मीर के चित्रण की व्यक्तिगत विशेषताएँ ही उसके शौर्य्य और साहस का यथेष्ट परिचय देती हैं। अपने विचारों, वाणी, तथा क्रिया-कलापों से ही वह अदम्य साहस और उत्सर्ग-मयी गाथा का नायक लक्षित होता है। काव्य की भाषा तथा छंद विषय के अत्यन्त अनुकूल हैं। शब्दों और पदों की योजना वीरोचित भावनाओं के चित्रण तथा अद्‌भुत पराक्रम के वर्णन में सहायक हैं । युद्ध तथा वीरकाव्यों में परम्परा से प्रयुक्त एवं उपयुक्त पद तथा छन्द योजना का व्यवहार इसमें हुआ है । चन्द्रशेखर की महानता इसमें है कि वे अपने पाठकों को रोमाञ्चित करने में समर्थ हैं। अनिश्चित काल से वीर-रस-काव्य के अन्तर्गत जिस उत्साह और विजयोल्लासिनी मनः स्थिति की अवतारणा होती आई है उसे उत्पन्न करने में उन्होंने पूर्ण सफलता प्राप्त की है । इसी प्रकार श्रृंगार रस का प्रसंग तथा तत्सम्बन्धी काव्यांश भी कसौटी पर खरा उतरता है और ललित सौन्दर्य एवं माधुर्य्य का उचित रस परिपाक प्रस्तुत करता है। कवि की प्रशंसा में यह कहना ही होगा कि उन्होंने वीर-रस तथा श्रृंगार इन दोनों की रचना में समान रूप से सफलता प्राप्त की है तथा इनमें कवि के सच्चे गुण और लक्षण इतने प्रचुर परिमाण में पाये जाते हैं कि उनकी

गणना उच्चतम कवियों में होनी चाहिए।

बाबा दीनदयाल गिरि——

इन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन सन्यासीया वैरागी के रूप में काशी में ही बिताया। ये संस्कृत के प्रकांड पंडित थे तथा इनकी विद्वत्ता की छाप इनकी रचनाओं में विद्यमान है। किन्तु भिन्न-भिन्न विषयों पर लघु-रूपकों तथा दृष्टान्त प्रधान विविध रचनाओं के संग्रह 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम' के रचयिता के रूप में ही ये विशेष प्रसिद्ध हैं। 'अनुराग बाग', 'वैराग्य दिनेश', 'विश्वनाथ-नवरत्न' और 'दृष्टान्त तरंगिणी' इनके अन्य ग्रन्थ हैं।

बाबा दीनदयाल गिरि एक कुशल और बहुविषयग्राही कवि थे। उनके विषय-चयन तथा विषय-निर्वाह की प्रणाली में विविधता है। कहीं उनकी शैली अत्यन्त सरल होकर बोलचाल की भाषा के निकट आ गयी है तो कहीं पर वह अलंकार प्रधान बनकर उनके पांडित्य से परिपूर्ण हो गयी है। फिर भी सर्वत्र उसमें कमनीयता और ध्वनि-माधुर्य छलकता रहता है। इनके काव्य में यदा-कदा आध्यात्मिकता का संकेत भी मिलता है।

पजनेश——

प्रस्तुत कवि सम्बन्धी बहुत कम बातें ज्ञात हैं। इनका निवास-स्थान पटना था। इनकी सुलभ सम्पूर्ण रचनाएँ अब 'पजनेश प्रकाश' नामक संग्रह में संकलित हुई हैं। ये हिन्दी के एक लोकप्रिय कवि हैं तथा इनकी कुछ रचनाएँ लोगों के मुख से प्राय: सुनी जाती हैं। इनकी भाषा में फारसी के शब्द और मुहावरों का मिश्रण है। ऐसा प्रतीत होता है कि शब्दों के अर्थ और ध्वनि माधुर्य विषयक पहिचान इन्हें जरा भी न थी; अत: इनके काव्य में ऐसे अनेक स्थल हैं जो कर्णकटु और अरुचिकर लगते हैं।

'द्विजदेव,' महाराज मानसिंह——

'द्विजदेव' अयोध्या के शासक थे। 'श्रृंगार-बत्तीसी' और 'श्रृंगार-लतिका' नामक इनकी दो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। ऐतिहासिक-दृष्टि से कवि का विशेष महत्त्व है क्योंकि ये उस बृहत् कवि-श्रृंखला की अन्तिम कड़ी हैं जिसने निरन्तर दो सौ वर्षों तक श्रृंगार-रस की काव्य-रचना की। कवि रूप में इनकी यथार्थ प्रसिद्धि इनके विशिष्ट काव्य-गुणों के कारण ही है। आलोचकों द्वारा इस कवि को अभी तक उचित महत्त्व एवं सम्मान नहीं मिला है। इसका कारण यह है कि उनका ध्यान इनकी ओर सम्यक् रूप से नहीं गया है। 'द्विजदेव' जैसी ललित और संगीतमय काव्यरचना में बहुत कम कवि सफल हो सके हैं। कठोर तथा खटकने वाले अप्रिय कर्ण-कटु शब्दों तथा पदों का व्यवहार उनके काव्य में तनिक भी नहीं हुआ है। उनके

कवित्त तथा सवैयों की गति में भी वैसा ही स्निग्ध, स्वाभाविक प्रवाह है जैसा सरस उनका माधुर्य है। लोक-प्रचलित कहावतों का प्रयोग भी कवि ने बड़ी सुन्दरता से किया है तथा उनके काव्य में व्यंग्योक्ति का मौलिक प्रादुर्भाव हुआ है। ये व्यंग्योक्तियाँ उनके काव्य में मणियों की तरह चमकती रहती हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो जीवन के सच्चे आनन्द का रस कवि हृदय से छलका पड़ता हो तथा दृश्य-जगत के प्रत्येक पदार्थ में सौन्दर्य और माधुर्य देखकर वे रोमाञ्चित हो उठे हों। अनेक पद्यों में उन्होंने ऋतु-वर्णन किया है जिसके परिवर्तन क्रम के साथ-साथ कवि के व्यक्तिगत उल्लास तथा रसानुभूति का आभास हमें मिलता है। वे प्रेमभावना के कवि हैं, जिसके गूढ़ रहस्यों की झलक पाने के लिए वे हमें आमंत्रित करते हैं। उनके शृंगार की परिसमाप्ति प्रायः भक्ति में ही होती है। यद्यपि वे अयोध्या के महाराज थे फिर भी उन्होंने राधा और कृष्ण के ही गीत गाये हैं।

त्रयोदश प्रकरण

संक्रमण-काल (१८५०–१८७५)

पद्माकर भट्ट की मृत्यु सन् १८३३ में हुई । वे रीति काव्य-धारा के अन्तिम महाकवि थे । उनकी रचनाओं में लक्षण ग्रन्थों वाली रूढ़िवादिनी शृंगारिक कविता अपनी सैद्धान्तिक एकांगी धारा के साथ उच्चतम शिखर पर पहुँची और तत् पश्चात् पतनोन्मुख होकर शीघ्र ही विलीन हो गई। पिछले दो सौ वर्षों में रीतिकालीन काव्य का वर्ण्य विषय इस तरह घिस गया था कि और आगे उसी विषय पर काव्य रचना करना संभव न था। पद्माकर का साधारण प्रभाव कुछ काल तक बना रहा, किन्तु वे कवि जिन्होंने उनकी काव्य-परिपाटी का अनुसरण किया स्वयं अपने लिए कोई भी मार्ग निर्धारित न कर सके और न तो वे उस कुशलता से उन दृढ़ परम्प- राओं का निर्वाह ही कर पाये जिस कुशलता से और जैसा निर्वाह उनके पूर्वकालीन कवियों ने किया था । लगभग १९ वीं शताब्दी के मध्य का यह परिवर्तन विचारणीय है। ब्रजभाषा काव्य की पुरानी परम्परा २५ वर्ष तक और चली, जब तक कि भारतेन्दु की रचनाओं में एक प्रकार के नवीन विकास का प्रारम्भ नहीं हो गया। भारतेन्दु के वास्तविक रचना-काल का आरम्भ सन् १८७५ के पश्चात् समझा जाना उचित है। ब्रजभाषा के इस संक्रमण-काल में एक मात्र द्विजदेव को छोड़कर शायद ही अन्य कोई श्रेष्ठ कवि पैदा हुआ हो। उस काल की भाषा में परिवर्तन के चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। उसका परम्परा-गत माधुर्य तो शेष था किन्तु स्वरूप गत विकास अवरुद्ध हो गया था। स्पष्ट है कि वह काव्यगत भाषा जिसका व्यवहार पिछले दिनों श्रेष्ठ कवियों द्वारा अत्यन्त चमत्कारपूर्ण और प्रभावशाली ढंग से हुआ था अब दुर्दिन में आ पड़ी थी और किसी तरह अपने गतप्राय जीवन की शेष घड़ियाँ व्यतीत कर रही थी।

किन्तु एक अन्य क्षेत्र में एक दूसरा परिवर्तन जिसका स्वरूप प्रस्फुटित हो रहा था अधिक सुस्पष्ट और महत्वपूर्ण दृष्टिगोचर होता है। इसी समय सर्वप्रथम खड़ी बोली हिन्दी गद्य की नींव पड़ी। इस कथन से हमारा यह अभि-

प्राय कदापि नहीं कि सन् १८५० के पूर्व हिन्दी गद्य का कोई स्वरूप ही न था। सन्त-महात्माओं तथा प्राचीन साहित्य की मीमांसा करने वाले लेखकों द्वारा ब्रज-भाषा में गद्य का प्रयोग तो पहले से ही हो रहा था। अकबर के समय में कवि गंग द्वारा खड़ी बोली गद्य में रचनाएँ हो चुकी थीं तथा रामप्रसाद 'निरंजनी' रचित 'योगवासिष्ठ' में जिसकी रचना सन् १७४१ में हुई थी, हमें प्रभावोत्पादक गद्य का नमूना मिलता है। रीतिकाल के अंतिम अर्द्धांश में खड़बोली की गद्य-रचनाओं को व्यापक माध्यम बनाने के लिए विशेष उद्योग हुआ। इस सम्बन्ध में इन चार लेखकों का प्रयास उल्लेखनीय है, मुन्शी सदासुख लाल, इंशा अल्ला खाँ, लल्लूलाल, और सदल मिश्र। मुन्शी सदासुख लाल दिल्ली के निवासी थे तथा उर्दू और फारसी के अच्छे जानकार थे। ये ईस्ट इंडिया कम्पनी के कर्मचारी थे तथा इन्होंने अपना अधिकांश समय चुनार और इलाहाबाद में बिताया। इन्होंने 'विष्णु पुराण' के कतिपय अंशों का हिन्दी में अनुवाद किया जिसमें सरसता और आधुनिकता की छाप है। इंशा अल्ला खाँ—ये भी दिल्ली के ही निवासी थे किन्तु लखनऊ में जाकर बस गये थे। 'रानी केतकी की कहानी' उनकी साहित्यिक प्रतिभा का प्रमाण और खड़ी बोली गद्य के महत्वपूर्ण प्रारम्भिक विकास की स्पष्ट सूचना देने वाली एक रोचक रचना है। इंशा का गद्य एक ओर संस्कृत के शब्दों से अपने को मुक्त रखता है तो दूसरी ओर अरबी और फारसी ढंग की अभिव्यंजना प्रणाली अथवा वाक्य विन्यास को अस्वीकार करता है। उसमें बोलचाल की दैनिक भाषा या 'ठेठ हिन्दी' का ही प्रयोग हुआ है।

लल्लू लाल और सदल मिश्र—

इन दोनों ने, कलकत्ता के राजकीय फोर्ट विलियम कालेज में अध्यापन कार्य किया। उन्हें हिन्दी की प्रामाणिक गद्य पुस्तकें तैयार करने का आदेश मिला था। उसी के परिणामस्वरूप लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' नामक पुस्तकें लिखीं। 'प्रेमसागर' ब्रजभाषा में लिखा गया है किन्तु नासिकेतोपाख्यान की भाषा में ब्रजभाषा तथा बोलचाल की पूर्वीय भाषाओं के शब्दों का अधिकतर मेल है। इन चारों लेखकों ने जिनका उद्भव करीब-करीब उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ, हिन्दी गद्य के लिए अपनी सेवाएँ अर्पित कीं। किन्तु उनके बाद लगभग ५० वर्षों तक हिन्दी गद्य की शृंखला विच्छिन्न रही तथा कोई भी महत्वपूर्ण कार्य इस बीच नहीं हुआ। लगभग उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में हिन्दी गद्य के परिनिष्ठित स्वरूप को निर्धारित करने का प्रयत्न होने लगा। हिन्दी साहित्य के विकास क्रम में अब परिवर्तन के सुस्पष्ट लक्षण दिखाई देते हैं। लल्लूलाल और सदल मिश्र तथा राजा शिवप्रसाद

'सितारे हिन्द' के बीच लगभग ५० वर्ष के इस समय में हिन्दी गद्य के प्रचार और प्रसार से सम्बन्धित ईसाई धर्म प्रचारकों के कार्यों पर हमारा ध्यान आकर्षित होता है। वे इसे ईसा की कथा और उनके सन्देश को जनसाधारण तक पहुँचाने का उचित माध्यम समझते थे। देश की जन-शिक्षा में भी उन्होंने रुचि ली तथा शिक्षा सम्बन्धी हिन्दी पाठ्य पुस्तकें भी उन्होंने तैयार कीं। पुस्तकों के प्रकाशनार्थ श्रीरामपुर, आगरा, मिर्जापुर, तथा अन्य स्थानों में उनके अपने प्रेस थे, इस कारण वे बाइबिल तथा भजनों के अनुवाद सुगमता से निकाल सके और जन साधारण को हिन्दी पाठ्य पुस्तकें आसानी से सुलभ हो सकीं। छपाई के लिए मुद्रणालयों की स्थापना हो जाने के कारण इस काल में हिन्दी गद्य के विकास में विशेष प्रगति हुई। भिन्न-भिन्न नगरों में समाचार-पत्र और पत्रिकायें निकलने लगीं तथा छपी हुई पुस्तकें बाजार में बिकने लगीं। इसी सम्बन्ध में सन् १८१५ वाला राजा राममोहन राय के 'वेदान्त सूत्र' का अनुवाद उल्लेखनीय है तथा 'बंगदूत' नामक उनका पत्र सन् १८२९ में सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ। कुछ वर्ष पूर्व सन् १८२६ में जुगुल किशोर ने 'उदंत मार्तंड' नामक एक पत्र निकाला था जिसके सर्वप्रथम हिन्दी समाचार-पत्र होने की घोषणा उन्होंने की थी। 'बनारस समाचार' का प्रकाशन सन् १८४५ से प्रारम्भ हुआ। इसकी भाषा में उर्दू वाक्य विन्यास और शब्दों की भरमार थी अतः उसी नगर से सन् १८५२ में 'सुधाकर' नामक एक अन्य समाचार पत्र का प्रकाशन शुरू हुआ जिसमें शुद्ध और सरस हिन्दी शब्दों का प्रयोग होता था।

मान्यता प्राप्ति और प्रसार के लिए हिन्दी को इस काल में जो लड़ाई लड़नी पड़ी थी उस सम्बन्ध में कुछ बातें विचारणीय हैं। सन् १८०३ में ही उर्दू के साथ-साथ हिन्दी को भी अदालती भाषा का पद प्राप्त हो चुका था। किन्तु उसका विरोध फिर उठ खड़ा हुआ। इस विरोध का स्पष्ट स्वरूप १८३६ में सामने आया। इस समय हिन्दी-विरोधिनी शक्तियाँ प्रबल हो उठीं तथा हिन्दी को उसके नव प्राप्त पद से नीचे गिराने के लिए सम्मिलित प्रयत्न किया गया। मुसलमानों तथा उनके ही समान धारणा रखने वाले हिन्दुओं ने भी अंग्रेज अधिकारियों के सम्मुख यह सुझाव रखा कि हिन्दी का कोई निश्चित स्वरूप नहीं है और न तो जन-साधारण में इसकी कोई प्रतिष्ठा ही है तथा यह किसी भी श्रेष्ठ पद या सम्मान के लिए सर्वथा अयोग्य है। इसका परिणाम यह हुआ कि सन् १८३७ में पिछला नियम अमान्य घोषित हुआ और केवल उर्दू ही इन प्रान्तों की अदालती भाषा मानी गई। यह असाधारण स्थिति हिन्दी के विरोध में उस विषाक्त प्रचार की परिणति थी जिसका क्रम बहुत दिनों से चलता आया था। दूसरी ओर हिन्दी प्रेमी जनों को उसकी रक्षा के लिए कटिबद्ध होना पड़ा। इस संक्रमण

काल में हिन्दी और उर्दू का पारस्परिक द्वन्द्व निरन्तर चलता रहा तथा वह विशेष विचारणीय है। सर सैयद अहमद खाँ के रूप में उर्दू को एक कट्टर समर्थक मिल गया था तथा पं० मदनमोहन मालवीय, राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द', नवीनचन्द्र राय, तथा कतिपय अन्य महानुभावों द्वारा हिन्दी के पदऔचित्य और उसकी रक्षा के समर्थन की माँग हुई। इसी शताब्दी के मध्य काल के अनन्तर विरोध उग्र होकर एक प्रमुख समस्या बन गया।

(२)

सेवक—(सन् १८१५-१८८१)—

इन्होंने बनारस में ही जीवन बिताया। बाबू हरिशंकर सिंह नामक काशी के एक प्रसिद्ध धनी इनके आश्रयदाता थे। सेवक के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वाग विलास' का विषय नायिका-भेद है। इनका एक अन्य ग्रन्थ बरवै छन्द में नखशिख वर्णन पर लिखा गया है। अपने जीवनकाल में सेवक अत्यधिक लोकप्रिय थे तथा इनकी कुछ रचनाएँ आज भी प्राचीन काव्य परिपाटी के रसिकों द्वारा बड़े चाव से पढ़ी जाती हैं।

सरदार—

काशी-नरेश महाराजा ईश्वरी नारायण सिंह के आश्रित ये राज-कवि प्राचीन काव्य ग्रन्थों की टीका तथा सुन्दर काव्य का निर्माण कर अपना अमिट यश छोड़ गये हैं। इनकी टीकाओं की भाषा का गद्य विश्रृंखल तथा असंबद्ध है किन्तु काव्य में कुछ अनूठापन है। इसीलिए अपने काल के अग्रगण्य कवियों में इनको स्थान मिला था। इन्होंने लगभग बारह काव्य-ग्रन्थ लिखे। 'बिहारी सतसई' तथा सूरदास के कुछ पदों पर इन्होंने टीकायें लिखी हैं। इससे यह स्पष्ट है कि सरदार में साहित्यिक प्रतिभा अवश्य थी।

बाबा रघुनाथ दास रामसनेही—

धार्मिक प्रवृत्ति के ये कवि अयोध्या के निवासी थे। 'विश्राम-सागर' नामक उनके ग्रन्थ की रचना भिन्न-भिन्न पुराणों के अंशों और कथाओं के आधार पर हुई है। लोगों पर इस पुस्तक का व्यापक प्रभाव पड़ा है और बहुत-से लोग इसे चाव से पढ़ते हैं।

ललित किशोरी (साह कुन्दनलाल)—

लखनऊ के एक धनी परिवार में इनका जन्म हुआ। अपने बाल्यकाल से ही ये कृष्ण के परम भक्त थे। इनकी कविताओं से इनकी उपासना प्रवृत्ति की सूचना मिलती है। अपना अधिकांश समय इन्होंने वृन्दावन में ही विताया जहाँ इन्होंने एक मन्दिर भी बनवाया था। इन्होंने कई पुस्तकों की रचना की जिनमें से कुछ तो आकार में मोटी हैं किन्तु सर्वत्र उनमें काव्य का वही एक चिर परिचित

विषय है और रचनाओं में वैविध्य नहीं मिलता । राधा और कृष्ण सम्बन्धी 'अष्टयाम' में पुनरुक्ति की भरमार है । अधिकाँश स्थलों पर श्रृंगार रस की ही प्रधानता है तथा कहीं-कहीं अतिशय श्रृंगारिकता के कारण काव्य विकृत भी हो गया है ।

राजा लक्ष्मण सिंह——

ये आगरा निवासी थे तथा सरकार के अधीन एक अच्छे पद पर थे । हिन्दी के गद्य प्रवर्तकों में इनका स्थान ऊँचा है । गद्य के अतिरिक्त इन्होंने काव्य-रचना भी की है जिसके कारण इनकी प्रसिद्धि हुई । इनके जीवन काल में ही 'शकुन्तला', 'रघुवंश', और 'मेघदूत' के अनुवाद बहुत अधिक लोकप्रिय हो गये तथा उनकी लोकप्रियता आज तक बनी हुई है । राजा लक्ष्मण सिंह मधुर सरस ब्रजभाषा के अच्छे मर्मज्ञ थे जिसका व्यवहार इन्होंने बड़ी सफलता-पूर्वक अपने पद्यानुवादों में किया है । ये संस्कृत के भी कुशल ज्ञाता थे तथा उनकी काव्यगत पदावली एवं शब्द चयन में ब्रजभाषा के सहज स्वाभाविक माधुर्य और संस्कृत पदावली का सरस मिश्रण मिलता है ।

लच्छीराम ब्रह्मभट्ट——

इनका जन्म बस्ती जिले के अमोढ़ा ग्राम में हुआ था । यद्यपि अयोध्या के राजा मानसिंह तथा बस्ती के राजा शीतलाबख्श सिंह का उल्लेख अपने आश्रयदाताओं के रूप में इन्होंने बार-बार किया है तथापि ऐसे व्यक्तियों की खोज में ये निरंतर भ्रमण करते रहे जिन्हें अपनी रचनाएँ समर्पित कर सकें । इससे स्पष्ट है कि नरेशों को समर्पित की गई रचनाओं के बदले में ये उनसे कुछ पाने की आकांक्षा रखते थे । ऐसा प्रतीत होता है कि लच्छीराम हिन्दी के अन्तिम महान दरबारी कवि थे जिन्होंने देव, मतिराम या पद्माकर की तरह उदार प्रशंसकों को खोज निकालने का निरंतर उद्योग किया । उनकी कवितायें रीतिकालीन काव्य-शैली की याद दिला देती हैं । इन्होंने अपने आश्रयदाताओं का परंपरागत वर्णन तथा स्तुतिगान सम्बन्धिनी रचनाएँ भी की हैं । परन्तु इनकी रचनाओं का अधिकांश भाग श्रृंगार सम्बन्धी ही है जिनमें पुराने सिद्धान्तों और रूढ़ियों का पालन हुआ है । फिर भी निस्संदेह कहा जा सकता है कि लच्छीराम में अलौकिक काव्य प्रतिभा थी । यद्यपि ये ब्रज-प्रदेश से दूर मूलतः एक अन्य प्रदेश के निवासी थे फिर भी इनकी ब्रजभाषा स्पृहणीय है । लच्छीराम ब्रह्मभट्ट थे, अतः उनके काव्य में बार-बार प्रशस्ति का स्वर ध्वनित होता है ।

उक्त कवियों के अलावा इस काल के अन्य कवि गोविन्द गिल्लाभाई, नवनीत चौबे, गदाधर भट्ट, और द्विज बलदेव का उल्लेख भी किया जा सकता है ।

(३)

इस संक्रमण।काल में हिन्दी गद्य को असाधारण प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। यह अपनी रक्षा में तत्पर था। इसके घोर विरोधियों ने इसे तुच्छ बतलाकर यह भ्रामक प्रचार किया कि हिन्दी तो बोलचाल की भिन्न-भिन्न बोलियों का एक मिश्रण मात्र है तथा किसी केन्द्रीय या स्वतंत्र भाषा की मान्यता पाने के योग्य यह कदापि नहीं। यह तो एक गँवारू बोली है जिसमें परिष्कार और सरसता नहीं। इसका सम्बन्ध हिन्दू धर्म से है तथा न तो यह मुसलमानों द्वारा बोली जाती है और न तो अंग्रेज शासकों के अदालती तथा अन्य सरकारी कामों में उपयोग में लायी जा सकती है। भाषा के सम्बन्ध में जो दूसरा गम्भीर मतभेद छिड़ा उसका संबंध भाषा की योजना तथा उसके स्वरूप से था। एक पक्ष के विचारकों और लेखकों का कहना था कि संस्कृत की ओर हिन्दी का झुकाव प्रकृत्या होना ही चाहिए क्योंकि इसका सम्बन्ध उसी भाषा—समुदाय से है और इस प्रकार वह अपनी परम्परा की श्रृंखला अविच्छिन्न और सुरक्षित रखने में समर्थ होगी। दूसरा पक्ष भाषा की व्यापकता और प्रसार के विचार से अरबी फारसी के चलते शब्दों से युक्त हिन्दी का समर्थक था। इन दो विचारधाराओं ने तत्कालीन विशिष्ट गद्य लेखकों का ध्यान आकर्षित किया। जहाँ तक उर्दू के विरोध में हिन्दी भाषा की मान्यता और उसके मौलिक अधिकारों के समर्थन का प्रश्न था वे सब एकमत थे परन्तु शैली के सम्बन्ध में उनमें मतभेद था।

राजा शिव प्रसाद 'सितारे हिन्द'—

इनका जन्म सन् १८२३ और मृत्यु सन् १८९५ में हुई। ये बनारस के मूल निवासी थे, जहाँ इनके वंशज अब भी रहते हैं। इन्होंने सिक्खों के युद्ध में बड़ी लगन से अंग्रेजों की सहायता की थी। इस सेवाकार्य के प्रति कृतज्ञता स्वरूप ये शिक्षा विभाग में इन्सपेक्टर के पद पर नियुक्त कर दिये गये थे। शासक वर्ग में उनका यह प्रभाव उस हिन्दी विरोधी भयानक प्रचार का सामना करने में अत्यधिक सहायक हुआ जो इस समय तक अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। हिन्दी से उन्हें गहरा प्रेम था तथा ऐसी गम्भीर स्थिति के उपस्थित होने पर हिन्दी के पक्ष और उसकी रक्षा का उनका कार्य हिन्दी-गद्य-विकास के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना के रूप में स्मरणीय रहेगा। हिन्दी को गौरवान्वित करने के लिए उन्होंने सच्ची लगन से कार्य किया और बालकों की पाठच पुस्तकों के साथ-साथ अन्य अनेकों पुस्तकें लिख कर भाषा को समृद्ध बनाने के लिए कठिन श्रम किया। जहाँ तक हिन्दी के स्वरूप का प्रश्न था उनके व्यक्तिगत विचारों के दो भेद लक्षित होते हैं। 'राजा भोज का सपना', 'वीर सिंह का वृतान्त',

'आलसियों को कोड़ा', आदि उनकी प्रारम्भिक पुस्तकों में हमें गद्य का वह स्वरूप देखने को मिलता है जो उर्दू अथवा फारसी के गहरे प्रभाव से सर्बथा मुक्त है, किन्तु बाद की उनकी रचनाओं में जिनमें प्रतिनिधि पुस्तक 'इतिहास तिमिरनाशक' थी उर्दू और फारसी के शब्दों और कहावतों को प्रश्रय देने की बात सिद्ध होती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी यह धारणा हो गई थी कि हिन्दी में ठेठ बोलचाल के प्रचलित शब्दों और मुहावरों का प्रयोग होना चाहिए और उसके लिए निस्संकोच उर्दू और फारसी के शब्दों का आश्रय लेना चाहिए। अपने विचारों को उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया है--"उन लोगों को कुछ अप्रिय बातें सुनाने के लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ जो हमेशा फारसी शब्दों के बहिष्कार की बात करते हैं। वे लोग उन शब्दों के स्थान पर भी जो हमारी बोलचाल में घुल मिल गये हैं तथा पुस्तकों में बरावर व्यवहृत होतेआये हैं ऐसे अनुपयुक्त, लोप हुए तथा अप्रचलित संस्कृत के शब्दों व पदों का अनुचित प्रयोग करते हैं जिसे अपढ़ गँवार जनता नहीं स्वीकार कर सकती है। मैंने 'बैताल पच्चीसी' की भाषा का अनुकरण करने का अधिकाधिक प्रयत्न किया है।"

यदि मोटे तौर पर कहा जाय तो व्यवहार रूप में हिन्दी की भावी पीढ़ियों ने इन सिद्धान्तों का पूरा-पूरा पालन नहीं किया। फिर भी आधुनिक काल के कितने ही गद्य-लेखकों ने उनके सुझाये हुए मार्ग पर अपनी शैली का निर्माण किया तथा सरस, प्रवाहयुक्त, और ओजस्वी गद्य-रचना में सफलता प्राप्त की।

राजा लक्ष्मण सिंह—

ये राजा शिवप्रसाद के समकालीन थे तथा श्रेष्ठ गद्यकार के रूप में इन्होंने अच्छी ख्याति प्राप्त की। उनके 'शकुन्तला' और 'रघुवंश' के अनुवाद अत्यधिक लोकप्रिय हुये तथा उनके कई संस्करण भी प्रकाशित हुये। हिंदी गद्य सम्बन्धी इनका मत राजा शिव प्रसाद से सर्वथा भिन्न था। रघुवंश के गद्यानुवाद की भूमिका में लेखक ने स्पष्ट शब्दों में अपना मत व्यक्त किया है--"मेरे मतानुसार हिन्दी और उर्दू दो भिन्न भिन्न बोलियाँ हैं। हिंदी इस देश के हिंदू बोलते हैं तथा उर्दू यहाँ के मुसलमान, साथ ही इसे फारसी पढ़े हुये हिंदू भी बोलते हैं। हिंदी में संस्कृत के पदों का व्यवहार अधिक होता है तथा उर्दू में फारसी और अरबी के शब्दों और पदों की भरमार है परंतु यह नहीं कहा जा सकता कि अरबी और फारसी के शब्दों और मुहावरों के बिना हिंदी का निर्वाह ही नहीं हो सकता और न तो हम उस भाषा को हिंदी मानने के लिए ही तैयार हैं जिसमें अस्वाभाविक और अपरिचित विदेशी शब्दों और पदों की भरमार हो।"

इस लेखक के गद्य में उसके विचारों और सिद्धांतों का अक्षरशः पालन हुआ

है। उर्दू पद-विन्यासों का बहिष्कार स्वाभाविक है। ठीक उसी प्रकार क्लिष्ट संस्कृत शब्द भी वर्जित हैं, यद्यपि संस्कृत की कुछ स्वाभाविक सरसता उनकी भाषा में आ गई है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अपनी रचनाओं के माध्यम से राजा लक्ष्मण सिंह ने गद्य शैली का ऐसा सरल सुन्दर आदर्श प्रस्तुत किया जो भविष्य में सामान्य रूप से अंगीकृत किया जाने वाला था। अतः आधुनिक गद्य निर्माताओं में उनका स्थान महत्वपूर्ण है।

नवीन चन्द्र राय—

जिस प्रकार उत्तरी पश्चिमी प्रदेशों (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में हिंदी की रक्षा राजा शिव प्रसाद ने की थी उसी प्रकार पंजाब में नवीन चन्द्र राय ने उसकी महान सेवा का कार्य किया। वे हिन्दी के कट्टर समर्थक थे तथा उसके प्रति किये जाने वाले विरोध या अत्याचार का डटकर सामना करने के लिये सदैव कटिबद्ध रहते थे। वे शिक्षा-शास्त्री और सुधारक थे और अदम्य उत्साह के साथ उन्होंने हिन्दी के पक्ष का समर्थन किया। वे पक्के ब्रह्मसमाजी थे तथा हिंदी भाषा के प्रसार के लिये उन्होंने ब्रह्मसमाज का सदुपयोग किया। उन्होंने 'ज्ञान प्रदायिनी' नामक समाचार-पत्र भी प्रकाशित किया।

पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी—

ये सम्पूर्ण पंजाब में विद्वान तथा उपदेशक के रूप में अधिक प्रसिद्ध थे तथा जनता पर इनका बड़ा प्रभाव था। ये विशुद्ध हिंदी के कट्टर समर्थक थे तथा उर्दू और फारसी के शब्दों और पदों से सर्वथा रहित भाषा शैली का इन्होंने जोरदार समर्थन किया। ये एक सिद्धहस्त लेखक थे तथा इन्होंने वेदांत एवं अन्यान्य आध्यात्मिक विषयों पर पुस्तकें लिखीं। उनका व्यक्तित्व, विद्वत्ता तथा उनकी गद्य-रचनाओं में निहित उच्च स्तरीय और आदर्श हिंदी के विकास में अत्यधिक सहायक सिद्ध हुये।

यहाँ हमने सन् १८५० से सन् १८७५ के बीच के प्रमुख गद्य-निर्माताओं का उल्लेख किया है जिन्होंने हिन्दी के विकास में अपनी सेवाओं का योग दिया। सार रूप में यह कहा जा सकता है कि इस काल में मुद्रणालयों की सुविधा तथा छापेखानों की अत्यधिक लोकप्रियता बढ़ने के कारण हिन्दी गद्य के विकास में अभूतपूर्व सफलता मिली। सन् १८६२ में राजा लक्षमण सिंह ने अपने 'प्रजा हितैषी' नामक समाचार-पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया। उसके

पहले उन्होंने सन् १८५२ में आगरा से 'बुद्धि प्रकाश' नामक पत्र निकला था। पाठ्य पुस्तकों की छपाई तथा तत्संबन्धिनी योजनाओं की अच्छी उन्नति हो रही थी। ये योजनायें और विकास नगर-नगर में मुद्रणालयों, की स्थापना होने के ही प्रत्यक्ष परिणाम थे।

चतुर्दश प्रकरण

आधुनिक काल (१८७५–)

पिछले अध्याय में इसका निर्देश किया जा चुका है कि १९वीं शताब्दी के तृतीय चरण में किस प्रकार, प्राचीन से नवीन और मध्ययुगीन से आधुनिक का परिवर्तन-क्रम स्पष्टतया लक्षित हो चला था। यह परिवर्तन प्रायः पचास वर्ष पहले ही आरम्भ हो चुका था और कोई रूपरेखा निश्चित होने से पूर्व ही शक्ति संचित कर रहा था। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ काल तक भारत का एक विस्तृत भाग अंगरेजों के अधिकार में आ चुका था और पाश्चात्य विचारों का प्रवेश हो चला था। धीरे-धीरे लोग विदेशियों से तथा उनके द्वारा प्रदत्त नये तथ्यों और मानों से परिचित हो चले थे। नई शिक्षा प्रणाली की स्थापना के लिए नई दिशाओं में कदम बढ़ाये जा चुके थे। सती प्रथा जैसी बर्बर प्रथाओं के उन्मूलन के लिए, सुधार तथा सांस्कृतिक अभ्युदय के विचार से ब्रह्मसमाज जैसी संस्थाओं की स्थापना हो चुकी थी। छापाखाना आ चुका था और ईसाई मिशनरी देश में अपना कार्य करने लगे थे। साहित्य-क्षेत्र में गद्य-रचना का प्रारम्भ हो चुका था। शताब्दी के मध्य काल तक जो परिवर्तन मन्दगति से हो रहा था उसमें इतनी तीव्रता आगई कि तृतीय चरण के अन्त के साथ-साथ हम आधुनिक जीवन और साहित्य के द्वार पर आ पहुँचे। जीवन के वाह्याभ्यन्तर आदर्श अब स्पष्टतया परिवर्तित हो गये थे। नई प्रवृत्तियों का उद्‌भव हो गया था और नये तथ्य लक्ष्य में आ रहे थे। आधुनिक जीवन का प्रारम्भ अन्य स्थानों के समान यहाँ भी अभिनव उत्साह, जिज्ञासा, और आश्चर्य-भावना से समन्वित था। मध्ययुगीन जीवन की जड़ता इस प्रकार भंग हुई और भारतीय पुनर्जागरण का प्रभात हुआ।

यह महान परिवर्तन अनेक कारणों से सम्भव हुआ है। ब्रिटिश साम्राज्य का प्रसार और १८५७ के बाद उसकी दृढ़ता ने देश में एक अपूर्व एकता की स्थापना की। भारत जैसा इस समय एक और अखण्ड था वैसा कभी नहीं था। इस ऐक्य-भावना ने राष्ट्रीयता के विचार को जन्म दिया, जिसे स्वतंत्रता संबंधी पाश्चात्य आदर्शों ने क्रमशः प्रोत्साहन दिया। १८५७ में ही स्वतंत्रता के प्रेमियों

ने स्वतंत्रता को फिर से प्राप्त करने के लिए एक बाजी लगाई । यह प्रयत्न विफल हुआ परन्तु इससे अंगरेजों और भारतीयों को समान शिक्षा मिली । भारतीयों ने समझा कि विदेशियों की सुसज्जित और सशक्त सेनाओं के समक्ष हम निस्सहाय हैं अतः शक्ति की परीक्षा व्यर्थ है । इस राष्ट्रीय उद्योग का अन्त हो जाने पर भारतीयों का निःशस्त्रीकरण कर दिया गया । मनुष्यता के इतिहास का यह पहला सामूहिक निःशस्त्रीकरण था । अस्तु, यद्यपि १८५७ के युद्ध में जीत अंगरेजों की ही हुई तथापि वे यह समझ गये कि, सुशासन देश के लिए अपरिहार्य है । देश का शासन कम्पनी के हाथों से निकलकर अंगरेजी राज्य के हाथ में चला गया और धीरे-धीरे राजनीतिक और शासन संबंधी सुविधाएं जनता के लिए स्वीकृत की गईं । जनता ने यद्यपि सशस्त्र क्रान्ति का विचार छोड़ दिया था फिर भी वह अधिक अधिकार और शासन में भाग पाने के लिए प्रचार करती रही । जनता की यह राजनीतिक चेतना और अधिकारों की माँग नये वातावरण की सूचक थी । मध्ययुग में सरदारों और सामन्तों के हाथ में राजनीतिक शक्ति थी और जनता उनकी दासता में ही सन्तुष्ट थी । देश की शासन-व्यवस्था में उनका भी सहयोग रहना चाहिये, यह विचार उनमें पहले-पहल उत्पन्न हुआ । इस महत्त्वपूर्ण तथ्य ने जीवन के स्वरूप का ही पूर्ण परिवर्तन कर दिया और साहित्य को गम्भीरतापूर्वक प्रभावित किया । अतीतकाल में साहित्य थोड़े-से सुखी सम्पन्न लोगों से ही संबंधित था, प्रजातांत्रिक प्रवृत्तियों के विकास के साथ-साथ यह अधिकाधिक जनता की चीज बनने लगा । अब यह सामन्ती विलासितापूर्ण अभिजात जीवन की अभिव्यंजना मात्र न रह गया था प्रत्युत पूरे युग की अनवरत वृद्धिशील आशा आकांक्षाओं, शंकाओं और आपदाओं को चित्रित करने लगा । एक शब्द में, नये युग का साहित्य विविध और प्रजातांत्रिक हो गया ।

भारत में अँगरेज अपने साथ अपने विचार और जीवन-मान भी ले आए और इनसे भारतीय जीवन अत्यधिक प्रभावित हुआ । जिस प्रकार योरोपीय राष्ट्रवाद ने भारतीय जीवन को गंभीरता से प्रभावित किया उसी प्रकार पाश्चात्य व्यावहारिक दर्शन ने भारतीय विचार-धारा को प्रभावित किया । अब तक भारत की प्रवृत्ति सैद्धान्तिक, आध्यात्मिक और मुख्यतः अव्यावहारिक थी । भारतीय मनीषा ने कुछ सीमित क्षेत्रों में गंभीरता से कार्य किया था और बहुत कुछ बाल की खाल निकालने में अत्यन्त व्यस्त थी । जीवन की प्रवृत्ति और क्रियामूलक अनन्त विविधताओं की उसने उपेक्षा कर दी थी । पाश्चात्य विचारों के सम्पर्क और पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति के विकास के कारण इस देश की जनता उत्सुक हो उठी थी और अनेक विषयों और वस्तुओं के संबंध में उसकी जिज्ञासा अधिक तीव्र हो उठी थी । १८५७ में विश्वविद्यालयों की स्थापना से और इसके

पूर्व १८५३ में अंगरेजी के शिक्षा का माध्यम होने से पाश्चात्य दार्शनिक और वैज्ञानिक विचारों से सीधा सम्पर्क स्थापित करने में सुविधा हुई । अब भारतीय अंगरेजी साहित्य का भी अध्ययन कर सके जिसमें अनेक नवीन विशेषताओं को प्रदान करने की क्षमता थी । इस प्रकार लोग नये ज्ञान से युक्त हुए और उनके विचारों को एक नया क्षेत्र मिला । ज्ञान का उनके लिए एक विस्तृत और विशद क्षेत्र खुल गया था और अब वे वस्तु विषय को नये प्रकाश में देख सकते थे । इस युग का साहित्य इस नई प्रवृत्ति का परिचायक है । विभिन्न विषयों पर बहुत-सी पुस्तकें गद्य में लिखी जाने लगीं और जहाँ प्राचीन कविता समृद्धजनों के आनन्द और उनकी ललनाओं की लोच का ही चित्रण करने में व्यस्त थी, नई कविता ने जीवन के ही समान व्यापक और विस्तृत क्षेत्र को अपनाया ।

इसके अतिरिक्त परिवर्तन के और भी कारण हैं । यातायात और डाक-तार के साधनों के विकास का गहरा और स्थायी प्रभाव पड़ा । अच्छी सड़कों के निर्माण, डाक-तार प्रणाली की व्यवस्था और रेलवे के निर्माण से लोगों को देश के एक भाग से दूसरे भाग में आने-जाने की सुविधा हो गई । इससे ज्ञान वृद्धि के साथ राष्ट्रीय एकता के भाव का भी परिपोषण हुआ । आने जाने और देश को अधिकाधिक देखने की सुविधा के कारण यहाँ के निवासियों में उसके प्रति प्रेम की वृद्धि हुई और देश भक्ति की भावना को प्रमुख स्थान मिला । छापाखाने ने भी उपयोगी कार्य किए । मुद्रण द्वारा इसने ज्ञान का प्रसार किया । जहाँ प्राचीन काल में हस्तलिखित पोथी रखना गर्व की बात समझी जाती थी वहाँ अब एक साधारण आदमी भी पढ़ सकता था और पुस्तक रख सकता था । अब पुस्तकों की रचना अत्यधिक बढ़ गई थी और उनका दाम कम हो गया था । छापा-खाने की व्यवस्था के बाद विभिन्न नगरों, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, आगरा और इलाहाबाद आदि से समाचार-पत्र प्रकाशित हुए । ये समाचार-पत्र जनता के विचारों की अभिव्यक्ति और उसके अधिकारों की रक्षा के साधन प्रमाणित हुए । छपे हुए समाचार-पत्र, छपी हुई किताब से भी अधिक जनता का ज्ञान बढ़ाने के साधन हो गए । हम विश्वविद्यालयों की स्थापना की चर्चा कर चुके हैं । देश में शिक्षा के विकास के लिए और भी कदम उठाये जा चुके थे । जैसे पाठशाला और मकतब, संस्कृत और फारसी-अरबी शिक्षा के लिए थे, वैसे ही प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा देने के लिए देश में सर्वत्र स्कूलों की स्थापना हुई । इस प्रकार शिक्षा का प्रसार हुआ और उसका पर्याप्त प्रभाव भी पड़ा । क्रिश्चियन मिशन की चर्चा करना भी आवश्यक है जिसने अनेक स्थानों में शिक्षा की व्यवस्था की । उसके स्वतंत्र स्कूल, कालेज, और छापाखाने थे । मिशन द्वारा संचालित संस्थाओं में माध्यमिक और उच्च शिक्षा प्राप्त करने वालों के लिए छापाखाने

आवश्यक पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित किया करते थे। ईसाई मिशनरियों द्वारा पाठ्य पुस्तकों का प्रकाशन उन दिनों एक महत्त्वपूर्ण सेवा थी। ब्राह्मसमाज की स्थापना १८२८ और आर्यसमाज की १८७५ में हुई। १९वीं शताब्दी में देश का पुनरु-त्थान करने में इन दोनों संस्थाओं तथा इनके प्रवर्तकों, राजा राममोहन राय और महर्षि दयानन्द सरस्वती, ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया। ब्राह्मसमाज ने पूर्व और पश्चिम के उपयोगी ज्ञान का समन्वय करने का प्रयत्न किया। महर्षि दयानन्द ने प्रमाण के लिए वेदों का आश्रय लिया परन्तु उनके विचार आधुनिक और सुधारवादी थे। उन्होंने अपनी प्रत्येक नई बात को वेदों के अनुकूल सिद्ध करने की चेष्टा की। ब्राह्मसमाज और आर्यसमाज ने १९वीं शताब्दी में प्रबुद्ध विचारों के द्वारा जनता को नवीन मार्ग अपनाने के लिए आमन्त्रित किया। प्रोत्साहन द्वारा उन्होंने शिक्षा की सुविधाओं द्वारा, नये साहित्य के प्रकाशन द्वारा, सामाजिक और राजनीतिक उन्नति में योगदान किया। इसके अतिरिक्त राजा राममोहन राय और दयानन्द सरस्वती के सबल व्यक्तित्व ने जनता को आकृष्ट किया और गंभीर और व्यापक प्रभाव स्थापित किया।

नये साहित्य की विशेषताओं पर विचार करते हुए हमें मालूम होता है कि वह आधुनिक जीवन का परिणाम है जिसकी प्रमुख विशेषता अनन्त जिज्ञासा और साहसपूर्ण परीक्षा है। जहाँ मध्ययुगीन विचारधारा परम्परागत प्राचीन विचारों को निर्विरोध अपना लेती थी वहाँ आधुनिक प्रवृत्ति प्रत्येक दृग्विषय के निरीक्षण और परीक्षण की है। अब जीवन का प्रत्येक विषय-राजनीति, सामाजिक और आर्थिक लेखक का विषय हो जाता है। ऐसा जान पड़ता है मानो अकस्मात् उसने सभी विषयों में रुचि लेने की असीम योग्यता विकसित कर ली है। रूप-विधान के विषय में आधुनिक लेखक साहस पूर्वक नये रूपों और आदर्शों के प्रयोग में विश्वास रखता है। रूपविधान में कोई भी अज्ञात विचित्रता न तो उसे आघात ही पहुँचाती है और न भयभीत ही करती है। उदाहरणार्थ मध्ययुगीन कवि जहाँ कवित्त-सवैयों और दोहों-सोरठों की सीमा लाँघने का विचार तक नहीं कर पाते वहाँ आज के कवि की प्रत्येक कविता एक नये ही प्रकार की है। उसका एकमात्र ध्येय है पद्य को भावों और विचारों के अनुरूप बनाना।

आधुनिक साहित्य की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता है, उसका क्षेत्र-विस्तार। प्रायः १८वीं शती के अन्त तक काव्य ही साहित्य का एक मात्र अंग था। इसका वस्तु-विषय बँधे-बँधाये ढंग का और रूप परम्परागत था। जनता के सच्चे और जटिल विचार, उसकी आकांक्षाएँ अभी तक साहित्य में अभिव्यक्ति न पा सकी थीं। १९वीं शती में स्थति वदल गई; जीवन राष्ट्रीय और प्रजातांत्रिक हो चला तथा साहित्य अधिक बोधगम्य और सर्वग्राही हो गया। गद्य जिसका आविर्भाव

इसी समय हुआ परिवर्तित अवस्थाओं और साहित्य की नई आवश्यकताओं का परिणाम था। अन्य प्रकारों में भी हम साहित्य को सीमा विस्तार करते पाते हैं। आधुनिक काल के आरम्भ में ही साहित्य के नये रूपविधान प्रकट हुए। नाटक, उपन्यास, निबन्ध, कहानी ये सभी प्रकार जो प्राचीन काल में प्रायः अज्ञात थे प्रकट हुए और तीव्रगति से बढ़ने लगे।

यह हमने देख लिया कि आधुनिक साहित्य किस प्रकार आधुनिक जीवन के समग्र रूप का ही परिणाम है। सामन्त-कालीन प्रतिबन्ध अब न रहे। मुख्यतः लेखक समाज के विभिन्न स्तरों से आये थे, अतएव अपने व्यक्तिगत ज्ञान से विभिन्न वर्गों की समस्याओं की व्यंजना कर सके। परिणामतः हम इस परिवर्तित काल के साहित्य में महलों और झोपड़ियों का जीवन-चित्र साथ-साथ पाते हैं। दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य का घनिष्ट सम्पर्क विदेशी साहित्य, विशेषतया अँगरेजी साहित्य से हुआ। अगणित हिन्दी लेखक यूरोपीय साहित्य की महान् कृतियों से परिचित हैं और उनकी रचनाएँ वैदेशिक आदर्शों के परिचय की साक्षी हैं। इसी प्रकार विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं का साहित्य भी सम्पर्क में आया। हिन्दी पाठकों के लिए अँगरेजी, बँगला, गुजराती, मराठी तथा किसी भी दक्षिणी भाषा की रचना अनुवादों द्वारा सुलभ हो गई। अन्य साहित्यों के घनिष्ट सम्बन्ध से हिन्दी का लाभ हुआ। बहुत हद तक यह अपनी संकीर्णताओं का त्याग करने में समर्थ हुई और इसमें समृद्धि और वैविध्य आया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आधुनिक हिन्दी साहित्य के सिंहद्वार पर स्थित हैं। उनका व्यक्तित्व अन्यतम है। वे प्राचीन परंपराओं में मग्न थे परन्तु उनके दास न थे। उन्होंने अतीत की अपेक्षा भविष्य का अधिक विचार किया और हिन्दी के भावी पथ का निर्माण करने में अकेले और किसी व्यक्ति से अधिक काम किया। वे अत्यन्त सुसंस्कृत और आकर्षक व्यक्तित्व के मनुष्य थे, और अपने जीवन काल में साहित्यक सक्रियता के केन्द्र हो गए थे। हिन्दी विषयक उनके उत्साह ने दूसरों को प्रेरणा प्रदान की तथा साहित्य के प्रति उनकी लगन आकर्षक थी। इन के वैयक्तिक आकर्षण तथा हिन्दी भाषा और साहित्य की सेवा करने की इच्छा के परिणामस्वरूप तत्कालीन लोग प्रभावित हुए और लेखकों तथा कवियों का एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हुआ जिसने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के ही उत्साह और भावना से काम किया। गद्य-पद्य के लेखक की हैसियत से उन्होंने स्वयं नवीन प्रवृत्तियों को मूर्त्तिमत्ता प्रदान की। हिन्दी गद्य उनके हाथों नई शक्ति से परिपूर्ण अभिव्यंजना का एक सशक्त माध्यम बन गया। अब वह विभिन्न कार्यों और उद्देश्यों के लिए व्यवहार्य हो गया। काव्य की भाषा जो अर्द्धशती से पतनग्रस्त थी, उसको नवीन जीवन मिला। उन्होंने ब्रजभाषा को एक नये स्वर-सौन्दर्य से युक्त किया। इसके

अतिरिक्त ये उस खड़ी बोली कविता के प्रणेताओं में थे जो योग्यतापूर्वक नवीन उद्देश्यों को सम्पन्न कर सकती थी । इस कारण भारतेन्दुकालीन युग का नामकरण उनके नाम पर उपयुक्त और समीचीन है । इसका विस्तार २०वीं शती के आरम्भ काल तक है, जिसकी विशेषता राजनीति में एक ओर अँगरेजी शासन के प्रति राजभक्ति की व्यंजना है और दूसरी ओर उस हीनावस्था की शिकायत जो वैदेशिक शासन के फलस्वरूप भारतीयों को प्राप्त हुई थी । भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना १८८५ में हो चुकी थी परन्तु इस समय इसका कार्यक्रम अत्यन्त नरमी का था । एक अन्य संस्था काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की भी स्थापना हुई । सभा की स्थापना (१८९३ ई०) हिन्दी के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है, क्योंकि अपने जन्मकाल से ही इसने हिन्दी की अमूल्य सेवा की है और उसकी प्रगति के लिए अपने प्रभाव का उपयोग किया है ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का असामयिक निधन हिन्दी के लिए वस्तुत: एक गम्भीर संकट था और उनके युग ने जो प्रण लिया था वह अपूर्ण भी रह गया । उनके बाद उनके मित्रों ने उनकी परम्परा को बनाये रखने का प्रयत्न किया परन्तु शीघ्र ही उत्साह ढीला हो गया और साहित्य निर्माण को ह्रास से बचाया न जा सका । एक नये युग का अवतरण बीसवीं शती के आरम्भ काल से माना जा सकता है जिसकी अवधि मोटे तौर पर २० साल की है । इस युग के नेता थे पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी । 'सरस्वती' मासिक पत्रिका का प्रकाशन जिसका सम्पादन उन्होंने लगभग २० से अधिक वर्षों तक किया था, १८९९ में आरम्भ हुआ, परन्तु वे इसके सम्पादक १९०३ में हुए । इसी समय से उन्होंने अपने युग के सम्पूर्ण साहित्य-क्षेत्र का एक प्रकार से नेतृत्व किया । उन्होंने सर्वोत्तम कार्य गद्य के क्षेत्र में किया जिसे व्यवस्थित कर उन्होंने व्याकरणानुसार शुद्ध किया । उन्होंने 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजे गये लेखों को शुद्ध कर परिमार्जित गद्य लिखने की व्यावहारिक शिक्षा दी । उनका व्यक्तित्व महान् और सर्वमान्य था । जब गद्य को समुचित रूप दिया जा रहा था, खड़ी बोली की कविता भी प्रगति कर रही थी । भारतेन्दु युग की तुलना में ब्रजभाषा का महत्त्व अब न्यून हो चला था । खड़ी बोली काव्य-भाषा के रूप में स्थान पा चुकी थी, यद्यपि इसमें अभी तक कोई श्रेष्ठ कृति नहीं आई थी । इसी समय राजनीतिक सुविधाओं की प्राप्ति के लिए कांग्रेस और उदार दलवालों की ओर से आन्दोलन किये गये तथा वंग-विभाजन संबंधी और महाराष्ट्र के सशक्त आन्दोलन भी हुए । इसी समय प्रथम योरोपीय महायुद्ध हुआ जिसके अनुभव अपूर्व थे ।

आधुनिक काल का तीसरा युग छायावाद युग कहा जाता है जिसका आधार इसी नाम का महत्त्वपूर्ण साहित्यिक अन्दोलन है । छायावाद की विशेषता

आत्यन्तिक वैयक्तिकता और सांकेतिक तथा लाक्षणिक व्यंजना-पद्धति है। यह युग लगभग १५ वर्षों तक रहा—१९२०-१९३५ तक। इन १५ वर्षों में कविता की अत्यधिक प्रगति हुई और वह प्रौढ़ि की आश्चर्यजनक उच्चता को प्राप्त हुई। जयशंकर प्रसाद, निराला, सुमित्रानन्दन पन्त, और महादेवी वर्मा जैसे कवियों ने अत्यन्त सुसंस्कृत और समृद्ध साहित्य की रचना की, उसी प्रकार प्रेमचन्द ने कथा साहित्य के निर्माण में महती सफलता प्राप्त की और इसी अवधि में जयशंकर प्रसाद ने महत्त्वपूर्ण नाटक लिखे।

१९३५ से ही छायावाद का पतन होने लगा था और नये आदर्शों के आधार पर नया आन्दोलन प्रस्तुत हो रहा था। योरप में दो महायुद्धों के बीच साहित्य मार्क्सवाद तथा फ्रायड आदि के सिद्धान्तों से अत्यन्त प्रभावित था। इन दार्शनिकों की रचनाओं का सीधा प्रभाव और उनके प्रभाव में निर्मित विदेशी साहित्य का प्रभाव भी भारत पर पड़ा। इसी प्रकार अभिव्यंजनावाद का भी प्रभाव भारत पर पड़ा। पिछले तीस वर्षों का साहित्य सीधे इन विदेशी सिद्धान्तों के न्यूनाधिक प्रभाव में रचा गया जिसने न केवल हिन्दी प्रत्युत प्रान्तीय साहित्यों को भी प्रभावित किया है,—विशेषतया बंगला को। इस तरह के नये साहित्य का एक प्रकार वह है जो उन लेखकों द्वारा निर्मित है जो अपने आप को प्रगतिवादी कहते हैं। इनकी रचना का आदर्श आत्यन्तिक विषयनिष्ठता है जिसमें आर्थिक और सामाजिक शक्तियों पर अधिक बल दिया जाता है। इसी प्रकार हमको स्वप्न, भ्रम, और अन्तरानुभूति संबंधी साहित्य भी मिलता है जो अर्द्धचेतना की अर्द्ध साक्षात्कृत भावों और आकांक्षाओं की व्यंजना का प्रयत्न करता है। इस समय हम इसी युग के बीच यात्रा कर रहे हैं और यह कहना कठिन है कि इसकी चरम परिणति क्या होने को है। सन् १९५० के बाद पिछले दो दशकों की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट और सुस्थिर होकर सामने आने लगी हैं और साहित्य में समृद्धि के साथ ही साथ अधिक एकरूपता आ गई है।

अगले पृष्ठों में हम आधुनिक हिन्दी साहित्य का चित्र प्रस्तुत करना चाहते हैं, जैसा वह पिछले ९० वर्षों की कालसीमा के चार युगों में उन्नत और विकसित हुआ है।

पंद्रहवाँ प्रकरण

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और भारतेन्दु-युग
(१८७५–१९००)

संक्रान्तिकाल (१८५०-१८७५) में हिन्दी गद्य की दो पृथक् शैलियाँ मान्यता और स्वीकृति के लिए प्रतिद्वन्द्विता कर रही थीं, राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द की आमफ़हम और खासपसन्द शैली जो फारसी-अरबी शब्दों से भरी-पुरी थी तथा राजा लक्ष्मण सिंह की शैली जिसमें अरबी-फारसी के शब्दों का वहिष्कार था और उसकी जगह संस्कृत शब्दों का आश्रय लिया गया था। इसी समय खड़ी बोली गद्य की एक नई शैली की प्रतिष्ठापना द्वारा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस विवाद का अन्त किया जो इस भाषा के अन्य लेखकों को सर्वोत्तम जान पड़ी। यह गद्य शैली जो पहले पहल उनकी कृतियों में व्यक्त हुई, फारसी और संस्कृत दोनों ही अतिवादों से मुक्त थी और एक मध्य पथ पर चलती थी। इसका मूल आधार दैनिक व्यवहार की भाषा थी परन्तु उसका परिमार्जित रूप में प्रयोग किया गया था। संस्कृत और उर्दू की व्यंजनाएँ निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आती थीं एवं कठिन और अपरिचित शब्दों और पदों का प्रयोग बचाने के लिए विशेष ध्यान रखा जाता था, दैनिक व्यवहार की भाषा की निकटवर्ती होने से और समुचित ग्रहण की शक्ति से युक्त होने से यह नई भाषा अत्यधिक सजीव दिखाई दी। यह सभी प्रकार के व्यवहार के लिए रखी जा सकती थी। इस प्रकार एक नई व्यंजना की पद्धति का आविर्भाव हुआ जो पुनर्जागृति काल की विभिन्न प्रवृत्तियों और विचारों की अभिव्यक्ति में समर्थ थी। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, दार्शनिक, तथा अन्यायन्य विषयों पर पुस्तकें लिखी जाने लगीं। इसी प्रकार निबन्ध, उपन्यास, नाटक जीवनचरित आदि की रचना होने लगी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा निर्मित और पोषित हिन्दी गद्य इन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सका। भारतेन्दु ने जिस आदर्श को प्रतिष्ठित किया उसे उनके समकालीन और परवर्ती प्रतिभाशाली लेखकों ने अंगीकार किया।

वे सभी उत्साही साहचर्य की सदाशयता से युक्त विनोदी स्वभाव के पुरुष थे। साहित्यकारों का ऐसा उत्तम दल कदाचित् ही मिलता हो। इस युग के लेखकों के व्यक्तित्व और उनकी पारस्परिक सहयोगिता की प्रवृत्ति के कारण इस युग में एक विचित्र आकर्षण है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—

ये सन् १८५० ई० में एक प्रसिद्ध और समृद्ध परिवार में बनारस में उत्पन्न हुए। उनके पिता एक सुप्रसिद्ध कवि थे। यद्यपि इनकी शिक्षा व्यवस्थित रूप से नहीं हुई फिर भी इनमें कुछ ऐसी नैसर्गिक प्रतिभा थी कि बाल्यकाल में ही इन्हें अनेक भाषाओं का ज्ञान हो गया था। हिन्दी, संस्कृत, फ़ारसी, अंग्रेजी के साथ इन्होंने बँगला, गुजराती और मराठी आदि प्रान्तीय भाषाओं का भी ज्ञान-अर्जन किया था। अपने छोटे-से जीवन में उन्होंने लम्बी यात्राओं द्वारा अपने अनुभव की वृद्धि की। तत्कालीन सुख्यात विद्वानों से उनका सम्पर्क था और सरकार तथा जनता समान भाव से उनका सम्मान करती थी। ३५ वर्ष की अवस्था में उनका देहावसान हुआ, इस प्रकार एक भविष्णु जीवन का असामयिक अन्त हुआ।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने अपने युग को अत्यधिक प्रभावित किया। उनकी उदारता निस्सीम थी। उन्होंने सुखमय जीवन बिताया और मित्रों एवं साहित्यकारों की सहायता करने में अपने धन का व्यय किया। उन्होंने जीवन का पूरा आनन्द लिया और रूढ़ियों तथा नैतिक प्रतिबन्धों की अवहेलना की। वे अपने स्वच्छन्द और औदार्यपूर्ण आचरण के कारण सर्वप्रिय थे। उनके चरित्र की विशेषताओं की उनके युग पर अमिट छाप पड़ी। वे इस देश की प्राचीन विभूतियों के प्रेमी थे और देश की वर्तमान दशा से दुःखी एक देशभक्त थे। अपनी रचनाओं में उन्होंने देश के नैतिक पतन और उसकी दुर्दशा की सानुताप व्यंजना की है। अभ्युदय साधन के लिए उन्होंने घोर और अश्रान्त श्रम किया। उन्होंने लेख, नाटक और कविताओं की रचना की और कविवचन सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन और हरिश्चन्द्र चन्द्रिका पत्रिकाओं का प्रकाशन किया। साहित्यकारों के दुर्लभ गुण उनमें थे। बचपन में ही उन्होंने पद्य-रचना का प्रारम्भ कर दिया था और सोलह वर्ष होने के पूर्व ही एक बँगला उपन्यास का हिन्दी में अनुवाद किया था। इसके वाद वे निरन्तर लिखते रहे और निर्विवाद हम कह सकते हैं कि उन्होंने जो कुछ लिखा उसका अधिकांश उत्कृष्ट साहित्य है। ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों पर उनका समान रूप से असाधारण अधिकार था। ब्रजभाषा कविता को उन्होंने नवीन लय ताल से विभूषित किया। उनकी खड़ी बोली कविता के विषय में हम इसी अध्याय में अन्यत्र कुछ कहेंगे। परन्तु गद्यकार के रूप में वे सर्वोच्च थे। खड़ी बोली गद्य के एक नवीन रूप की प्रतिष्ठा के कारण वे वास्तविक अर्थ में

निर्माता थे और साथ ही इसका विविध रूपों में विभिन्न प्रयोग करके ऐसे साहित्य का सृजन किया जो सर्वथा नूतन था। अपनी रचनाओं द्वारा उन्होंने जीवन और साहित्य के मध्यवर्ती बहुकालीन व्यवधान को दूर करने का प्रयत्न किया। हम कह सकते हैं कि आधुनिक युग अपनी विशिष्ट इच्छा-आकांक्षाओं, आशा-अभिलाषाओं सहित उनकी गद्य-पद्य रचनाओं में वस्तुतः स्वरित हो उठा है।

उनकी रचनाओं की सूची निम्न है—मौलिक कृतियाँ—(१) वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, (२) चन्द्रावली, (३) विषस्य विषमौषधम्, (४) भारत-दुर्दशा, (५) नीलदेवी, (६) अंधेर नगरी, (७) प्रेमयोगिनी, (८) सती प्रताप (अपूर्ण)।

अनूदित कृतियाँ—(१) विद्यासुन्दर, (२) पाषंड विडम्बन, (३) धनंजय विजय, (४) कर्पूर मंजरी, (५) मुद्रा राक्षस, (६) सत्य हरिश्चन्द्र, (७) भारत-जननी।

भारतेन्दु की रचनाओं के मूल में और उनके सम्पूर्ण जीवन में समन्वय की भावना का प्राधान्य मिलता है। जीवन में उन्होंने प्राचीन तथा अर्वाचीन, आदर्श तथा यथार्थ के मध्य समन्वय स्थापन्न का प्रयत्न किया। इसी प्रकार साहित्य में भी जीवनपर्यन्त सामंजस्य स्थापन में लगे रहे। वे प्राचीन काव्य के प्रेमी और नवीन के निर्माता थे। गद्य शैली के दो दिगन्तों के बीच वे एक नये पथ का निर्माण करने में सफल रहे। अपने नाटकों में उन्होंने पाश्चात्य नाट्यरचना-पद्धति के साथ प्राचीन भारतीय नाट्य प्रणेताओं के नियमों का भी संगुम्फन किया। जो उनकी समन्वय और सामंजस्य की मूलभावना का विस्मरण कर देते हैं, उन्हें उनके साहित्य में कुछ बातें विचित्र जान पड़ेंगी। कभी तो हम उन्हें ब्रिटिश शासन के प्रति अत्यधिक राजभक्ति की व्यञ्जना करते पाते हैं और कभी विदेशी शासकों की आलोचना करते हुए देश की समसामयिक दुर्दशा का कारण उनकी स्वार्थपूर्ण शोषण नीति को ठहराते पाते हैं। पहले पहल यह स्थिति द्विधापूर्ण जान पड़ती है परन्तु जो लेखक की मूल प्रकृति से परिचित हैं वे इसे उसकी सामंजस्य भावना का ही व्यक्तीकरण समझेंगे। अत्यन्त आशावादी होने के कारण उन्होंने परस्पर विरोधी तथ्यों के समन्वय का प्रयत्न किया।

प्रतापनारायण मिश्र (१८५६-९४)

वे कानपुर में पैदा हुए और वहीं उनका सम्पूर्ण जीवन बीता। कई वर्षों तक उन्होंने ब्राह्मण नामक एक मासिक पत्र का सम्पादन किया जो उन दिनों एक महत्त्वपूर्ण पत्र था। पंडित प्रतापनारायण मिश्र मूलतः हास्य-रसिक थे। अपनी रचनाओं द्वारा उन्होंने पाठकों को निरन्तर हँसाने का प्रयत्न किया। हास्य-रस, जिसका रीतिकाल में अभाव था, आधुनिक लेखकों, विशेषतया पंडित प्रताप-

नारायण मिश्र की रचनाओं में दिखाई दिया। उनके प्रतिपादनों में व्यंगात्मक संकेत या हास्य का बाँकपन प्राय: मिलता है। हास्य की सृष्टि के लिए वे विचित्र शब्दों और अभिव्यक्तियों के साथ अपनी बोली बैसवाड़ी के ग्राम्य-प्रयोगों का भी आश्रय लेते हैं परन्तु जब वे गम्भीर विषयों पर लिखते हैं उनका गद्य सापेक्ष्य रूप से दोषमुक्त और सशक्त हो जाता है। अपने मित्र बाबू हरिश्चन्द्र के समान वे तात्कालिक समस्याओं में गहरी रुचि लेते थे और सुधारक के उत्साह से परि-पूर्ण थे। सूक्ष्मदर्शी और प्राय: पैनी समीक्षाओं द्वारा उन्होंने तत्कालीन जन-समाज को विक्षुब्ध करने वाली समस्याओं का समाधान करने का प्रयत्न किया। निबन्धों के अतिरिक्त पंडित प्रतापनारायण मिश्र ने 'कलि कौतुक रूपक', 'भारत दुर्दशा' और 'हठी हम्मीर' आदि कई नाटकों की भी रचना की।

पंडित बालकृष्ण भट्ट (१८४४-१९१४)—

भट्ट जी कायस्थपाठशाला कालेज में संस्कृत के अध्यापक थे और इन्होंने 'हिन्दी प्रदीप' नामक मासिक पत्र का सम्पादन किया जिसमें इनकी रचनाओं का नियमित प्रकाशन हुआ। वे छोटे-छोटे गद्यांश लिखने के पक्षपाती थे, जिनका नाम निबन्ध अधिक उपयुक्त है और जो उस समय की अन्य रचनाओं से उत्कृष्ट थे। कभी-कभी उनके विषय शैली के सरल-तरल प्रवाह के कारण अधिक गम्भीर नहीं होते थे और विनोदपूर्ण शैली के कारण मनोरञ्जक हो जाते थे। प्रताप-नारायण मिश्र के समान वे भी व्यंग के प्रेमी थे जो कभी-कभी असहिष्णुता की कोटि तक पहुँच जाता था। पंडित बालकृष्ण भट्ट सूक्तियों और मुहावरों के अनन्त कोष थे जिनका उन्होंने बहुधा उत्तम प्रयोग किया है। उनकी ख्याति यद्यपि निबन्धकार के रूप में अधिक है परन्तु उन्होंने नाटक भी लिखे। 'कलिराज की सभा', 'रेल का विकट खेल' और 'बाल-विवाह' उनके नाटक हैं।

पंडित बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमधन' (१८५५-१९२२)—

प्रेमधन जी मिर्जापुर के निवासी और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के घनिष्ठ मित्रों में से थे परन्तु उनके गद्य का आदर्श भारतेन्दु से भिन्न था। उन्होंने गद्यलेखन को प्रयत्नसाध्य कला का रूप दिया और अत्यन्त परिमार्जित परिपक्व सानुप्रास गद्यशैली को विकसित किया। परिणति का ही निरन्तर प्रयत्न करते-करते उनकी रचनाएँ नीरस हो गईं। उनके वाक्य बेहिसाब लम्बे हैं। पदों के बाद पद आते-जाते हैं जिनकी लड़ी टूटती नहीं। इनकी रचनाओं से हमें अँगरेजी के १७ वीं शती के उन लेखकों की याद हो आती है जिनके गद्य को 'सिसरोनियन' शैली का गद्य कहा जाता है। अनुप्रासप्रियता और नाद-सौन्दर्य की अभिरुचि कभी-कभी गद्य को हास्या-स्पद कर देती है। इन्होंने 'आनन्द-कादम्बिनी' नामक एक पत्रिका का सम्पादन

भी किया जिसका अधिकांश भाग इन्हीं की रचनाओं से पूर्ण रहा करता था; जिस पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इनसे कहा था, 'यह पत्रिका है, पुस्तक नहीं।' इन्होंने भी नाटक लिखे : भारतसौभाग्य, प्रयाग-रामागमन और वारांगना-रहस्य (महानाटक)। वे समीक्षक भी थे और उनकेमासिक पत्र में कुछ समसामयिक प्रकाशनों पर महत्वपूर्ण आलोचनाएँ प्रकाशित हुई थीं।

लाला श्रीनिवासदास (१८५१-८७)—

ये मथुरा में उत्पन्न हुए और दिल्ली में रहे। हरिश्चन्द्र के समान ही इनकी भी मृत्यु असमय में हुई, पर इसी स्वल्प-काल में इन्होंने कुछ ऐसे नाटक लिखे जो इनकी प्रसिद्धि के कारण हैं। इनके नाटक हैं : 'प्रह्लाद-चरित्र', 'तप्ता संवरण', 'रणधीर प्रेममोहिनी' और 'संयोगिता स्वयम्बर।' उन्होंने 'परीक्षा गुरु' नामक एक उपन्यास भी लिखा। 'तप्ता संवरण' और 'रणधीर-प्रेममोहिनी' अधिक प्रसिद्ध हुए। इनकी प्रथम कृति संयोगिता स्वयंवर की गम्भीर समीक्षा पंडित बालकृष्ण भट्ट और 'प्रेमधन' ने की। श्रीनिवास दास को नाटक लिखने की प्रेरणा अँगरेजी नाटकों से प्राप्त हुई और उन्होंने अँगरेजी नाट्य-पद्धति का व्यवहार भी किया। उन्होंने एक दु:खान्त नाटक भी लिखा जिसका संस्कृत नाट्यशास्त्र में कोई निर्देश नहीं है। उनका गद्य ग्रामीण प्रयोगों से मुक्त और प्रशस्त है। कभी-कभी वह अत्यधिक उर्दूमय हो उठता है।

ठाकुर जगमोहन सिंह (१८५७-१८९९)—

ठाकुर साहब का घर विन्ध्याचल पर्वत के समीप बुन्देलखण्ड में था परन्तु शिक्षा-प्राप्ति के लिए वे काशी आये। काशी में वे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के संसर्ग में आये और उन्हीं के समान साहित्य के उत्साह से भर उठे। उस समय का विचार करते हुए इनका गद्य अत्यन्त प्रशस्त है। इसमें एक ऐसा माधुर्य और वर्णनसामर्थ्य है जो उनके सम-सामयिक लेखकों की रचनाओं में दुर्लभ है। संस्कृत भाषा में व्युत्पन्न होने से वे प्राचीन साहित्य के गद्य-पद्य के मधुसंपद् का आस्वादन कर चुके थे। उनमें प्राकृतिक सौन्दर्य का दर्शन करने की शक्ति थी। विन्ध्य के प्राकृतिक सौन्दर्य और आकर्षण के बीच उन्होंने बाल्यकाल बिताया था। प्रकृति-प्रेम उनका सहज गुण था। इसी विषय में वे भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट से भिन्न थे। वे लोग निरतिशय रूप में मनुष्य-समाज के प्रेमी थे जब कि इस लेखक ने मनुष्य को प्राकृतिक पृष्ठभूमि में अविच्छिन्न भाव से देखा। संस्कृत-साहित्य के प्रति अनुराग और प्रकृति के प्रति प्रेम ने उनके गद्य और पद्य की विशेषताओं को बहुत कुछ निर्धारित किया। नाना दृश्यों की मनोहरताओं से परिपूर्ण उनके विशद वर्णन प्रकृति के दृश्यों और परिवेशों के प्रति उनके जन्म-जात संवेदन को

प्रकट करते हैं । 'श्यामा-स्वप्न' उनकी प्रसिद्ध रचना है ।

इस युग के अन्य उल्लेखनीय लेखक हैं, तोताराम, पंडित केशवराम भट्ट, पंडित राधाचरण गोस्वामी, पंडित अम्बिका दत्त व्यास, मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, राधाकृष्णदास, कार्तिक प्रसाद खत्री और फ्रेडरिक पिंकाट ।

हम देख चुके हैं कि इस उत्थान के गद्य-लेखकों ने किस प्रकार न केवल आधुनिक गद्य-शैली की नींव डाली प्रत्युत रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य रचना का भी सूत्रपात किया । प्रायः सभी लेखक छोटे लेखों या निबन्धों में अपने विचार व्यक्त करने लगे और उनमें से अधिकांश लेखकों ने गद्य-रचना के किसी न किसी विशिष्ट रूप को प्रधान रूप से अपनाया । वस्तुतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र प्रमुखतया नाटचकार थे और उनके गद्य के सर्वोत्तम अंश उनके नाटकों से संकलित किये जा सकते हैं । जिस नाटच-रचना की प्रथा का प्रारम्भ उन्होंने किया वह इस युग के अन्त तक चलती रही । बंगला से कुछ उपन्यासों का अनुवाद हुआ और लाला श्रीनिवास दास के 'परीक्षा-गुरु' जैसे कुछ मौलिक उपन्यासों की भी रचना हुई । प्रेमघन, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट तथा अन्य जनों ने साहित्य-समीक्षा विषयक लेख लिखे जिनमें सैद्धांतिक विवेचन रहता था और रचना-विशेष पर निर्णय दिया जाता था । इस युग में विविध प्रकार की रचनाओं का निर्माण हो रहा था । अन्ततः यह युग हिन्दी के लिए अत्यन्त उद्योगमय और अभिवृद्धिपूर्ण था ।

यही वह समय था जब देवनागरी-लिपि को दफ्तरों में व्यवहार करने की स्वीकृत दिलाने के लिए दृढ़ प्रचार किया गया और हिन्दी-साहित्य के खटकने वाले अभावों की पूर्ति का प्रयत्न किया गया । मुख्यतः नागरी-प्रचारिणी सभा के उद्योग से परमावश्यक कोषों और व्याकरण-ग्रन्थों का निर्माण कराया गया । एक उच्चकोटि के पत्र का प्रकाशन इस युग के लगभग अन्तिम समय में प्रारम्भ किया गया । देवनागरी लिपि को मान्यता दिलाने का आन्दोलन भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित था और उनके बाद पं० मदनमोहन मालवीय ने इसका संचालन किया । सरकार का ध्यान इस ओर आकृष्ट करने के लिए प्रतिनिधि उच्च अधिकारियों के पास गये और देवनागरी के समर्थन में ज्ञातव्य तथ्यों से पूर्ण पुस्तिकाएँ प्रकाशित की गईं । ऐसी ही एक पुस्तिका पंडित मदनमोहन मालवीय ने १८९८ में अंग्रेजी में लिखी थी । इस सम्बन्ध में, १८८३ में नागरी-प्रचारिणी सभा काशी का संस्थापन महत्वपूर्ण कार्य है । स्थापनकाल से ही सभा उच्चकोटि के ग्रन्थों के सम्पादन और प्रकाशन का कार्य करती रही है । प्रारम्भ में यह संस्था स्कूल और कचहरियों में हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के व्यवहार को मान्यता दिलाने के लिए ही उद्योगशील थी । बाबू श्यामसुन्दर दास और अन्य विद्वान् एवं कर्मठ पुरुषों ने सभा के कार्यों को उस प्रारम्भिक स्थिति में भी सफल बनाया । मेरठ, इलाहाबाद और

अन्यान्य स्थानों में हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि को मान्यता दिलाने के लिए तथा उसके प्रचार और प्रसार के लिए अन्य संस्थाएँ भी कार्य करती रहीं।

(२)

काव्य के क्षेत्र में भी उतनी ही प्रवृत्तियाँ सक्रिय थीं जितनी गद्य में; यद्यपि प्राचीन रूढ़ियाँ भी किंचित् परिमार्जित रूप में सुदीर्घ काल तक अवशिष्ट रहीं। भारतेन्दु, उनके कुछ मित्र और समकालीन साहित्यकार ब्रजभाषा के प्रेमी थे और उन लोगों ने पुराने छन्दों में राधाकृष्ण और उनकी प्रेमलीलाओं के विषय में रचनाएँ कीं। भारतेन्दु ने ब्रजभाषा को एक नवीन संस्कार और स्वर से विभूषित किया और इसका व्यवहार अपनी प्रभावशाली कविताओं के लेखन में किया। यद्यपि ब्रजभाषा अब भी जड़ जमाये बैठी थी तथापि खड़ी बोली कविता का प्रारम्भ इस युग में हुआ जो आगे चलकर द्रुतगति से लोकप्रिय हो गई। गद्य भाषा के रूप में स्वीकृत हो-जाने के बाद काव्य-क्षेत्र का द्वार भी इसके लिए बन्द नहीं रखा जा सका। इसकी स्वीकृति का अन्य कारण यह था कि यह कविता की, जो सीमित विषयों पर गतानुगतिक विचारों की व्यंजना करने वाली मनोरंजन का साधन-मात्र न रह गई थी, नवीन आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती थी। जीवन-क्षेत्र का विस्तार हो चुका था और कविता का प्रवेश सर्वत्र हो चला था। कार्य-वैविध्य और सार्वभौम प्रभाव की दृष्टि से कविता की उपयोगिता सिद्ध हुई। इन उद्देश्यों की सिद्धि ऐसी खड़ी बोली को काव्य-भाषा रूप में स्वीकृत करने पर ही हो सकती थी जो काव्याभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में समर्थ थी। जो नये विषय कवि के समक्ष उपस्थित थे, उनमें देशभक्ति की भावना सर्वप्रमुख थी। इस युग के सभी कवियों ने देश के अतीत-गौरव के विलुप्त हो जाने के विषय में दुःख प्रकाश किया है और भविष्य का भव्य निर्माण करने की आवश्यकता पर बल दिया है। लोक-दारिद्र्यसामाजिक दुर्नीति, अशिक्षा, देश के उद्योग-धन्धों का ह्रास; ये आनुषंगिक विषय थे जिन पर कवियों ने लिखा। इस युग की देशभक्ति न संवर्षोन्मुख थी न हो सकती थी। इस युग के साहित्य के एक इतिहासकार ने इस तथ्य की ओर सूक्ष्मतापूर्व क ध्यान आकृष्ट किया है कि इस युग के कवियों की रचनाओं में १८५७ के विद्रोह की अभिव्यक्ति नहीं हुई है। इसका कारण शायद यह है कि उस राजनीतिक आन्दोलन का, जिसका असफल अन्त हुआ, निर्देश करने में कवियों को कोई आनन्द न मिला होगा। इसके अतिरिक्त १८५७ के विद्रोह की सबसे बड़ी शिक्षा यह थी कि सैन्यबल से राजनीतिक उद्देश्य की प्राप्ति की सम्भावना अत्यल्प हो गई थी। इसी कारण उस महान् विद्रोह के संचालक देशभक्तों के उद्योगों की प्रशंसा अधिक युक्तियुक्त न थी। यह एक असंगत तथ्य पर बल देना होता और लोकमानस पर अवास्तविक प्रभाव की सृष्टि करता। भारत के परवर्ती राजनीतिक

इतिहास से प्रकट है कि कैसे परिस्थितिवश एकमात्र अहिंसा ही देश को स्वतन्त्रता के पास तक ला सकी ।

कविता को अब नये विषयों की व्यंजना करनी थी और इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए खड़ी बोली का नवीन माध्यम भी प्राप्त था । काव्य के क्षेत्र और आदर्श में हम एक शैलीगत सुसम्बद्ध नवीनता को प्रत्यक्ष देखते हैं । रीति-कालीन कवि या तो लम्बे आख्यान काव्य लिखता था या अपने भावों की व्यंजना छोटे-छोटे छन्दों, कवित्त, सवैया, दोहा, सोरठा, बरवै आदिमें करता था । इस समय हम पहले-पहल ऐसी लघु कविताओं को देखते हैं, जो बहुत कुछ पद्य-निबन्ध के समान हैं । प्रत्येक कविता किसी न किसी मुख्य विचार को एक या दो पृष्ठ में प्रतिपादित करती थी । कुशल हाथों से ये कविताएँ अत्यन्त आकर्षक बन गईं पर मध्यम कोटि के कवि इनको पर्याप्तरूपेण रोचक नहीं बना पाये । काव्य की पद-योजना सहज स्वाभाविक और अनावश्यक अलंकारों से मुक्त थी । नये प्रकार की यह कविता अपनी इस स्थिति को वस्तुतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के देहावसान के बाद ही पहुँच सकी यद्यपि इसका जन्म उनके जीवन-काल में ही, और शायद उन्हीं की कृतियों में हो चुका था । इस युग के कवि मनुष्य और मनुष्य-समाज में अधिक रुचि रखते थे तथा प्रकृति में कम । परन्तु उनमें से ठाकुर जगमोहन सिंह और श्रीधर पाठक ने प्रकृति-विषयक अत्यन्त रोचक कविताएँ लिखीं । इस काल की कविता सीधे-सादे भावों और सामान्य दृश्यों के वर्णन में ही मग्न रहती थी और गम्भीर रूप से आत्माभिव्यंजक, सूक्ष्म और दुर्बोध्य कभी नहीं हुई ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : उनका महत्व कवि रूप में भी वैसा ही था जैसा गद्य-लेखक-रूप में । उनकी कविताएँ उनके नाटकों में और तत्कालीन स्फुट काव्य-संकलनों में मिलती हैं । जैसा पूर्व निर्देश किया जा चुका है उनकी कविताओं की ब्रज-भाषा में नवीनता और आकर्षण है । न तो उन्होंने अपनी शब्द-योजना में प्राकृत और अपभ्रंश के अप्रचलित शब्दों का समावेश किया और न अन्य कवियों के समान मनमाने ढंग से शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा । इस प्रकार उनकी भाषा परिष्कार और माधुर्य से परिपूर्ण है । भाव-गाम्भीर्य और जीवन के सोत्साह उपभोग ने उनकी कविता को असामान्य आनन्ददायिनी शक्ति प्रदान की । ब्रजभाषा में उन्होंने राधा-कृष्ण के विषय में रचना की । उनकी ऐसी कविताओं में ऐन्द्रियता के साथ वास्तविक भक्ति-भाव का अद्भुत और अपूर्व मिश्रण है । शृंगार का प्रायः भक्ति में अन्तर्भाव हो जाता है और ऐहिक प्रेम प्रायः आमुष्मिक भाव-धारा से युक्त है । उनकी खड़ी बोली कविता में एक प्रकार का विषयगत आकर्षण है । यह उनकी आधुनिकतम देशभक्ति की भावना राजभक्ति अथवा सामाजिक उन्नति विषयक चिंताशीलता को अभिव्यक्ति प्रदान करती है । कहीं-कहीं उन्होंने लोकप्रचलित उर्दू और फारसी

के शब्दों का प्रयोग भी अपनी कविता में किया है परन्तु इनका प्रयोग इतना सौष्ठव-पूर्ण है कि इससे काव्य की शोभावृद्धि ही होती है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र रससिद्ध कवि थे। वे जन्मजात कवि थे और इतनी छोटी अवस्था से उन्होंने काव्य-रचना का प्रारम्भ किया कि उनके विषय में कहा जा सकता है कि उनकी तोतली बोली भी छन्दोमय थी। उनकी कविता में एक ही दोष था। वह यह कि उनकी कविता मनुष्य को तो नाना रूप-व्यापारों और अवस्थाओं में चित्रित करती है परन्तु प्रकृति की पूर्णतया उपेक्षा कर देती है। एक दो कविताओं में ही कवि ने प्रकृति का रूपचित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है परन्तु ऐसी रचनाओं की अलंकृत शैली वास्तविक प्रकृति प्रेम से असम्पृक्त है।

बाबू राधा कृष्णदास—

ये भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के फुफेरे भाई थे और इन्होंने कुछ नाटकों का प्रणयन किया, जिन्में 'महाराणा प्रताप' को प्रसिद्धि मिली। ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों में काव्य-रचना कर इन्होंने भारतेन्दु प्रवर्तित परम्परा को चालू रखने का यत्न किया।

पंडित प्रतापनारायण मिश्र—

गद्य के समान उनका पद्य भी हास्यरस विशिष्ट है। वे प्रत्येक वस्तु को मनो-रंजक बनाने का प्रयत्न करते हैं और अपनी उक्तियों में हँसाने योग्य बाँकपन ला देते हैं। उन्होंने प्रचलित विषयों पर छोटी-छोटी कविताओं की रचना प्रारम्भ की जो पद्यबद्ध निबन्ध जैसी हैं। उनके प्रिय विषयों में तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं का प्रासंगिक निर्देश मिलता है। उन्होंने खड़ीबोली में भी कुछ रचनाएँ कीं।

पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन'—

उनकी श्रेष्ठ कविताएँ उनके नाटकों में मिलती हैं। उनकी स्फुट कविताएँ घटना विशेष अथवा अवसर-विशेष के लिए लिखी गईं। उदाहरणार्थ, दादाभाई नौरोजी के ब्रिटिश पार्लमेंट के सदस्य चुने जाने पर उन्होंने अपने भावों को पद्यबद्ध किया। इन कविताओं में समसामयिक परिस्थितियों का प्रसंगोपात्त निर्देश है और ये उनकी देशभक्ति की भावना को व्यक्त करती हैं। आत्यन्तिक प्रौढ़ और आलंकारिकता जो उनके गद्य की विशिष्टता है, उनके पद्य को भी आक्रांत करती है।

ठाकुर जगमोहन सिंह—

उनके पद्य की भी वही विशेषता है जो गद्य की। उनके संस्कृत-ज्ञान और प्रकृति-प्रेम ने उनके काव्य को प्रभावित कर उसकी विशेषता का निर्माण किया।

उनकी कविताओं में माधुर्य और प्रवाह है तथा उनकी विशद और सूक्ष्म वर्णन-शक्ति अप्रतिम है।

इस युग के अन्य कवि हैं अम्बिकादत्त व्यास, विजयानन्द, और ब्रजचन्द्र। इसके अतिरिक्त इस युग के प्रारम्भ में ब्रजभाषा के कवि, सेवक, सरदार, लछिराम आदि जिनका नाम निर्देश हम संक्रांति काल पर विचार करते हुए पूर्ववर्ती अध्याय में कर आये हैं, इस समय भी वर्तमान थे और काव्य-रचना कर रहे थे। भारतेन्दु जी नये युग के नेता थे, उन सबसे सुपरिचित थे, तथा प्रशंसा और पारितोषिक प्रदान द्वारा उनको प्रोत्साहन देते रहते थे। इसी प्रकार इस युग की समाप्ति के समय नवयुवक कवियों का एक दल काव्य जीवन की प्रारम्भिक अवस्था का अति-क्रमण कर रहा था। इस दल के प्रमुख साहित्यिक थे श्रीधर पाठक, जगन्नाथ दास 'रत्नाकर', राय देवी प्रसाद 'पूर्ण', नाथूराम शंकर शर्मा, और अयोध्यासिंह उपाध्याय। किन्तु इन लोगों ने अपनी प्रौढ़ कृतियों की रचना आने वाले काल में की, अतः हम इनके संबंध में अगले अध्याय में लिखेंगे।

सोलहवाँ प्रकरण

पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी और द्विवेदी-युग

(१९००–१९२२)

शताब्दी के परिवर्तन-काल में हिन्दी-साहित्य ने नई विशेषताओं को प्रकट किया जो किंचित् परिवर्तन-परिष्करणपूर्वक लगभग बीस वर्षों तक स्थित रहीं। इसी कारण बीसवीं शती के पहले दो दशकों का एक साथ विचार किया जायगा। ब्रिटिश शासन अब दृढ़तापूर्वक स्थापित हो चुका था। १८५७ में इसको विफल चुनौती दी जा चुकी थी और दमन का परवर्ती-काल उत्तर-भारत की हिन्दी-भाषी जनता के हृदय को आतंक से भर चुका था। विद्रोह और तदनुवर्ती दमन की स्मृति धीरे-धीरे मिट चली थी और महारानी विक्टोरिया की सरकार की अपेक्षाकृत उदार नीति के कारण भारतीय जन ब्रिटिश शासन के अनुकूल हो चले थे और उसे अनिवार्य समझ स्वीकार करने लगे थे। इसी कारण विदेशी शासिकों के प्रति असन्तोष और संशय का अन्तःस्वर, जो भारतेन्दु और उनके युग के लेखकों की रचनाओं में निरन्तर रहा, इस युग में खो गया। इसके अतिरिक्त अँगरेजी शिक्षा के प्रसार से जनता अँगरेजी विचार और साहित्य से, जिसने न केवल भारत की विशिष्ट विचारधारा को ही परिष्कृत किया प्रत्युत एक सुसम्पन्न और अभिनव ज्ञानकोष भी प्रदान किया, अधिकाधिक परिचित हो चली थी। ब्रिटिश-शासन का प्रसार अब सुदूर प्रदेशों तक में हो गया था जो इस प्रकार एक संघ में आ गये थे। इसका भी हिन्दी साहित्य पर प्रभाव पड़ा। अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार और ब्रिटिश प्रभाव के विस्तार ने युगवत् उस क्षेत्र का भी अभिवर्द्धन किया जिसमें अब हिन्दी साहित्य आत्मनिवेदन कर सका। दूसरी ओर, क्षेत्र विस्तार के परिणाम ने सहज भ्रम की सृष्टि की। हिन्दी अब पूर्वी बिहार से पंजाब तक और उत्तर-प्रदेश से बरार तक बोली और लिखी जाने लगी तथा इसके सम्मानित आधारभूत स्वरूप के अभाव में अव्यवस्थित और असन्तुलित गद्य के विविध प्रकार थे। बोलियों से गृहीत स्थानिक व्यंजनाएँ व्याकरणगत दोषों के साथ मिली हुई अधिकाधिक दिखाई देने लगीं जिन्होंने भाषा को विचित्र बना दिया। यह वह समय था जब बहुत बड़ी संख्या

में ऐसे नौसिखुओं ने लेखन-कला का अभ्यास किया जिन्होंने हिन्दी में लिखना अंगीकार कर लिया था किन्तु जिनसे साहित्यिक कृतित्व की प्रत्याशा नहीं की जाती थी । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी गद्य का सम्मान स्थिर किया परन्तु उनके युग में इस गद्य का सीमित प्रभाव था। साहित्य समीक्षकों का एक सीमित मण्डल ही इसमें अनुरक्त था। १९वीं शती का अन्त होते-होते छापाखाने और व्यास-पीठों के प्रचार द्वारा इसका क्षेत्र विस्तृत हो गया । कह सकते हैं कि भारतेन्दु द्वारा निर्मित और निरूपित हिन्दी गद्य उस समय बहुत कुछ विशृंखल हो गया जब बीसवीं शती के प्रारम्भ में इस पर अनेक प्रकार के प्रयोग किये गये। जो गद्य के विषय में सत्य है वही पद्य के विषय में भी। ब्रजभाषा की जगह खड़ीबोली को मिली परन्तु आरम्भ में यह अपरिपक्व और अस्पष्ट स्थिति में थी। सामान्यतया, हम कह सकते हैं कि बीसवीं शती केप्रारम्भ में हिन्दी-साहित्य अनिश्चय और भ्रम की अवस्था में था। प्राचीन आदर्श और प्रकार परित्यक्त हो चुके थे, प्रयोग हो रहे थे परन्तु स्थायी आदर्श अभी तक उद्भूत न हुए थे । वर्तमान शती के आरम्भिकपाँच-छः वर्षों में यही अवस्था रही ।

इस समय हिन्दी के अभाव अनेक थे। सबसे पहले, शब्दों और पदों की कमी थी । हिन्दी का अबतक बहुत सीमित व्यवहार हुआ था फलतः नये तथ्यों और विचारों को व्यक्त करने के पर्याप्त साधन इसके पास न थे । इस अभाव की पूर्ति के लिए अँगरेजी, बंगला, उर्दू, और मराठी से पदों और शब्दों का अधिकता से ग्रहण किया गया। यह ग्रहण कभी-कभी इतना भोंड़ा और अविचारपूर्ण होता था कि इससे भाषा का स्वरूप ही विचित्र हो गया। लिखने की कला चकती और प्यौंदा लगाने की कला हो गई । इन दिनों कुछ प्रसिद्ध कवियों और लेखकों में, जिनमें व्याकरण-विरुद्ध दोषों की भरमार थी तथा व्याकरण के प्रति तीव्र उपेक्षा थी, बहुतेरे तो विराम-चिह्नों के प्रयोग से भी अनजान थे। इस अव्यवस्था में नियम और व्यवस्था उत्पन्न करने का गौरवपूर्ण कार्य पंड़ित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने किया। उन्होंने अपने युग को निर्दोष और प्रशस्त लेखन सिखाया और हिन्दी-गद्य-लेखन का एक सर्वमान्य रूप प्रस्तुत किया । इस प्रकार उनकी देन हिन्दी साहित्य के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और अपने युग पर उनकी छाप इतनी गहरी थी कि उसका द्विवेदी-युग नामकरण ही समीचीन है । 'सरस्वती', जिसका इस समय उतना ही महत्त्व था जितना नागरी-प्रचारिणी का पूर्व युग में था, के लिए प्रकाशनार्थ आई हुई अधिकांश रचनाएँ व्याकरण संबंधी दोषों और भद्दे साहित्यिक रूपों के कारण भोंड़ी होती थीं। द्विवेदी जी ने न केवल उन भूलों का सुधार किया बल्कि उन लेखकों को उन दोषों से अवगत कराते हुए, उन्हें दूर करने का प्रयत्न करने की आवश्यकता भी बताई । अपनी कृतियों द्वारा उन्होंने निर्दोष, सुलझे हुए, और

विशुद्ध गद्य का प्रशस्त आदर्श उपस्थित किया, जो संस्कृत-गर्भित पदावली और भद्दे अनुकरण पर अवलम्बित दोषमयी भोंड़ी शैली से वियुक्त था। शिक्षा और व्यवहार द्वारा उन्होंने उस पथ का प्रदर्शन किया जिस पर चलकर हिन्दी ने आगामी वर्षों की सफलताएँ प्राप्त कीं। यदि हम २० वीं शती की प्रारम्भिक रचनाओं की तुलना प्रथम दशक की समाप्ति-कालीन रचनाओं से करें तो उन्होंने जो महान् परिवर्तन कर दिया था उसका कुछ आभास मिल जायगा। यद्यपि यह प्रकृत्या गद्य का युग था तथापि अधिक प्रगति काव्य-रचना के क्षेत्र में हुई। इस बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए इस युग के प्रारम्भिक वर्षों की इतिवृत्तात्मक रचनाओं और अन्तिम वर्षों के सुन्दर और श्रेष्ठ गीतों को साथ रखकर तुलना कीजिए। अन्ततः बीसवीं शती के प्रारम्भिक दो दशकों में गद्य और पद्य का प्रशस्त रूप चल निकला और भाषा परिमार्जित हुई। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके सम-सामयिक लेखकों ने हिन्दी के लिए उत्साह पैदा किया और साहित्य-रचना का प्रारम्भ किया। द्विवेदी-युग में संशोधन और व्यवस्था का आवश्यक कार्य किया गया और पूर्वकालीन साहित्यानुराग निश्चित पथ पर उन्मुख हुआ। इसका वास्त-विक महत्त्व हम तभी समझ सकते हैं जब इसको भारतेन्दु-युगीन बीजारोपण और १९२० के बाद आनेवाली साहित्यिक प्रतिभाओं के चरमविकास के बीच संयोजक सम्बन्ध को देखें।

पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भाषा को सुधारा, शुद्ध किया, नया रूप दिया, और विस्तृत व्यवहार के योग्य बनाया। प्रान्तीय और स्थानिक गुणों का परिहार करते हुए उन्होंने इसे व्यापक स्वर और लक्षणीय रूप दिया। प्राचीन संस्कृत साहित्य के प्रेमी होते हुए भी, उन्होंने अपनी गद्य शैली को इसके अनिप्सित प्रभाव से मुक्त रखा। उनके गद्य में अंग्रेजी गद्य के आदर्श के साथ बंगला और मराठी विशेषताओं का भी ग्रहण था। परन्तु इन विभिन्न प्रभावों की ऐसी एकान्विति हो गई थी कि वैभिन्य का कोई चिह्न न था। इस प्रकार द्विवेदी-शैली विशुद्धता, स्पष्टता, और सन्तुलन का आदर्श रूप है जिसमें रूढ़ि को स्थान नहीं है। विशुद्ध और परिमार्जित भाषा का विकास और एक व्यवस्थित गद्य-शैली की प्रतिष्ठा इस युग की प्रमुख विशेषता है। इस नव प्रचलित गद्य का व्यवहार लेखकों ने विभिन्न उद्देश्यों के लिए असामान्य सफलतापूर्वक किया। गम्भीर विचारों के व्यक्तीकरण में समर्थ शैली में पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने समालोचना ग्रन्थों का निर्माण किया और इस युग की समाप्ति के आस-पास प्रेमचन्द ने सीधी और मँजी हुई शैली में ग्रामजीवन के विशद चित्रों को प्रस्तुत करने वाले उपन्यास लिखे। अनेक लेखक गद्य के विभिन्न रूप प्रकारों का अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए व्यवहार कर रहे थे।

फिर भी इस युग के गद्य साहित्य का अवलोकन करने से एक प्रकार का असंतोष होता है। लेखकों में, जो मौलिक निर्माण में रुचि दिखाने की जगह बंगला, गुजराती, और मराठी से अनुवाद करने में अधिक व्यस्त थे, मौलिकता का खेदजनक अभाव दिखाई देता है। यह सत्य है कि बहुधा इन अनुवादों ने उपयोगी आदर्श प्रस्तुत किया परन्तु एकमात्र यही लगन पूर्णतया हानिकर थी। इसका सबसे बुरा प्रभाव नाटक और कथा-साहित्य पर पड़ा। द्विजेन्द्र लाल राय तथा दूसरे लेखकों के कुछ नाटकों के हिन्दी अनुवाद हुए। इन्होंने तत्कालीन जनता का पूर्ण मनोरंजन किया पर जिस चिल्लाहट और कोलाहल से वे नाटक परिपूर्ण थे उसका अवांछित प्रभाव भी हिन्दी नाटक पर पड़ा। इस समय के मौलिक और उल्लेखनीय नाटक राधाकृष्ण दास कृत 'महाराणा प्रताप' और राय देवी प्रसाद 'पूर्ण' कृत 'चन्द्रकला भानुकुमार नाटक' ही हैं। कथासाहित्य में तो अनुवादों की और बाढ़ आ गयी थी। गोपालराम गहमरी, ईश्वरी प्रसाद, रूपनारायण पांडेय, और अन्यान्य लोग बंगला उपन्यासों के अनुवाद से बाजार पाट रहे थे। इसमें नगण्य लेखकों के अतिरिक्त बंकिमचन्द्र, रमेशचन्द्र दत्त, शरच्चन्द्र, चण्डीचरण सेन, और रवीन्द्र नाथ ठाकुर की रचनाएँ भी थीं। इन अनुवादों ने कथा-साहित्य के प्रति जनरुचि को जगाया पर इन्होंने जीवन की ऐसी गुत्थियाँ प्रस्तुत कीं जो हिन्दी पाठकों के लिए अपरिचित थीं। फलतः ये जीवन का सहज-बोध कराने में सहायक न थीं। परिणामतः इस युग में उपन्यास-लेखन में अधिक प्रगति न हुई। किशोरी लाल गोस्वामी के उपन्यास असंगठित और अश्लील हैं और वृहत् 'चन्द्रकान्ता सन्तति', जिसकी किसी समय बाजार में धूम थी, तिलिस्म और ऐयारी-विषयक उपन्यास है। इसमें ऐसी परिस्थितियों की दक्षता-पूर्ण कल्पना है जो सूक्ष्म, मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक विशेषताओं से रहित हैं। तो भी इस अन्तिम पुस्तक ने हिन्दी उपन्यास को आगे बढ़ाया। कहानी-लेखक, जब इस काल में अधिक सक्रिय थे, अधिक प्रशंसा के पात्र हैं। हिन्दी कहानी का आविर्भाव परम्परागत कथित कहानी, अंग्रेजी लघु कहानी, तथा बंगला गल्प के सम्मिलित प्रभाव से हुआ। जन्म के बाद ही इसने अकल्पनीय प्रगति की और पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की कहानियों की तुलना अच्छी से अच्छी कहानियों से की जा सकती है। पूर्वकाल में, जैसा हम देख आए हैं, निबंधों का अधिक निर्माण हुआ। इस युग में भी निबन्ध का चलन खूब रहा। पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने बेकन के निबन्धों का अनुवाद कर निबन्ध-लेखन का एक नवीन आदर्श प्रस्तुत किया। इस युग के अन्य निबंधकार थे, पंडित माधव मिश्र, पंडित रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दर दास, बालमुकुन्द गुप्त, और पंडित गोविन्द नारायण मिश्र। इन लेखकों की रचनाओं में गंभीर विषयों का विचार रहता था किन्तु निबन्ध की सुपरिचित विशेषता, व्यक्ति-व्यंजकता, और विनोदशीलता के आने में अभी

कुछ वर्षों की देर थी। पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी और पंडित पद्म सिंह शर्मा ने साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। शर्मा जी ने बिहारी सतसई की सुप्रसिद्ध समीक्षा में ऐतिहासिक और तुलनात्मक समीक्षा-पद्धति का व्यवहार किया। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी गंभीर विवेचनाओं द्वारा सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की समीक्षा के प्रणयन में महत्त्वपूर्ण योगदान किया जो हिन्दी के लिए अपूर्व थी और जिसके दोषरहित निर्णय और गहन पाण्डित्य से हिन्दी-साहित्य समीक्षा उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित हो गई। इसके अतिरिक्त इन बीस वर्षों में साहित्य के उत्साह से भरे हुए अनेक लेखकों ने विविध विषयों पर लेख लिखे। ये लेख 'सरस्वती', 'मर्यादा', 'इन्दु', 'प्रताप', और 'अभ्युदय' जैसे मासिक और साप्ताहिक पत्रों में प्रकाशित हुए। इतिहास, सम-सामयिक राजनीति, और समाज-सुधार जैसे विविध विषयों पर भी ग्रन्थों की रचना हुई।

भारतेन्दु और उनके मित्रों ने काव्याभिव्यंजना प्रणाली और छन्द में नये प्रयोग किये परन्तु उनके युग की कविता रीतिकालीन रूढ़ियों से सर्वथा मुक्त न हो पाई थी। शृंगार की प्रधानता, प्राचीन पद्धति, और रूपों का व्यवहार उस समय भी काव्य के सामान्य लक्षण थे। परवर्ती युग में परिवर्तन सवेग हुआ। द्विवेदी-युग के कवियों ने १८वीं और १९ वीं शती की कविता से अपने आपको पूर्णतया मुक्त कर लिया और वे एक नवीन पथ पर गतिशील हुए। प्राचीन रूढ़ियों की इस प्रतिक्रिया को आधुनिक हिन्दी-साहित्य के कुछ इतिहासकारों ने 'स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन' कहा है। निस्सन्देह, बँधी-बँधाई रूढ़ियों से यह प्रस्थान स्वच्छन्दतावादी ढंग का है। परन्तु वास्तविक स्वच्छन्दतावाद से सम्बद्ध सूक्ष्म कल्पनादृष्टि, आवेश और स्वाभाविकता, प्रभावोत्पादकता और व्यंजना की बारीकियों का अभी पता न था। इस युग के कवि, १९२० के बाद आने वाले महान् रचनात्मक आन्दोलन के, पूर्ववर्ती उद्गाता मात्र थे और उनकी रूढ़िमुक्त, साधारण भावों की अभिरुचि वाली, और नवीन प्रकृति-प्रेम युक्त कविता शेली की अपेक्षा कूपर की याद अधिक दिलाती है। इन बीस वर्षों में ऐसे कवि भी हुए जिन्होंने प्रकृति की नाना अवस्थाओं और मुद्राओं को प्रस्तुत किया। पंडित श्रीधर पाठक साधारण और शान्त प्रकृति के प्रेमी थे। बिहारी और पद्माकर की रूढ़िग्रस्त पद्धति से, जिसमें प्रकृति केवल उद्दीपन की सामग्री थी, यह प्रकृतिप्रेम सर्वथा भिन्न था। उन्होंने ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों का समान रूप से प्रयोग किया तथा विविध छन्द-प्रयोग किये। पंडित अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की काव्य-प्रतिभा बहुमुखी थी। आरम्भ में उन्होंने सामान्य और सहज खड़ी बोली, जैसा दूसरे लोग उस समय लिख रहे थे, लिखी, परन्तु सुप्रसिद्ध प्रिय-प्रवास ग्रन्थ में भाषा अत्यन्त संस्कृत-गर्भित, और छन्द, संस्कृत के अति प्राचीन कवियों द्वारा प्रयुक्त, वर्णवृत्त अंगीकार

किया। पिछली रचनाओं में मुहावरेदानी दिखाने के लिए उन्होंने उर्दू-कवियों के ढंग पर काव्य-रचना की। विभिन्न प्रकार की भाषा का कुशल प्रयोग और विविध छन्दः प्रकार उनमें अद्भुत है। पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी भी सफल कवि थे, कुमारसम्भव का उनका अनुवाद और छोटी-छोटी अन्य कविताएँ बहुत अच्छी बन पड़ी हैं। व्यंजना की स्पष्टता और रचना की विशुद्धता जो उनके गद्य में पाई जाती है पद्य में भी मिलती है पर भावों की वह उत्कृष्टता और भाषा का वह प्राञ्जल प्रवाह पद्य में नहीं मिलता। २० वीं शती के सबसे अधिक ग्रन्थ निर्माता और प्रतिभाशाली कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-प्रतिभा के निर्माण में उनका गहरा प्रभाव है। 'भारत भारती' मैथिलीशरण गुप्त की आरम्भिक रचनाओं का प्रतिनिधित्व करती है जिसमें तात्कालिक परिस्थिति की आलोचना सुधार भावना से संवलित होकर की गई है। इसके बाद उन्होंने आख्यानपरक काव्य लिखे, जैसे विरहिणी ब्रजांगणा और मेघनादबध, पर ये दोनों ग्रन्थ माइकेल मधुसूदन दत्त के ग्रन्थों के अनुवाद हैं। इनके कारण व्यंजना में वैशिष्टच का सन्निवेश हो गया यद्यपि संस्कृत शब्दों की प्रयोग-बहुलता से शैथिल्य भी आया। कवि की सर्वोत्तम कृतियों, साकेत और यशोधरा, का निर्माण छायावाद युग में हुआ। मैथिलीशरण की कविता में विकास की प्रौढ़ि के लक्षण प्रकट हुए और इसकी सबसे बड़ी विशेषता प्रचलित प्रवृत्तियों और अभिरुचि की ग्रहणशीलता में है। द्विवेदी जी से प्रभावित अन्य कवि पंडित रामचरित उपाध्याय और पंडित लोचन प्रसाद पाण्डेय हैं। राय देवी प्रसाद 'पूर्ण' इन सामयिक प्रभावों से मुक्त थे और ब्रजभाषा में ही लिखते रहे। साहित्यानुराग और काव्य-व्यंजना में प्राचीन रूप विधानों का प्रेम उन्हें भारतेन्दु-युग से सम्बद्ध करता है। नाथूराम शंकर शर्मा उच्चकोटि के कवि थे; श्रृंगारिक और समाज-सुधार विषयक ओजस्वी रचनाओं का उनमें विचित्र मेल मिलता है। पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने कुछ अच्छी वर्णनात्मक कविताएँ लिखीं। पंडित सत्यनारायण कविरत्न, जिनका असामयिक निधन हुआ, इस समय के प्रसिद्ध ब्रजभाषा-कवि थे। उनकी कविताएँ मार्दव और माधुर्य से पूर्ण हैं जिनसे सूरदास और नन्ददास की याद आती है; परन्तु इसके साथ ही इनमें आधुनिकता का प्रभाव भी है।

अन्ततः हमारे मत से, यह युग हिन्दी-साहित्य के इतिहास के महान् युगों में से नहीं है। रचना की अतिशयता इस युग में थी परन्तु उसमें उत्कर्ष न था। उत्कर्ष-प्राप्ति न होने के कुछ कारण हैं। यह युग २० वर्षों के स्वल्प प्रसार में आबद्ध है और परिस्थितियाँ ज्यों ही स्थिर होने को थीं कि एक अन्य परिवर्तन-धारा आ गई। प्रारम्भिक अनिश्चयशीलता और भ्रान्तियों ने लेखकों की शक्ति और लगन को बहुत कुछ अपहृत कर लिया और इस प्रकार रचना में बाधा उत्पन्न हुई।

यह पूर्णरूप से स्थिर युग था। १८५७ के विद्रोह के कठोर धक्के ने भारतेन्दु-युग को जगा दिया था और १९२१ के असहयोग-आन्दोलन ने एक उत्साह की सृष्टि कर दी थी जो छायावाद के निर्माणकाल में निविष्ट था। इन दो महान् घटनाओं के मध्य द्विवेदी-युग मान्य स्वीकृति और आत्म-सन्तोष का युग था जो महान् साहित्य के निर्माण का प्रेरक नहीं था, न कोई लेखक ही ऐसी देदीप्यमान साहित्य-प्रतिभा का हुआ जो अपनी वैयक्तिक उपलब्धियों से इस युग को असामान्य स्तर पर पहुँचा देता। तो भी हम इस युग के उन गद्यकारों के महान् कार्य को नगण्य नहीं कह सकते जिन्होंने अव्यवस्था के समय सुव्यवस्था के स्थापन के लिए घोर श्रम किया और हिन्दी-साहित्य को अनुवादों और मौलिक रचनाओं द्वारा समृद्ध बनाने का प्रयत्न किया।

(२)

पंडित महावीरप्रसाद दिवेदी--

इस युग की विशेषताओं के निर्माता और निर्द्धारक द्विवेदी जी पूर्ववर्ती युग के साहित्य और साहित्यिक जगत् के केन्द्र भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से सर्वथा भिन्न थे। भारतेन्दु की प्रकृति में उच्चकोटि की भावुकता और अपरिग्रह का मधुर मिश्रण था। वे आनन्दवादी थे। द्विवेदी जी पक्के आदर्शवादी थे। जीवन और साहित्य में दृढ़ संयम, कठोर अनुशासनप्रियता के साथ उनका व्यक्तित्व तेजोमय और आतंकजनक था। इन्हीं विशेषताओं ने उनके युग को प्रभावित किया क्योंकि इस युग में सर्वप्रमुख व्यक्तित्व उन्हीं का था।

१८६४ में रायबरेली जिले के दौलतपुर गाँव के एक निर्धन परन्तु सम्मानित कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में उनका जन्म हुआ। बाल्यकाल में गाँव की शिक्षा समाप्त कर वे बम्बई में अपने पिता के पास चले गये जहाँ उन्होंने स्वयमेव मराठी साहित्य का परिचय प्राप्त किया। कई वर्षों तक वे रेलवे के तार विभाग में नौकर रहे। एक अंगरेज अफसर के अशिष्ट व्यवहार से क्षुब्ध होकर उन्होंने पदत्याग कर दिया और इसके बाद सारा जीवन साहित्य-सेवा में लगा दिया। १९०३ के बाद उन्होंने 'सरस्वती' का सम्पादन लगभग २० वर्ष तक किया और ७४ वर्ष के वय में उनका १९३८ में देहान्त हुआ। उन्होंने गद्य और पद्य दोनों में अधिक रचना की और विशद क्षेत्र पर अधिकार स्थापित किया। उनकी अधि रचनाएँ संस्कृत, अँगरेजी, बंगला और मराठी से अनुवाद हैं। उनकी मौलिक कृतियों में न असाधारण गहराई है और न नई शैली। किन्तु भाषा की शुद्धता और शैली के परिष्कार द्वारा गद्य और पद्य के सम्मान को उन्नत कर उन्होंने हिन्दी की महत्त्व-पूर्ण सेवा की। स्वयं उनकी शैली भी कालान्तर में उन्नत हुई। उनकी आरम्भिक

गद्य-रचनाएँ दोषरहित नहीं हैं परन्तु इनमें विकास वेगपूर्वक हुआ और शीघ्र ही उनमें स्पष्टता और स्थिरता आ गई। उनकी शैली का सर्वोत्तम उदाहरण हिन्दी-साहित्यसम्मेलन के कानपुर अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष पद से दिया हुआ भाषण है। उनकी कविता में सूक्ष्म प्रेरणा और भावों की गहराई नहीं है और चरणों में संगीत की लय टूटती-सी मिलती है। लेकिन उनका गद्य सुस्पष्ट और विशुद्ध गद्य का वह स्वरूप उपस्थित करता है जिसका दूसरों ने अनुकरण किया। गद्य के समान पद्य में भी साहित्यिक अभिव्यंजनाओं को उन्होंने उस दैनिक बोल-चाल के निकट लाने का प्रयत्न किया जिसका व्यवहार नगरों के शिक्षित और सभ्य जन करते थे। उनकी साहित्य-समीक्षाओं में एक तीखा स्वर है परन्तु उनमें गम्भीरता नहीं है क्योंकि मुख्यतया इनमें ऊपरी बातों का और वस्तु तथा शैली संबंधी विचार ही पाया जाता है। साधारणतया कह सकते हैं कि द्विवेदीजी में असाधारण साहित्यिक प्रतिभा न थी, न वे महान् चिन्तक ही थे परन्तु उनका व्यक्तित्व शक्तिशाली था, उनमें सुधारक का उत्साह था और उद्देश्य के निमित्त कार्य करने की शक्ति थी। इन्हीं कारणों से वे अपने युग के अप्रतिम साहित्यकार हैं। उनकी महत्ता उनकी स्वकीय उपलब्धियों तक ही नहीं है प्रत्युत दूसरों को साहित्य-निर्माण के लिए प्रेरणा और सहायता देने में भी है।

बाबू श्यामसुन्दर दास (१८७५-१९४५)—

हिन्दी के लिए बाबू यामसुन्दर दास की सेवाएँ अपरिमेय हे। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के संस्थापन में उनका मुख्य योग रहा है और जीवन के प्रायः आखिरी दिनों तक वे इसकी कार्यवाहियों में रुचि लेते रहे। काशी-हिन्दू-विश्व-विद्यालय में उन्होंने हिन्दी की उच्च शिक्षा का संगठन किया। उस समय के कुछ श्रेष्ठ विद्वानों को शिक्षण-कार्य के लिए एकत्र किया। गवेषणा, सम्पादन, और मौलिक प्रणयन के विचार से उनका साहित्यिक कार्य-क्षेत्र बहुत व्यापक है। उनके प्रयत्नों से प्राचीन हिन्दी ग्रन्थों की पाण्डु-लिपियों का शोध-कार्य सफलतापूर्वक चलता रहा जिनमें से अधिकांश के संपादित संस्करण प्रकाशित किये गये। हिन्दी-शब्दसागर के प्रधान सम्पादक के रूप में उन्होंने सर्वप्रथम उत्कृष्ट और आधारभूत शब्द-कोष हिन्दी में उपस्थित कर महत्त्वपूर्ण कार्य किया। वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दों के निर्माण में भी उन्होंने योगदान दिया। उन्होंने बहुत सी पुस्तकें लिखीं जिनमें 'हिन्दी भाषा और साहित्य', 'साहित्यालोचन' और 'भाषा-विज्ञान' मुख्य हैं। पहली पुस्तक में हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का इतिहास है, दूसरी साहित्य सिद्धान्तों पर लिखी गई है और तीसरी भाषा-विज्ञान विषयक एक प्रबन्ध है। उन्होंने 'रूपक रहस्य', 'तुलसी दास' और सम-सामयिक लेखकों

के जीवन और साहित्य पर भी लिखा। अपने सुदीर्घ जीवन में उन्होंने मासिक पत्र-पत्रिकाओं में कितनी ही टिप्पणियाँ और लेख लिखे। उनका व्यक्तित्व प्रेरणा-दायक था और उनके परामर्श और उदाहरण से कितने ही शिक्षित जन हिन्दी-प्रेमी और लेखक हो गये। उनके गद्य में न तो पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी के गद्य की सी परिष्कृत शुद्धता है और न पंडित रामचन्द्र शुक्ल की रचनाओं की सी गंभीरता और शक्ति जो गम्भीरतम विषयों का विवेचन करती है। उसकी विशेषता इसके सहज स्वभावक प्रवाह और विषयों के स्पष्ट निरूपण में हैं।

पंडित रामचन्द्र शुक्ल (१८८४-१९४१)—

कुछ दिन स्कूल मास्टरी करने के बाद पंडित रामचन्द्र शुक्ल बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के अध्यापन-विभाग में आये और बाबू श्यामसुन्दर दास के अवकाश ग्रहण के बाद हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हुए। अध्यापक और लेखक दोनों ही रूपों में वे अत्यन्त सम्मानित थे। हिन्दी के आधुनिक विद्वानों का मार्ग-प्रदर्शन उन्होंने दूसरों से कहीं अधिक किया। यद्यपि उनकी शिक्षा अधिक नहीं थी तथापि अपने व्यक्तिगत अध्यवसाय से उन्होंने संस्कृत, अंगरेजी, उर्दू और बँगला का गम्भीर ज्ञान अर्जित कर लिया। उनका पांडित्य व्यापक ही नहीं गम्भीर भी था जिसके फलस्वरूप वे यथार्थ आलोचना के मान और रूप-विधान को हृदयंगम कर सके। उन्होंने बहुत लिखा। उनका हिन्दी साहित्य का इतिहास अधिक प्रामाणिक है। **चिन्तामणि** नामक निबन्ध संग्रह के दो भागों में संकलित समीक्षा-सम्बन्धी निबन्ध उनकी विद्वत्ता और अचूक निर्णय शक्ति के प्रमाण हैं। इन रचनाओं के साथ तुलसीदास, जायसी, और सूरदास संबंधी उनकी भूमिकाओं ने हिन्दी आलोचना को नया स्वरूप प्रदान किया जो अब तक रस, अलंकार, और रीति के प्राचीन आचार्यों के अनुसार चलकर रूढ़िवादी और संकीर्ण हो गई थी। शुक्ल जी ने ऐतिहासिक, तुलनात्मक, और मनोवैज्ञानिक पद्धति का चलन किया और रचनाकार के व्यक्तित्व के अनुषंग में रचना की व्याख्या करने का प्रयत्न किया। उन्होंने प्रचलित रस-सिद्धांत और क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की नूतन व्याख्या द्वारा काव्य-मीमांसा की मौलिक पद्धति का प्रवर्तन किया। सूक्ष्म और अस्पष्ट विषयों की वे नये प्रकार से व्याख्या करने में कुशल थे। वे बहुत ऊँचे आलोचक थे, शायद उनकी एकमात्र असमर्थता थी १९२० के बाद आनेवाले प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी वर्मा जैसे कवियों की सहानुभूतिमूलक समीक्षा न कर पाना। गीत-काव्यों की अपेक्षा लम्बे प्रबन्ध-काव्यों को अधिक महत्व देना एक अन्य प्रकार की संकीर्णता थी। लेकिन इसकी गणना उनकी वैयक्तिक रुचि और अरुचि के अंदर की जा सकती है और इस प्रकार आलोचक के रूप में उनकी

महत्ता न्यून नहीं होती। हम जानते है शैली की विशेषताओं को देखने की शक्ति न रहते हूए भी आलोचक मैथ्यू आर्नल्ड की महत्ता सार्वकालिक है। शुक्ल जी की दूसरी विशेषता है एक विशिष्ट हिन्दी गद्य-शैली की उद्भावना जो उनके गम्भीर विचारों और भावों को सुरम्यतापूर्वक अभिव्यक्त कर सकती थी। इसके निमित्त उन्हें संस्कृत का आश्रय ग्रहण करना पड़ा तो भी उनकी भाषा की आधारिक विशिष्टता आधुनिक है। उनकी गद्य-शैली में प्रचुर उत्कर्ष और प्रवाह है। वे कवि भी थे और एडविन आर्नल्ड के दी 'लाइट आफ एशिया' नामक काव्य का उनका पद्यानुवाद 'बुद्ध चरित' प्रशंसनीय हुआ है। उनके काव्य की विशेषता प्रकृति के सूक्ष्म पर्यवेक्षण की विशद व्यंजना में है। उनकी कविता प्रकृति के नाना रूपों को यथातथ्य प्रतिबिम्बित करने में दर्पण के समान है।

इस युग के इतर समीक्षकों की चर्चा संक्षेपतया की जा सकती है। मिश्र-बन्धुओं द्वारा तीन भागों में सम्पादित हिन्दी-साहित्य का वृहत् इतिहास **मिश्रबन्धु विनोद** अपने विषय का आधार ग्रन्थ रहा है और भविष्य में भी रहेगा। शिवसिंह और सर जार्ज ग्रियर्सन की एतद्विषयक परिचायक कृतियाँ नैमित्तिक और अगंभीर हैं। 'मिश्रबन्धु-विनोद' ने पहले-पहल हिन्दी साहित्य की व्यवस्थित और कालानु-क्रमपूर्वक पर्याप्त जानकारी सुलभ कर दी। मिश्रबन्धुओं की अन्य कृति 'हिन्दी-नवरत्न' है जिसमें हिन्दी के नौ महाकवियों की समीक्षा सामान्य जनता के परिचय के लिए दी गई है। जब यह पुस्तक प्रकाशित हुई तब इसके विरुद्ध समीक्षाएँ बहुत हुईं। बिहारी के काव्य पर पंडित पद्मसिंह शर्मा की समीक्षा ने ऐतिहासिक और तुलनात्मक समीक्षा का आदर्श उपस्थित किया। संस्कृत, हिन्दी और उर्दू पर, समान अधिकार होने से शर्माजी बिहारी की रचनाओं को एक नई दृष्टि से देख सके, जिनकी आलोचना अब तक रूढ़िवादी ढंग से हो रही थी। फिर भी उन्होंने एक अनावश्यक वाद-विवाद का सूत्रपात किया जो उनकी कृतियों के गांभीर्य और मर्यादा के अनुरूप न था। पंडित कृष्णबिहारी मिश्र की समीक्षा-पद्धति भी तुलनात्मक है। उनकी प्रणीत कृतियाँ 'देव और बिहारी' तथा 'मतिराम ग्रंथावली' उत्कृष्ट हैं।

राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द और राजा लक्ष्मण सिंह की दो भिन्न गद्यशैलियों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सामंजस्य स्थापन के बावजूद भी हम २०वीं शती के प्रारम्भ में हिन्दी-गद्य को इन दोनों ही प्रकारों में रचित पाते हैं। बाबू बाल-मुकुन्द गुप्त जो उर्दू का अच्छा ज्ञान रखते थे, उर्दू गद्यकारों की सीधी-सादी और प्रवाहमयी शैली में लिखना पसन्द करते थे। उनकी भाषा में सुन्दर काट-छाँट मिलती है और उसमें मुहावरेदार व्यंजनाओं का अच्छा व्यवहार किया गया है। 'शिवशम्भु शर्मा का चिट्ठा' और उनकी अन्य कृतियाँ इस प्रकार के गद्य

की उदाहरण हैं। उनमें व्यंग की प्रतिभा थी जो गद्य-पद्य कृतियों में तीखे रूप में वर्तमान है। इस युग के कुछ लेखकों ने उनकी शैली का अनुकरण किया। पंडित मन्नन द्विवेदी की कृतियों, 'मुसलमानी राज्य का इतिहास', 'हमारा भीषण ह्रास' तथा 'कल्याणी' और 'रामलाल' नामक दो उपन्यासों और अनेक निबन्धों, में हिन्दी गद्य का निर्दोष, प्रवाहयुक्त और उत्कृष्ट स्वरूप मिलता है। संस्कृत व्यंजनाओं के साथ-साथ उन्होंने उर्दू के लफ्जों और मुहावरों को भी चुस्ती से इस्तेमाल किया है। इससे यह मिश्रित भाषा जानदार हो गई है और फलतः इसमें जोश और रवानी है। पंडित पद्मसिंह शर्मा ने भी उर्दू विशेषताओं से समन्वित हिन्दी-गद्य की श्रेष्ठ रचना की है। इस प्रवृत्ति की परिणति आगामी युग में प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों में हुई। बाबू बालमुकुन्द गुप्त के समकालीन पंडित गोविन्द नारायण मिश्र और पंडित माधव प्रसाद मिश्र जैसे संस्कृतज्ञ विद्वानों ने भिन्न प्रकार के गद्य-रूप की रचना की। अपने निबन्धों और ग्रन्थों में उन्होंने ऐसी भाषा लिखी जो अत्यन्त संस्कृत-गर्भित थी। पंडित गोविन्दनारायण मिश्र ने कादम्बरी की समासबहुल और जटिल शैली का अनुगमन किया। पंडित माधव प्रसाद मिश्र की शैली यद्यपि समास-प्रधान कम और आधुनिक अधिक है तथापि उसमें ऐसे शब्दों और व्यंजनाओं का एकान्त बहिष्कार है जिनमें उर्दू की रंगत हो। इस प्रकार की गद्य-शैली काशी में प्रतिष्ठित हुई। बाबू जयशंकर प्रसाद इससे प्रभावित हूए और कितने ही आधुनिक लेखक भी संस्कृत धातुओं के आश्रय से गढ़े हुए अप्रचलित शब्दों से ओत-प्रोत और अति संस्कृतगर्भित शैली के पक्षपाती हैं। इस युग के अन्य महत्वपूर्ण लेखकों में संस्कृत के धुरन्धर विद्वान् पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और परमभावुक सरदार पूर्णसिंह थे जो सरल और श्रेष्ठ गद्य लिखने में दक्ष थे। इन दोनों लेखकों की गद्य-रचनाएँ उन्हें श्रेष्ठ शैलीकार प्रमाणित करती हे।

(३)

इस युग में ऐसे भी कवि थे जो अपने ही बनाये रास्ते पर चलते रहे, जैसे पंडित श्रीधर पाठक और पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय।

पंडित श्रीधर पाठक (१८५९-१९२९)—

उन्होंने गोल्डस्थिम के 'दी ट्रैवेलर' का 'पथिक' और 'दी डेजर्टे विलेजड' का 'ऊजड़ ग्राम' नाम से हिन्दी पद्यान्तर किया परन्तु उनमें स्वतंत्र रचनात्मक शक्ति भी थी। 'एकान्तवासी योगी', 'काश्मीर सुषमा', 'वनाष्टक' उनके वास्तविक प्रकृति-प्रेम के सूचक हैं। लगभग २०० वर्षों के पूर्ववर्ती हिंदी काव्य में प्रकृति कुछ निश्चित उद्देश्यों का साधनमात्र रह गई थी —मुख्यतया प्रेम सम्बन्धी अव-

स्थाओं और भावनाओं को प्रतिबिम्बित और उद्बोधित करने के लिए। पंडित श्रीधर पाठक की कविताओं में प्रकृति को सर्वप्रथम आलम्बन का स्थान मिला और उसका एकान्त सौन्दर्य पहले पहल आनन्दकारक जान पड़ा। इन्होंने नये छन्दों का प्रयोग किया और पदों में नूतन अनुप्रास व्यवस्था का उपयोग किया। उनके पद्यों में संगीत और सांकेतिक शैली की स्वतंत्र विशेषता है।

पंडित अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (१८६५-१९४७)—

पहले सदर कानूनगो के पद पर सरकारी नौकरी में थे, पीछे उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापक के पद पर काम किया। वे दीर्घजीवी हुए तथा उनका रचना-काल द्विवेदी-युग और परवर्ती युगों तक विस्तृत रहा। आरम्भिक दिनों में उन्होंने उर्दू छन्दों में खड़ीबोली काव्य की रचना की परन्तु जब महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत छन्दों के व्यवहारार्थ मत प्रकट किया तब उन्होंने संस्कृत छन्दों में ही 'प्रियप्रवास' नामक प्रबन्ध-काव्य की रचना कर डाली। १९१४ में जब प्रियप्रवास प्रकाशित हुआ तब खड़ीबोली के प्रथम महाकाव्य के रूप में इसने सर्व-साधारण का ध्यान खींचा। इसमें कुछ स्वतंत्र विशेषताएं हैं। संस्कृतगर्भित पदावली का बाहूल्य इसके नाद-सौन्दर्य का कारण है और संस्कृत छन्दों का प्रयोग नवीन प्रभाव का विधायक है। इसका क्षीणतम कथा-सूत्र महाकाव्य के गहन गम्भीर भार को वहन करने में बिलकुल असमर्थ है फिर भी इस प्रबन्ध-काव्य की अपनी विशेषताएँ हैं। कृष्ण-चरित्र की चमत्कारपूर्ण अलौकिकता का लौकिकीकरण इसमें अत्यन्त आकर्षक बन पड़ा है। अनेक पात्रों की भावदशाओं का चित्रण सुन्दर और समीचीन है। खड़ीबोली की ढेरों शुष्क और साधारण तुकबन्दियों के बाद यह प्रबन्ध काव्य विस्मय और परिवर्तन के वांछित रूप में आया। इसके बाद हरिऔध ने 'चोखे चौपदे' और 'चुभते चौपदे' नामक ग्रन्थों की रचना मुहावरेदानी की बन्दिश दिखाने के लिये की। इनका अपना अलग महत्त्व है परन्तु काव्य की वास्तविक अनुभूति इनमें नहीं है। 'रस कलश' जिसका प्रकाशन बीसवीं शती के तीसरे दशक के अन्तिम दिनों में हुआ, काव्य-वैशिष्टय से अधिक युक्त है। इसमें रस के प्राचीन विषयों पर नई दृष्टि से विचार किया गया है। उपाध्याय जी गद्य लेखक भी थे। उनका 'ठेठ हिन्दी का ठाट' और 'अधखिला फूल' उन लोगों को राह दिखाता है जो बोलचाल की भाषा में लिखना चाहते हैं। सीधी-सादी और अलंकृत भाषा पर उनका अधिकार और उर्दू तथा संस्कृत छन्दों का बेजोड़ कौशल आश्चर्यकारक है। उनकी काव्य-प्रतिभा असाधारण थी और समकालीनजनों ने उनको महत् सम्मान देकर औचित्य का निर्वाह किया।

पंडित सत्यनारायण कविरत्न (१८७९-१९१८)—

द्विवदी-युग में ये ब्रजभाषा काव्य-परम्परा के असाधारण प्रतिभाशाली कवि थे जिनका असामयिक निधन हो गया। उनकी ब्रजभाषा प्रचलित ब्रजभाषा थी उसका वैशिष्टयशून्य, रूढ़िग्रस्त, साहित्यिक रूप नहीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने रीतिकाल की संकीर्ण कविता से प्रेरणा नहीं प्राप्त की बल्कि मध्यकाल के भजनानन्दी साधक कवियों और सम-सामयिक जीवन से प्रेरणा ग्रहण की। इस कारण उनकी कविता सजीवता और नवीनता से पूर्ण है। नन्ददास के भ्रमरगीत की शैली में रचित उनके 'भ्रमरदूत' पर नवीनता की छाप है। सामाजिक और राजनीतिक कल्याण के लिए किये जाने वाले सभी सामयिक प्रयत्नों में वे गहरी दिलचस्पी रखते थे। वे सीधे-सादे और मिलनसार व्यक्ति थे और उनकी कविता में सादगी और सूक्ष्म भावुकता का मनोहर मिश्रण है। 'हृदय-तरंग' उनकी कविताओं का संकलन है। उन्होंने संस्कृतनाटककार भवभूति के 'उत्तर रामचरित' और 'मालती माधव' नामक दो नाटकों सफलतम हिन्दी अनुवाद किया है।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' (१८७३-१९०)—

ब्रजभापा में रचना करने वाले ये दूसरे कवि थे। ये वड़े उत्साही साहित्यकार थे और इनके पास कानपुर के कवियों का एक ऐसा मंडल ही तैयार हो गया था जो रीतिकाल की ह्रासोन्मुखी शैली में रचना कर रहा था। पूर्ण' जी ने स्वयं भी इस चेष्टा में योगदान दिया और प्रचुर परिमाण में कवित्त और सवैये रच डाले। उनका मेघदूत का अनुवाद 'धाराधर धावन' चमत्कारपूर्ण है जो मौलिक भावों का निर्वाह करने में विष्टि रूप से सफल हुआ है। उनका प्रणीत 'चन्द्रकलाभानुगुमार नाटक' पाठ्य कोटि में उत्तम है परन्तु कुछ कारणों से अभिनेय नहीं है। यद्यपि पूर्णजी प्राचीन काव्य के प्रेमी और प्रणेता थे तथापि नवीन के विरुद्ध न थे। उन्होंने खड़ी बोली में भी कविताओं की रचना की। उनकी 'अमलतास' शीर्षक कविता प्रकृति-विषयक उनकी प्रवृत्ति का द्योतन करती है।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त (१८८६)—

इस युग के सर्वाधिक प्रतिनिधि कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त हैं जिनकी कविताओं का प्रकाशन सर्वप्रथम १९०६ में 'सरस्वती' में हुआ। उन्होंने पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी से प्रभाव ग्रहण किया और उन्हीं से खड़ी बोली का ठीक व्यवहार करना सीखा। जब तक द्विवेदी जी सम्पादक रहे गुप्त जी 'सरस्वती' में बराबर लिखते थे और इस महत्वशाली साहित्यिक पत्रिका से घनिष्ठ रूप से संबद्ध कवि-समूह का उन्हें नेता भी माना जा सकता है।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-प्रतिभा अत्यन्त गत्यात्मक है। अपनी विकासशील और नई विशेषताओं को प्रकट करने वाली शैली के स्वरूप गठन और पूर्णत्व के लिए उन्होंने कठिन परिश्रम किया है। जैसा हम पहले देख चुके हैं। आरंभिक रचनाओं में उनकी पदावली सामान्य कोटि की थी। बंगला काव्य के सम्पर्क से उनकी शैली उन दिनों विकसित हुई जिन दिनों वे बंगीय काव्यों के अनुवाद में व्यस्त थे और जिसकी अभिव्यक्ति का परिणत सौन्दर्य 'साकेत', 'यशोधरा', और झंकार' में प्रकट हुआ है। यह विकास अभिव्यंजना की नई पद्धति और प्रकार को अपनाने की कवि की लालसा द्वारा ही सम्भव हो सका है। वे आदर्शवादी हैं और उन्हें इस देश के गौरवमय अतीत पर वास्तविक गर्व है। वे पूर्णतया नीतिवादी विचार के हैं, वर्तमान जीवन की अव्यवस्था और क्षुद्रताओं को वे शंका और अरुचिपूर्वक देखते हैं; परन्तु रूप-विधान और कलात्मक संगठन के विषय में वे अनुदार नहीं हैं। 'झंकार' में संकलित कविताएँ और कुछ पश्चात्कालीन रचनाएँ अत्याधुनिक नये कवियों के पथ पर पद-संचार करने की उनकी आकांक्षा का द्योतन करती हैं। उन्होंने कितने ही आख्यान-काव्य लिखे हैं, जैसे 'रंग में भंग', 'भारतभारती', 'जयद्रथवध', 'हिन्दू', 'गुरुकुल', 'वैतालिक', 'पंचवटी 'द्वापर', 'साकेत' और 'यशोधरा'। उन्होंने गीतों की भी प्रचुर परिमाण में रचना की है। उनकी श्रेष्ठ कृति 'साकेत' सुन्दर गीतों से पूर्ण है और 'यशोधरा' में पात्रों की स्थिति और कथोपकथन नाटकीय पद्धति का अनुवर्तन करते हैं।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त में सूक्ष्म सामाजिक चेतना है। रहस्यवादी अथवा आध्यात्मिक कल्पना में आत्मविस्मरण करने का प्रयत्न वे कभी नहीं करते। उनका उद्देश्य है, वर्तमान सामाजिक जीवन को देवों और प्राचीन महापुरुषों के आदर्शानुसार आमूल बदल डालना। वे सुधारक और भक्त हैं। वे राम, बुद्ध, और सिख गुरुओं, सीता, उर्मिला, और यशोधरा के प्रभावों का आवाहन करते हैं कि वे हमें प्रकाश दें जिससे हम मार्गभ्रष्ट होकर अन्धकार में भटकते न फिरें। काल-प्रवाह के साथ उनकी काव्य-प्रेरणा अनवरत और एकरस रही है और ह्रास से परे, अपनी श्रेष्ठता का निरन्तर उद्घाटन करती रही है। अनुभूति शक्ति के साथ उनमें व्यंजना शक्ति भी हैं। मानव-प्रेम और प्रकृति-प्रेम से वे सम्पन्न हैं अतएव वे महाकवि की प्रतिष्ठा के पात्र हैं।

सरस्वती मंडल के दो अन्य कवि हैं, पंडित बदरीनाथ भट्ट और पंडित मन्नन द्विवेदी। भट्ट जी जो लखनऊ विश्वविद्यालय में हिन्दी के अध्यापक नियुक्त हुए, अच्छे विद्वान्, सफल कवि, और सम्भवतः इस युग में सर्वोत्तम नाटकीय प्रतिभा से युक्त थे। पं० मन्नन द्विवेदी, जिनका गद्य के प्रसंग में पहले वर्णन आ चुका है, सरस्वती और अन्य मासिकों में बराबर कविताएँ प्रकाशित

कराते रहते थे। उन्होंने 'प्रेम' नामक एक आख्यान काव्य लिखा और 'विनोद' नामक एक बालोपयोगी काव्य पुस्तक रची जो बहुत लोकप्रिय हुई।

पंडित गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' देशभक्तिपूर्ण कविताएँ लिखने में प्रसिद्ध हैं और उर्दू से प्रभावित इनकी पदावली प्रवाहयुक्त और व्यवस्थित है। पंडित रूपनारायण पाण्डेय जो अनुवादक के रूप में अधिक प्रसिद्ध हुए, एक सफल कवि भी रहे। लाला भगवान दीन बहुत बड़े विद्वान् और साहित्य के अत्यन्त सफल अध्यापक थे। इन्होंने उर्दू बहरों में वीरपंचरत्न नामक काव्य ग्रन्थ की रचना की जो प्राचीन बलिदानियों और वीरों का कीर्तिगान है।

सत्रहवाँ प्रकरण

हिन्दी साहित्य १९२०-१९३५
छायावाद-युग

पन्द्रह वर्षों की यह अवधि, जिसका पर्यालोचन हमें इस अध्याय में करना है, साहित्य के सभी विभागों में विस्मयकारक प्रगति से पूर्ण है। इस अवधि में, पूर्ववर्ती युग की सारी कमियों की पूर्ति तेज़ी से की गई और आश्चर्यजनक रूप से प्रौढ़तम प्रतिमानों को उपलब्ध किया गया। १९२० इस कारण विशेषतया उल्लेखनीय है कि इसके लगभग या इसी समय अप्रत्याशित रूप से गद्य और पद्य की श्रेष्ठतम रचनाएँ प्रकाशित हुई। इस असाधारण उन्नति के कारणों का पता लगाने का हम प्रयत्न करेंगे, परन्तु समाधान जो कुछ भी प्रस्तुत किया जाय, आनन्दपूर्ण विस्मय का भाव ज्यों का त्यों रह जाता है। उर्दू लेखक के रूप में प्रसिद्ध प्रेमचन्द ने १९२० के लगभग ही हिन्दी में उपन्यास और कहानियों का लिखना आरम्भ किया तथा अन्य उदीयमान प्रतिभाशाली लेखकों ने भी उच्चकोटि की कहानियाँ और निबन्ध लिखे। इसी समय प्रसाद, निराला, पन्त की कविताएँ प्रकाश में आईं जो वैशिष्ट्य और प्रकार दोनों में बेजोड़ थीं। इन्होंने आधुनिक हिन्दी गीत-साहित्य में सुवर्ण युग का प्रतिष्ठापन किया। इस समय प्राचीन तथा नवीन साहित्य के समर्थकों में अनेक शास्त्रार्थ भी हुए और फलतः नवीन एवं महत्वपूर्ण सिद्धान्तों की घोषणा की गई। १९२० से १९३५ तक का समय न केवल रचनात्मक साहित्य के लिए अपितु आलोचनात्मक साहित्य के लिए भी फल-दायक था।

हम यह देख चुके हैं कि पूर्ववर्ती युग में खड़ी बोली को समृद्ध और परिष्कृत करने के व्यवस्थित प्रयत्न किस प्रकार हो चुके थे। द्विवेदी युग के अन्तिम दिनों तक हिन्दी को एक निश्चित आकार और व्यवस्थित रूप प्राप्त हो चुका था। अब यह, भावों को सुस्पष्टता से व्यक्त कर सकती थी और दोषमुक्त तथा सन्तुलित गद्य-रचना के निमित्त समर्थ हो गई थी। अब गद्य और पद्य में, व्याकरणगत और ग्राम्य दोषों को बचाकर विचारों और भावों की व्यंजना की जा

सकती थी। यह सत्य है कि इस भाषा में इतने पर भी श्रेष्ठतर अभिव्यक्तियों का प्रयोग नहीं हूआ था। इसमें पर्याप्त सौन्दर्य और आकर्षण न था तथा सूक्ष्म भाव और विचार व्यक्त न किये गये थे। भाषा में इन विशेषताओं का समावेश नई पीढ़ी के कवियों और लेखकों ने किया जिन्होंने इसको सौन्दर्य और शक्ति में परिवर्तित कर दिया । यह परिवर्तन, मूलतः काव्यगत मान्यताओं में अन्तर आ जाने से घटित हुआ। १९२० के युग के आशा और भय, विचार और संकल्प पूर्ववर्ती युग से सूक्ष्म और जटिल थे और भाषा क्योंकि विचारों का परिधेय है अतएव विचारों का परिवर्तन उस भाषा के स्वरूपगठन में प्रतिफलित हुआ जो व्यञ्जना के लिए प्रयुक्त थी। इसके अतिरिक्त अन्य प्रभाव भी समान महत्त्व के थे। उच्च शिक्षा के प्रसार से हिन्दी-लेखक देश-विदेश में लिखत गद्य के श्रेष्ठ रूपों से परिचित हो रहे थे। उदाहरणार्थ हिन्दी-गद्यकारों के सामने बीसवीं सदी के सहज और व्यंजक अँगरेजी गद्य का आदर्श था और उस उर्दू गद्य का जो मुहावरेदानी और रवानी के लिए मशहूर था; उन्होंने इनकी और इस प्रकार की इतर सुलभ रचनाओं की श्रेष्ठतम विशेषताओं को ग्रहण करने का उद्योग किया। काव्याभिव्यक्ति भी, विविध नये प्रभावों के कारण नये रूप में गठित हुई। भारतीय विश्व-विद्यालयों में रोमांटिक रिवाइवल के अंग्रेजी कवियों पर अपेक्षाकृत, विशेष बल दिया गया और शेली तथा कीट्स की कवित्वमय पदयोजना ने नये कवियों को अधिक प्रभावित किया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर को नोबेल पुरस्कार १९१३ में मिला और इसी समय के बाद इनकी कविताओं का विस्तृत अध्ययन हुआ और उसका आदर्श के रूप में व्यवहार हुआ। रवीन्द्रनाथ ठाकुर और मलार्मे, वर्लेन और येट्स जैसे यूरोपीय प्रतीकवादियों की कविताओं में अत्यधिक घनिष्ठता है। रवि बाबू की कविताओं के साथ ही येट्स और अन्य आयरिश पुनर्जागरण के कवियों के लिये रुचि जागी। यूरोपीय प्रतीकवादियों को लक्ष्य के स्वरूप निर्द्धारण की प्रेरणा देने वाली पो और ह्विटमैन की रचनाओं का भी अध्ययन और आस्वादन किया गया। इन विदेशी प्रभावों ने प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव स्थापित किया और हमारे नये कवियों में विचार और भाव के सौन्दर्य और उनकी व्यंजना के लिए प्रतीकों के प्रयोग की प्रवृत्ति उत्पन्न की। इस प्रकार हिन्दी काव्य-भाषा ने एक बिलकुल नई विशेषता अर्जित कर ली।

जैसा हम कह चुके हैं, अभिव्यंजना-पद्धति की इस नवीनता का मूल उद्‌गम विचार और दृष्टिकोण के मौलिक परिवर्तन में सन्निहित था। प्रथम विश्व-महायुद्ध (१९१४-१८) ने उद्‌बोधन और भ्रमोच्छेद का कार्य किया। १८५७ के वीरोचित आह्वान से युक्त स्वातंत्र्य-संग्राम के विफल हो जाने पर ब्रिटिश अधीनता अनिवार्य अनिष्ट के रूप में सर्वस्वीकृत हो चुकी थी। प्रथम महायुद्ध में ब्रिटिश शक्ति पर

जो सुगंभीर प्रहार हुए उन्होंने इस देश की परतंत्र जनता के मन में इस विश्वास को दृढ़ किया कि उसके शासक अजेय नहीं हैं। भारतीय सैनिकों ने विभिन्न युद्ध-स्थलों में अपने शौर्य का प्रदर्शन किया और इस प्रकार इस देश की जनता के मन में उन्होंने आत्मविश्वास के भाव को जन्म दिया। युद्ध समाप्त होने पर उसके भीषण अनुभवों की प्रतिक्रिया शान्तिवादियों द्वारा प्रकट हुई। राष्ट्रसंघ (The League of Nations) की स्थापना हुई और साथ ही प्रबुद्ध कवियों ने विभिन्न देशों में शान्ति की अभ्यर्थना में गान गाये। विश्व-विचार की इस प्रवृत्ति को भारतीय हृदय की सहानुभूति उपलब्ध हुई क्योंकि इसका प्रतिरूप उपनिषत्साहित्य में पहले से था और इसका बीजरूप भारतीय जीवन की गहराई में वर्तमान था। इसी महत्त्वपूर्ण समय में महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा के सिद्धांत का प्रवर्तन किया जिसने इस देश के लाखों आदमियों के हृदयों को आकृष्ट किया। उनके असहयोग-आन्दोलन में राजनैतिक और आध्यात्मिक पुनरुज्जीवन का युगपत लक्ष्य था और इसने जनता में नई आशा और उत्साह पैदा कर दिया। ऐसे सबल प्रभाव, जो इस देश में तो वर्तमान थे ही साथ ही हमें समकालिक विश्व के वैचारिक आन्दोलन से भी संलग्न कर रहे थे, साहित्यगत विचार और रचनात्मिका प्रवृत्ति पर सुगंभीर रूप से अप्रत्यक्ष प्रभाव डालने वाले थे। भारतीय विचार इस समय के आसपास बलपूर्वक आन्दोलित हुआ और जब इसमें समत्व की स्थिति आई, इसने साहित्य के क्षेत्र में अभिनव और अतिशय आकर्षक रूपों का उद्घाटन किया। स्वातंत्र्य आन्दोलन, जो १९४७ में स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद समाप्त हुआ, १९२० के आरम्भिक दिनों में भी अदम्य रहा और इसने सौन्दर्यानुभूति, रचनात्मक कर्मण्यता, और पुनर्जागरण का पोषण किया।

सामाजिक क्षेत्र के कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों का भी उल्लेख आवश्यक है। अंगरेजी शिक्षा जड़ जमा चुकी थी और पाश्चात्य जीवन के आदर्श भारतीय हृदयों को आकृष्ट कर रहे थे। प्राचीन रूढ़ियाँ और प्रथाएँ अब अत्यन्त तिरस्कृत थीं। आर्यसमाज और महात्मा गांधी के प्रभाव से प्रत्येक शिक्षित और सभ्य जन ने अस्पृश्यता को मानवता के विरुद्ध पाप के रूप में समझा। विधवा विवाह अब स्वीकार्य हो चला था और जाति प्रथा के कड़े नियम और रूढ़ियों में शैथिल्य आ चला था। लेकिन जहाँ एक ओर पुरानी अन्धश्रद्धा का तिरस्कार किया जाता था वहाँ दूसरी ओर प्राचीन संकृति और दर्शन के प्रति जनता में स्वाभाविक अनुराग का उदय हो चुका था। प्राचीन इतिहास और कला ने विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया जिन्होंने पाश्चात्य विद्वानों की तीव्र उपेक्षा और अनुदारता-पूर्ण स्थापनाओं का समुचित उत्तर दिया और इनका पुनर्मूल्यांकन किया। वेदान्त और गीता दर्शन ने, जिसकी विवेकानन्द, रामतीर्थ, तिलक, और गांधी ने नई

व्याख्या प्रस्तुत की, असंख्य हृदयों में विश्वास का पुनरारोपण किया। अतीत और इन आदर्शों के प्रति प्रेम के लक्षण प्रसाद, निराला, पन्त, और महादेवी जैसे कवियों की रचनाओं में सुस्पष्ट हैं। इसी प्रकार कालानुसार गाँवों की नई प्रवृत्ति और गरीब खेतिहरों की गाथा प्रेमचन्द की रचनाओं के हर पन्ने पिर व्यौरेवार लिखी है। प्रेमचन्द ने उस समय हमारा ध्यान गाँवों की ओर खींचा जब शहरों का विकास तेजी से हो रहा था और ग्राम्य-जीवन अपना महत्त्व खोकर कायापलट और पतन के बीच से गुज़र रहा था। पाश्चात्य जीवन के आदर्शों के योग और ग्रहण से युक्त शहरी जीवन के अभ्युदय ने व्यक्तिवाद का परिपोषण किया जिसका आत्मीय और वैयक्तिक तत्त्वों को समुत्तजन देने वाला प्रभाव सम-सामयिक साहित्य की विशेषताओं पर पड़ा।

(२)

छायावाद और उसके प्रवर्त्तक कवियों की कृतियों की विशेषताओं का विचार करने से पूर्व, उन कवियों के विषय में विचार कर लेना आवश्यक है जिन्होंने पूर्ववर्ती युग के रचना-सम्भार में विशेष योगदान किया परन्तु जिनका जीवन और रचना-क्रम १९२० के बाद भी गतिशील रहा। पूर्वयुग के इन साहित्यकारों के कुछ ऐसे प्रशंसक और अनुगामी थे जिन्होंने कवि-रूप में पर्याप्त ख्याति अर्जित की। इनमें से कुछ का उल्लेख आवश्यक है।

व्रजभाषा कविता ने, जो मुख्यतः द्विवेदी-युग में प्रतिष्ठा खो चुकी थी, इन पन्द्रह वर्षों में कुछ प्रतिभाशाली अनुरागियों को प्राप्त किया। इनमें सर्व-प्रमुख थे बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर, जिनका देहावसान १९३२ में हुआ। घनाक्षरी और व्रजभाषा के अन्य परम्परा पोषित छन्दों के रचयिता के रूप में उन्होंने बहुत पहले से ख्याति प्राप्त कर ली थी परन्तु उनकी प्रतिभा का चरम विकास १९२० के बाद प्रणीत 'गंगावतरण' और 'उद्धवशतक' नामक उनकी दो महत्वपूर्ण रचनाओं में हुआ। 'उद्धव-शतक' घनाक्षरी छन्द विषयक उनकी प्रौढ़ि का प्रकृष्ट प्रत्ययिक है और हमें पद्माकर की याद दिलाता है। इसका विषय सुज्ञात है, जिसमें विरह-विधुरा गोपियों ने अपने प्रश्नों और व्यंग्योक्तियों से उद्धव को निरुत्तर कर दिया था। इसकी रचना अत्यन्त भावमयी और निपुणता से पूर्ण है। संस्कृत-गर्भित साहित्यिक व्रजभापा, जिसयें काशी के स्थानीय पदों और मुहावरों का भी समावेश है, कवि ने असाधारण अधिकार से व्यवहृत की है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल कृत 'दी लाइट ऑफ एशिया' का अनुवाद बुद्धचरित भी व्रज की वोली से भिन्न साहित्य की सामान्य व्रजभाषा में है जिसमें परिष्कृत पद-योजना और संस्कृत शब्दों के अविकृत रूपों के प्रयोग से भाषा शिष्ट और उत्कृष्ट हो जाती

है। वियोगी हरि की 'वीर सतसई' जब प्रकाशित हुई तब बहुत प्रशंसित हुई थी, इसमें कुछ स्वतंत्र विशेषताएं हैं।

मैथिलीशरण गुप्त, जिन्होंने पुर्ववर्ती युग की कविता में महत्त्वपूर्ण योगदान किया था, इस युग में भी रचनाशील रहे। अपनी समृद्ध प्रतिभा को देश-काल के अनुसार कर लेने में वे समर्थ सिद्ध हुए, अतएव उनकी काव्यकृतियों ने सर्वथा नवीन विशेषताओं को प्रकट किया। उनकी महान् कृतियाँ 'साकेत' और 'यशोधरा' छायावाद युग में लिखित अन्य और रचनाओं के समान ही गीतोचित विशेषताओं से पूर्ण हैं और बिलकुल नवीन पदावली और शैली उपस्थित करती हैं। 'साकेत' में रामायण की ही कथा है जो ऐसे नये दृष्टिकोण से उपन्यस्त की गई है कि सीता की जगह ऊर्मिला नायिका हो जाती है। स्मृति संचारी के योग से नाना अवस्थाओं में नायिका की विरह-व्यथा और उसका विविध प्रकार का अनल्प विवरण इस ग्रन्थ का मुख्य आकर्षण है। 'यशोधरा' बुद्ध के जीवन पर घटनाओं और पात्रों के अनुयोग से प्रस्तुत एक अर्द्धनाटकीय रचना है। 'झंकार' १९२० के बाद की नई पद्धति और शैली में रचित गीतों का संग्रह है। इस युग में पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने चौपदों (चुभते चौपदे, चोखे चौपदे) की रचना की। इनका विविध प्रकार से स्वागत हुआ। इनसे कवि की मुहावरेदानी का सबूत मिलता है और उसका प्रयोग-कौशल भी व्यक्त होता है परन्तु सहज प्रेरणा के अभाव में इनका स्तर निम्न है। 'रसकलस' में संकलित कविताओं में अधिक कवित्त्व है। इसमें रस के पुरातन विषय को नई दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। ठाकुर गोपालशरण सिंह पूर्ववर्ती युग के दूसरे कवि हैं जो इस युग में भी कार्यरत रहे। इनकी खड़ी बोली की कविताओं में स्वरमाधुर्य और व्यंजना की अप्रतिम विशुद्धि है। इनमें भाषा का विकास और विचारों का परिष्कार पाया जाता है। काल की प्रगति के साथ उनकी कविता में अधिक प्रौढ़ि और गरिमा आई। अनूप शर्मा छायावाद युग से ही सम्बद्ध हैं पर इनकी चर्चा पूर्वयुगीन कवियों के साथ इस कारण उचित है कि इनमें नवीन प्रवृत्तियों का स्वीकरण नहीं है। उनकी कविताएँ, विशेषतया वीर-रस की, ओज से पूर्ण हैं।

परन्तु इस युग की काव्य रचना का प्रमुख अंश विकासशील छायावाद से सम्बद्ध कवियों की लेखनी से उद्भूत था। हिन्दी-कविता में यह नया आन्दोलन पूर्वयुगीन कविता के विरोध में आया, जोअतिशयशुष्क, इतिवृत्तात्मक, अतः प्रभाव-शून्य थी। इनका वस्तुविषय परम्परायुक्त और छन्दोरचना नग्न और नीरस थी। छायावाद ने इसको बदल देने का उपक्रम किया और कविता को कविता बनाने का उद्योग किया। हम निर्देश कर चुके हैं, किस प्रकार राजनैतिक और सामाजिक अवस्थाएँ इस परिवर्तन के अनुकूल थीं और किस प्रकार रवीन्द्र नाथ ठाकुर तथा

यूरोपीय प्रतीकवादियों ने इसे आदर्श प्रदान किया। इस अभिनव काव्याभिव्यक्ति को विद्यापति, कबीर, और सूरदास की प्राचीन हिन्दी कविता ने भी स्फूर्ति और प्रेरणा दी।

यथार्थतया छायावाद महान् स्वच्छन्दतावादी और प्रतीकवादी आन्दोलन कहा जा सकता है। जहाँ पूर्ववर्ती कवि बाह्य तथ्यों और विषयगत वास्तविकता तक ही व्यस्त रहते थे, वहाँ अब प्रायः आभ्यन्तर विचारों और अनुभूतियों पर ही बल दिया जाने लगा। अतिशय आत्मनिष्ठता और सघन वैयक्तिकता समस्त प्रतीकवादी कविता के समान ही छायावाद के भी विशिष्ट लक्षण हैं। विचारों और भावों की गम्भीरतम अनुभूतियाँ केवल शब्दों के सहारे यथोचित व्यक्त नहीं की जा सकतीं; इसी कारण प्रतीकों का व्यवहार होता है। पुराने प्रतीकों को फिर चालू किया जाता है और उनमें नई शक्ति भरी जाती है और आत्मअभिव्यंजना के अनुरूप सुसंगत नये प्रतीकों की सृष्टि की जाती है। स्मरण रहे कि प्रतीक रूढ़िग्रस्त रूपकों की अपेक्षा कुछ अधिक टिकाऊ और मूल्यवान होते हैं। वे अनन्त संकेत देने में समर्थ हैं और बँधे-बँधाये अलंकार की अपेक्षा अधिक तीव्रता से भावगम्य हो सकते हैं। प्रत्येक अवस्था में प्रतीक से प्रतीकायित भावनाओं की ओर प्रत्यावर्तन सम्भव नहीं है। हम निर्देशों और संकेतों द्वारा किसी वस्तु की ओर उन्मुख कराये जाते हैं। छायावादी कविता की विस्मयकारी नवीनता और सामान्य पाठक की उसके समझने की कठिनाई उन अपरिचित प्रतीकों के बहुल प्रयोग से उत्पन्न होती हैं जो प्रायः निरतिशय वैयक्तिक और पाठक के लिए अपरिचित विचारों और भावों का निर्देशन करने के लिए प्रयुक्त होते हैं। छायावाद को बहुधा रहस्यवादी काव्य की संज्ञा दी गई है। तथ्य यह है कि सभी प्रतीकवादी कविताओं में न्यूनाधिक रहस्यात्मक वैशिष्ट्य रहता है। ब्लेक, ठाकुर, येट्स, कबीर ये सभी प्रतीकवादी थे और क्योंकि ये सभी ऐसे 'कुछ' का संकेत करते हैं जो हमारी दैनिक चेतना का अंशभागी नहीं है। फलतः उनकी कविता अपरिहार्य रूप से अस्पष्ट और रहस्यात्मक बन जाती है। शेली जैसे रोमांटिक कवियों ने भी 'हमारे दुःख क्षेत्र से दूरस्थ कुछ' की बहुधा चर्चा की है। बहुत कुछ उसी प्रकार, पन्त और प्रसाद भी अज्ञात की पुकार अथवा मौन-निमन्त्रण का वर्णन करते हैं जिसका प्रत्यक्षीकरण वे विभिन्न रूपों में करते हैं। सान्त की अनन्त को प्राप्त करने की उत्कंठा का यह संकेत अथवा अनन्त के प्रति सान्त का आकर्षण सभी छायावादी महाकवियों की रचनाओं में वर्तमान है जिसे रहस्यवाद कहा जाता है। छायावादी कविता की अस्पष्टता का कुछ अंश जिसके कारण इसकी कठोर आलोचना हुई, इस रहस्यवादी प्रभाव के कारण है। इस नवीन आन्दोलन के कवि दृढ़प्रकृति के नवविधायक थे। उन्होंने नई पदावली

की रचना की, नये मूर्तिविधान ग्रहण किये और नये छन्दों को आविर्भूत किया। मुक्त वृत्तों की रचना में निराला ने अत्यन्त सफल प्रयोग किये, पन्त ने व्याकरण की लोहे की कड़ियों को अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए यत्र-तत्र तोड़ दिया। इस नवीन विधान के कारण रूढ़िवादी आलोचकों और विचारकों ने इन कवियों की अत्यन्त कठोर आलोचनाएँ कीं, परन्तु इन कवियों का कृतित्व इतना मौलिक और सौन्दर्यपूर्ण था कि युग ने इनका अभिनन्दन और स्वागत किया। यह सौभाग्य की बात थी कि यह नई काव्य-धारा उच्चकोटि के प्रतिभाशाली कवियों के एक वर्ग द्वारा प्रवर्तित हुई, इसकी महती सफलता का यह भी महत्त्वपूर्ण कारण है। लगभग पन्द्रह वर्षों तक इसका अप्रतिम प्रवाह गतिशील रहा और यद्यपि इस काव्यधारा के कितने ही महाकवि आज भी वर्तमान हैं तथापि उनकी इधर की नई रचनाएँ पुरानी रचनाओं से भिन्न नई शैली और विशेषता को ग्रहण कर चुकी हैं।

छायावादी कविता के दो मुख्य विषय हैं : प्रकृति और प्रेम। प्रकृति, प्रायः वैयक्तिक भावों के उद्दीपन के निमित्त ग्रहीत है, इसका सामान्य वर्णन कहीं नहीं है। इसकी प्रायः सजीव सत्ता के रूप में कल्पना की गई है जिसमें जीवन का स्पन्दन है और जो हमारी परिवर्तित अवस्थाओं और विचारों को प्रतिबिम्बित करने में समर्थ है। प्रेम का भी, इसी प्रकार, नये ढंग से प्रतिपादन हुआ है। यह सामान्यतया रहस्यात्मक अनुषंगों से पूर्ण है, परन्तु साथ ही साथ वैयक्तिक आकर्षण पर भी आवृत है।

बाबू जयशंकर प्रसाद : इनका जन्म १८८९ में काशी के प्रसिद्ध व्यापारी सुंघनी साहु घराने में हुआ था और मृत्यु १९३७ में क्षय रोग से हुई। उनकी शिक्षा अधिकतर घर पर ही हुई थी परन्तु स्वाध्यायपरायण होने से उन्होंने संस्कृत के समुन्नत साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया। साथ ही उन्होंने बंगला और फारसी साहित्य का भी ज्ञान अर्जित किया। उनका काव्यकाल तब से प्रारम्भ होता है जब वे पन्द्रह वर्ष के बालक थे। 'चित्राधार' ब्रजभाषा में लिखित उनकी आरम्भिक रचनाओं का संग्रह है। इसके बाद उन्होंने खड़ी बोली में काव्य-रचना प्रारम्भ की जो उन सम-सामयिक कवियों की शैली के अनुसार थी जिनका सम्बन्ध १९२० के पूर्ववर्ती युग से था। 'कानन-कुसुम', 'महाराणा का महत्त्व', 'करुणालय', और 'प्रेम पथिक' में इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। १९१८ में उनकी रचनाओं का एक छोटा संग्रह 'झरना' नाम से प्रकाशित हुआ। इन कविताओं में कोई नवीनता न थी। इसी पुस्तक का १९२७ में द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित हुआ। जिन कविताओं को इस बार स्थान दिया गया था वे बिलकुल नई शैली की थीं और प्रथम और द्वितीय संस्करणों के बीच हिन्दी कविता ने वैशिष्टय और प्रकार सम्बन्धी जिन आभरणों को धारण कर लिया था उनका इन रचनाओं में सुस्पष्ट आभास

था। १९२० के बाद प्रसाद जी छायावादी कवियों में अग्रगण्य हो गये और उनकी उत्तरकाल की रचनाओं में शैली और रूप विधान दोनों का परिवर्तन दिखाई दिया। 'आँसू' इस नई शैली का उनका पहला काव्य था जिसने सहृदयों का ध्यान आकृष्ट किया। यत्र-तत्र रहस्य-संकेतों से कलित मूर्त्तविधान-पद्धति से विरह-व्यथा का चित्रण करने वाली यह एक लम्बी कविता (प्रगीत रचना) है। 'लहर', जो इसके बाद प्रकाशित हुई, फुटकर कविताओं का संकलन है। इसका वस्तु विषय 'प्रकृति', 'सौन्दर्य', और 'प्रेम' है परन्तु प्रतिपादन-पद्धति नई है। यह अतिशय आत्माभिव्यंजक (व्यक्तिनिष्ठ) है और इसमें उस अदृश्य शक्ति का भी संकेत है जो दूर से भी आकर्षण का प्रयोग करती रहती है। छन्दोविधान, अनुप्रास योजना, काव्यगत पदावली सभी नवीन हैं। प्रसाद की अन्तिम और सर्वोत्तम रचना 'कामायनी', महाकाव्य है। एक ओर यह मानवता का प्रारम्भिक इतिहास उपस्थित करती है, जिसमें आदि मानव 'मनु' उनकी सहचरी 'श्रद्धा' और 'इड़ा' और मानव जाति की अभिवृद्धि की कथा है; दूसरी ओर यह एक रूपक है जिसमें मनु (मन) इड़ा (बुद्धि) तर्क और बौद्धिकता के लिए श्रद्धा की अवगणना करता है और अन्ततोगत्वा अपनी भूल को पहचानकर पश्चात्ताप प्रकट करता है। काव्य के अन्तिम अंश में कवि ने स्थापना की है कि श्रद्धा के ही सहयोग से 'ज्ञान', 'इच्छा' और 'क्रिया' नामक तीन जीवन-सत्यों में समरसता और एकान्विति का विधान किया जा सकता है। यदि हम इसे रूपक मानकर चलें तो भी इसमें रूपकों में सामान्यतया मिलने वाली रुक्षता और नीरसता नहीं मिलती क्योंकि यह आदि से अन्त तक श्रेष्ठ काव्य से परिपूर्ण है। कवि ने सुमधुर संस्कृत-पदावली का व्यवहार किया है और समस्त काव्य, स्वर संगीत से परिप्लुत है। मधुर संगीत और वर्ण सौन्दर्य पूर्ण मूर्त्तविधान इस प्रबन्ध काव्य को किंचित् अलंकृत बना देते हैं पर नैतिक लक्ष्य का अन्तःस्वर और औचित्य, जिसके निर्वाह का कवि ने बराबर ध्यान रखा है, इसे अशिष्टता और अश्लीलता के तल तक नहीं उतरने देते। यद्यपि नाद और वर्ण की समृद्धि ही कामायनी का प्रमुख आकर्षण है तथापि सहृदय पाठक इसके उन उच्चतर आध्यात्मिक और रहस्यात्मक संकेतों से आकृष्ट और प्रभावित होते हैं जो ग्रन्थ के प्रत्येक सर्ग में अविरल और निरन्तर मिलते जाते हैं। कथावस्तु की आधारभूमि वैदिक साहित्य है परन्तु काव्य के आंगिक संगठन और अन्विति-विधान के लिए कवि ने कल्पना के संयोजक और वियोजक तत्त्वों से यथेष्ट काम लिया है। जयशंकर प्रसाद में अतीत के प्रति अनुराग था। उनका वेद और वेदोत्तर-काल तथा बौद्धकालिक जीवन और संस्कृति का ज्ञान आश्चर्यजनक रूप से गम्भीर था। उनकी कल्पना अतीत के उन स्थलों में विहार करती

थी जो आधुनिक जीवन की गन्दगी और दरिद्रता से सर्वथा भिन्न चित्र उपस्थित करते हैं। कवि उन पुरातन दृश्यों को पसन्द करता था क्योंकि वे हमारे इतिहास के सुवर्ण युग को मूर्तिमान करते हैं। प्राचीन संस्कृति के अनुराग, प्राचीन गौरव के प्रति आस्था प्रसाद जी की काव्य-रचना का मूलाधार है। इस गौरवपूर्ण अतीत का संमूर्तन करने के लिए उन्होंने अपनी अद्वितीय काव्य-प्रतिभा का उपयोग किया। उनकी सूक्ष्मेक्षिका कल्पना सुदूर अतीत के दृश्यों को पुनरुज्जीवित कर सकती थी और नई तथा मेल खानेवाली तुलनाएँ निर्दिष्ट कर सकती थी। वस्तुतः महान् कवियों में भी कुछ ही, प्रसाद के समान, जितने परिमाणप्रचुर उतने ही विविधता-पूर्ण प्रतीक और मूर्त विधान, उपस्थित कर सके हैं, और इन मूर्त-विधानों में वासी और परम्परायुक्त तो बहुत ही कम हैं। काव्य की बाह्य रूप से व्यक्त होता है कि कवि आनन्दवादी है। ऐन्द्रिय-बोध के प्रत्येक विषय समृद्ध और अत्यधिक मोहक हैं। लेकिन उनकी कविता का अन्तःस्वर उन्हें तुलसी और कबीर जैसे आध्यात्मिक कवियों की पंक्ति में ला बैठाता है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण का व्यवस्थित विकास लक्षणीय है। आरम्भिक रचनाओं में उनकी धारणा नरानुगामिनी है परन्तु कालान्तर में उनका रहस्यवादी दृष्टिकोण अद्वैत दर्शन का सूचक हो जाता है। छन्दों पर प्रसाद का असाधारण अधिकार है। उनका छन्द-कौशल प्राचीन नियमों का बन्दी नहीं है और न उनकी कविताएँ ही प्राचीन साँचे में ढली हैं। उनके गीतों में गाम्भीर्य, प्रवाह और स्वर सौन्दर्य विशिष्ट है और उनका महाकाव्य कामायनी सूक्ष्म कथा-वस्तु के कौशलपूर्ण संगठन, चरित्र-चित्रण, और अभिनव कथा-रस के लिए समान भाव से महत्त्वपूर्ण है। इसका नैतिक और मनोवैज्ञानिक अध्याहार विशेष सौन्दर्य की सृष्टि करता है। जयशंकर प्रसाद महाकवि थे, उनकी कविताओं का जितना ही गहन अध्ययन किया जायगा उतना ही यह तथ्य अनुभव-गम्य होगा।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'--

पंडित सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का जन्म बंगाल के महिषादल नामक स्थान में १८९८ में हुआ। उनका बचपन और कैशोर बंगाल में ही बीता और वहीं उन्होंने अँगरेजी और संस्कृत के साथ ही बँगला साहित्य का भी पर्याप्त ज्ञान अर्जित कर लिया। पूर्वतः अद्वैत दर्शन के परिचय और बँगला साहित्य के गम्भीर ज्ञान ने उनकी काव्यगत विशेषताओं पर गहरा प्रभाव डाला। प्रारम्भ से ही विचारों और शैली की अत्यधिक नूतनता के कारण उनकी कविताओं की उपेक्षा भी की गई और खुला विरोध भी किया गया। कलकत्ते से प्रकाशित होनेवाले लोकप्रिय और अल्पजीवी साप्ताहिक 'मतवाला' के सम्पर्क में आ जाने के बाद उनको अधिक

प्रसिद्धि मिली। 'अनामिका' उनकी कविताओं का पहला संग्रह था जिसने आलोचना-जगत् में विक्षोभ पैदा किया और पुरानी लकीर के फकीर, कवि पर बेतरह झल्लाये। 'परिमल' उनकी कविताओं का दूसरा और बड़ा संकलन था जिसमें पूर्व प्रकाशित 'अनामिका' की भी सारी कविताएँ दे दी गईं। इसके बाद 'अनामिका' नाम से कवि ने नई और पुरानी मौलिक और अनूदित सभी प्रकार की कविताओं का एक वृहत् संग्रह फिर प्रकाशित कराया। 'गीतिका' में सुन्दर गेय गीतों का संकलन है। 'तुलसीदास' तुलसीदास के जीवन की प्राप्त सामग्री के आधार पर उनके मनोवैज्ञानिक क्रम-विकास को लिपिबद्ध करने वाली लम्बी कविता है। 'कुकुरमुत्ता' और अन्य रचनाएँ छायावाद के ह्रासकाल में प्रणीत हैं। निराला ने अपनी रूढ़िमुक्त काव्य-प्रतिभा और प्रौढ़ पाण्डित्य से छायावादी आन्दोलन में शक्ति और स्फूर्ति का संचार किया। उन्होंने प्राचीन रूढ़ियों और मान्यताओं को मुक्त कंठ से चुनौती दी और परिवर्तन की घोषणा की। ऐसी स्थिति में वे स्वभावतया विरोधियों की आलोचना और व्यंग-विद्रूप के लक्ष्य बने, पर इसकी उन्होंने पूर्ण अवज्ञा की। 'प्रगल्भ प्रेम' शीर्षक कविता में उन्होंने अपनी काव्य-प्रिया से 'बन्धनमय छन्दों की छोटी राह' छोड़कर आने की प्रार्थना की है। वे कहते हैं :

> गजगामिनी, वह पथ तेरा संकीर्ण कंटकाकीर्ण कैसे होगी उससे पार
> काँटों में अंचल के तेरे तार निकल आयेंगे और उलझ जायगा हार

वस्तुतः, मुक्ति के इस उद्योग में निराला पूर्णतया सफल हुए। हिन्दी में मुक्त छन्द का उन्होंने प्रारम्भ किया जिसमें केवल लय का अनुसरण है; अन्त्यानुप्रास कहीं दिये, कहीं नहीं दिये। छन्द-शास्त्र में स्वीकृत नियमों से इनकी रचनाओं में अधिक स्वच्छन्दता थी। जैसे प्रसाद वैसे ही निराला की पदावली भी संस्कृत और बँगला से प्रभावित थी, विशेषतया रविन्द्रनाथ ठाकुर की कविता से; परन्तु इनकी कविता में ओज और संगीत का अन्यत्र दुर्लभ संयोग था जो अत्यन्त मौलिक था। निराला की कविता में पौरुष, शक्ति और दृढ़ता है। इसे कवि पन्त की कोमलकान्त पदावली की कविता से तुलना कर अच्छी तरह देखा जा सकता है। पर साथ ही निराला की कुछ कविताओं और मुख्यतया उनके गीतों में गान-तत्व अत्यधिक है। एक ओर तो कवि ने कविता को संगीत के पास लाने में सफलता प्राप्त की और दूसरी ओर चित्र कल्पना को प्रश्रय दिया। अपनी कुछ कविताओं में उन्होंने वस्तुओं का बहुत विशद समाहार किया है। प्रसाद की अपेक्षा इनका दार्शनिक आधार अधिक विशुद्ध और पुष्ट है।

स्थान-स्थान पर इन्होंने अपने अद्वैतदर्शन के ज्ञान का उपयोग किया है और इसमें रहस्यवाद का पुट बराबर मिलता है। उनका मूर्त-विधान, प्रसाद के समान,

समृद्ध और वर्णन-वैविध्य से पूर्ण नहीं है; परन्तु उसकी रूप-रेखा अधिक सूक्ष्म और संगत है। कुछ कविताओं में इनकी भाषा सीधी-सादी है, यहाँ तक कि उनमें प्रचलित मुहावरों और उर्दू शब्दों तक का खूब प्रयोग हुआ है। कवि-रूप में उनमें सूक्ष्मतर समाज-चेतना है और प्रसाद की अपेक्षा जीवन के वर्तमान में वे अधिक रुचि लेते हैं, तो भी 'दिल्ली' और 'यमुना के प्रति' कविताओं में कवि का अतीत-प्रेम स्पष्ट है। निराला का जीवन कठिनाइयों से पूर्ण था। यश उन्हें विलम्ब से मिला, जीवन की सुविधाएँ उन्हें कभी नहीं मिलीं। तो भी कठिनाइयों और विरोधों को चुनौती देकर उन्होंने साहित्य में अपने पथ का निर्माण किया और अपने लिए कीर्तिमंदिर में शाश्वत स्थान बना लिया।

सुमित्रानन्दन पन्त——

इनका जन्म अल्मोड़ा जिले के कोसानी नामक ग्राम में, १९०० में हुआ और शिक्षा बनारस और इलाहाबाद में हुई। किशोरावस्था से ही पन्त ने मैथिलीशरण गुप्त और प्रसाद के ढंग पर रचनाओं का प्रारम्भ किया; पर १९१८ तक उन्होंने अपनी विशिष्ट शैली पा ली। उनकी आरम्भिक रचनाओं का संकलन पीछे 'वीणा' में हुआ। इन रचनाओं में सूक्ष्म पर्यवेक्षण, भाव गाम्भीर्य और शैली तथा पदयोजना में स्वतन्त्र नवीनता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रभाव स्पष्ट और लक्षणीय हैं। 'ग्रन्थि' एक प्रेम-कहानी है। कथा शिथिल है पर इसमें प्रेम-विषयक नाना मनोभावों का चित्रण बहुत सुन्दर हुआ है। कवि को वास्तविक प्रसिद्धि 'पल्लव' में संग्रहीत कविताओं से मिली जिनमें अत्यन्त उच्चकोटि की काव्य-प्रतिभा व्यक्त हुई है। छायावाद की प्रायः सभी मुख्य विशेषताएँ इसमें मुख्यतया वर्तमान हैं। भाषा इसकी अत्यन्त संगीतमयी और चित्रात्मक है और इसमें विस्मयकारी सांकेतिकता है। निरन्तर परिवर्तनशील विचारों और भावों का पोषण करने वाली प्रकृति अपने पूर्ण सौन्दर्य और अनेकरूपता सहित यहाँ चित्रित है। कुछ कविताओं में रहस्यवाद का संकेत है। संग्रह की अन्तिम कविता 'परिवर्तन' एक भिन्न शैली प्रस्तुत करती है। इसमें प्रभावशाली मूर्तविधान की सहायता से जीवन में परिवर्तन को जाग्रत शक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। जैसे-जैसे चित्त की अवस्थाओं में अन्तर आता है, वैसे-वैसे इस कविता में छन्द का भी परिवर्तन होता जाता है। 'पल्लव' के बाद प्रकाशित 'गुंजन' में विशिष्ट परिवर्तन लक्षित होता है। छन्दों में अलंकरण कम हो जाता है, और, जैसा कवि ने स्वयं कहा है, अब उसका सम्बन्ध सुन्दरम् से उतना नहीं रह जाता, जितना शिव से। यह परिवर्तन और स्पष्ट होता है 'युगान्त' में, और पूर्णता प्राप्त करता है 'युगवाणी' में। अब, कवि कुछ समाजवादी दृष्टिकोण अंगीकार कर लेता है और उन आन्दोलनों में रुचि लेने लगता है, जो समसामयिक

विचारों को प्रभावित करते हैं। 'पल्लव' से 'गुंजन' तक का परिवर्तन भारतीय दर्शन के अध्ययन का परिणाम है और 'गुंजन' से 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' तक का परिवर्तन इतिहास और मार्क्स दर्शन में कवि की रुचि का परिचायक है। परन्तु अन्तिम रचनाओं की आलोचना आगामी अध्याय में यथास्थान की जायगी।

पन्त की कविता के अवलोकन-मात्र से किसी को भी सहज रूप से यह विश्वास हुए बिना न रहेगा कि उनकी कवित्वशक्ति बेजोड़ है और उनके सर्वोत्तम गीत विश्व के किसी भी महान् कवि की श्रेष्ठतम कृति के समकक्ष हैं। ये गीत अतुल सौन्दर्य के श्रेष्ठ रत्न हैं। इनके भावों में स्वाभाविकता और व्यंजना में माधुर्य और प्रवाह है। इनके सहज और स्वाभाविक चित्र पाठक के मानस-पटल पर त्वरित गति से अंकित हो जाते हैं। पन्त की कविता में प्रकृति का स्थान प्रारम्भ से ही महत्त्वपूर्ण रहा है। प्रकृति-प्रेम ही प्रमुखतः उनकी आरम्भिक रचनाओं में व्यक्त हुआ है और जब तक आगे चलकर सामाजिक चेतना और मनुष्य के प्रति आकर्षण उनकी रचनाओं में नहीं परिलक्षित होता, तब तक प्रकृति ही उनकी कृतियों की नियामिका शक्ति है। उनकी यौवनसुलभ कल्पनाओं को प्रकृति के सौन्दर्य-पक्ष ने सदा आकृष्ट किया और वे उस अदृश्य सत्ता के प्रति सदा जागरूक रहे, जो सरिता के 'उस पार' थी, सायंकालीन बादलों में थी या उस सुदूर क्षितिज में थी, जहाँ पृथ्वी और आकाश मिलते हैं। अदृश्य सत्ता के प्रति यह विश्वास कवि के मन में सहजात और जिज्ञासा-वृत्ति से उत्पन्न था। इस प्रकार उनका रहस्यवाद, प्रसाद और निराला के समान साम्प्रदायिक और रूढ़िगत नहीं है। अपनी सादगी से यह हमें आकृष्ट करता है और हमारे अन्दर विश्वास पैदा करता है। पन्त बेजोड़ भाषा-शिल्पी हैं। खड़ी बोली को इतना मधुर, कोमल और सांकेतिक पन्त के समान और कोई नहीं बना सका। उनकी भाषा में स्वाभाविकता के साथ ही अत्यन्त सरलता और सूक्ष्मता मिलती है। जैसा हम कह चुके हैं, उनकी प्रतिभा गतिशील रही है और उनके विचार और शैली में समय के साथ परिवर्तन होता रहा है। यहाँ हम उनकी छायावादी कविता तक ही अपने को सीमित रखते हैं। अन्य कविताओं के विषय में आगे चलकर कुछ कहेंगे। परन्तु निष्कर्षरूप में हम यह कह सकते हैं कि वे वर्तमान काल में हिन्दी के सबसे बड़े कवि है और सूर और तुलसी के बाद ऐसी असाधारण योग्यता का दूसरा कोई कवि हिन्दी में नहीं पैदा हुआ।

महादेवी वर्मा—

इनका जन्म १९०७ में फ़र्रुखाबाद में हुआ और शिक्षा इलाहाबाद में हुई जहाँ आजकल वे प्रयाग महिला-विद्यापीठ की प्रिंसिपल के रूप में कार्य कर रही हैं। 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सान्ध्यगीत' और 'दीपशिखा' उनकी रचनाओं

के संग्रह हैं। इस शताब्दी में ये हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ और प्रतिभामयी कवयित्री हैं, इस विषय में सबका मतैक्य है। छायावादी काव्यधारा के चार प्रतिनिधि कवियों में इनकी भी गणना है। महादेवी जी की कविता में छायावाद के रहस्यात्मक और प्रतीकात्मक तत्त्व अन्य कवियों से अधिक उभर कर आये हैं। अदृश्य प्रिय के प्रति प्रणयनिवेदन और विरह-व्यथा की अनुभूति को उन्होंने अपनी कविताओं में बराबर व्यक्त किया है। उनकी यह प्रवृत्ति सूफी कवियों, विशेषतया जायसी का स्मरण दिलाती है। उस प्रिय के अनन्त आकर्षण का वर्णन कवयित्री ने उसी आवेग, व्याकुलता और पीड़ा से किया है, जैसा सूफी साधकों ने। मीरा के साथ उनकी इस बात में समानता है कि वे भी अपने परम प्रियतम की विरहिणी हैं, जिसको अपना प्रेम और उपासना समर्पित करना चाहती हैं। महादेवी की कविता में उस पीड़ा की अनुभूति मिलती है, जो उन्हें अत्यन्त प्रिय जान पड़ती है—'पीड़ा में तुमको ढूँढ़ा तुममें ढूँढ़ूँगी पीड़ा।' इस पीड़ा से विच्छेद वे प्रिय के अभिलषित मिलन के बाद भी नहीं चाहतीं। वेदना और पीड़ा के प्रति यह अनुराग कभी-कभी अत्यन्त गहरा हो जाता है; परन्तु यह उस विकृत नैराश्यवाद से भिन्न है जो मानसिक विकृति की सूचना देता है। प्रसाद, निराला और पन्त के विपरीत ये बँगला कवियों के प्रभाव से मुक्त रहीं और उनकी मधुर और शुद्ध काव्य-पदावली तत्त्वतः संस्कृत और हिन्दी कविता के प्रभाव में निर्मित हुई। प्रतीकों के विपुल प्रयोग से उनकी भाषा समृद्ध है। ये प्रतीक, अँगरेज़ कवियों से अपहृत नहीं हैं अपितु ये काव्य की अर्थभूमि और उसकी अन्तर्वृत्ति से इतने सुसंगत रूप में मिलते हैं कि इनमें अपहरण अथवा अनुकरण का दोष देखना निराधार है। छायावाद के यशस्वी कवि-चतुष्टय में इस कवयित्री की उपस्थिति संतोष का विषय है क्योंकि इससे उस आन्दोलन को विविधता और पूर्णता प्राप्त हुई।

स्थानाभाव से अब इस प्रसंग में हम कुछ कवियों का नाम-निर्देशमात्र कर सकते हैं। पंडित माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' और पंडित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने देश-भक्ति विषयक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ कीं। ये हमारे स्वातन्त्र्य संग्राम के कुशल सैनिक थे; मातृभूमि के प्रति प्यार और संघर्ष के प्रति उत्साह उनकी कविताओं में समान रूप से मिलता है। पंडित माखनलाल चतुर्वेदी की कुछ कविताओं में पूजा-गीतों की-सी विशेषता है और पंडित बालकृष्ण शर्मा के प्रणय गीत तीव्र अनुभूति से भरे हैं और उनमें यत्र-तत्र रहस्यात्मक संकेत भी मिलते हैं।

भगवतीचरण वर्मा ने कुछ श्रेष्ठ लघु कविताओं की रचना की है। उनके भाव और विचार उर्दू कविता का प्रभाव व्यक्त करते हैं। इस काल के अन्य उल्लेखनीय कवियों में रामकुमार वर्मा, मोहनलाल महतो, और सुभद्राकुमारी चौहान हैं।

(३)

यह युग पद्य के समान ही गद्य-क्षेत्र में भी अत्यन्त समृद्ध है। अकस्मात् गद्य-रचना के क्षेत्र में प्रसार हो जाता है और लेखकों की संख्या-वृद्धि के साथ-साथ रचना में भी विविधता के दर्शन होने लगते हे। इसकारण, इस विशाल गद्य-साहित्य के पर्यालोचन का काम जरा कठिन हो जाता है। विदेशी साहित्य से सुपरिचित नवयुवक लेखकों का एक वर्ग अब हिन्दी साहित्य के अभावों की पूर्ति में संलग्न था। उनकी कृतियों में हिन्दी साहित्य के अतिरिक्त अन्य बाहरी प्रभावों के कारण नई बातें दिखाई पड़ीं। एक ओर प्रसाद और प्रेमचन्द की वे रचनाएँ हैं, जिनकी प्रेरणा भारत के प्राचीन और नवीन जीवन से मिली दूसरी ओर अन्य नाटचकार और कथाकार हैं, जिन्होंने मनोविज्ञान और आधुनिक भौतिकवादी दर्शन पर आवृत इव्सन और शॉ के यथार्थवादी नाटकों तथा यूरोपीय उपन्यासों और कहानियों का अनुकरण किया। जहाँ इन विदेशी आदर्शों के अनुकरण से हमारा साहित्य सम्पन्न हुआ; वहीं वह अल्पज्ञ लेखकों द्वारा कभी-कभी भद्दे अनुकरण के रूप में भी दिखाई पड़ा। अब भाषा का व्यवहार भी विभिन्न लक्ष्यों की पूर्ति के लिए होने लगा था और वह विविध विषयों और शैलियों के अनुरूप लोच और व्यंजना शक्ति ग्रहण कर चली थी। इस युग में दो प्रकार की शैलियों का विकास हुआ—एक तो प्रसाद जैसे लेखकों की शैली थी जो अत्यन्त संस्कृत गर्भित थी और जिसमें उर्दू के प्रचलित शब्दों और मुहावरों का परिहार था; दूसरी शैली वह थी जिसमें उर्दू के शब्दों और मुहावरों के प्रति कोई घृणा न थी वल्कि उसकी ओर विशेष झुकाव पाया जाता था। दूसरे प्रकार के गद्य का सर्वोत्तम उदाहरण प्रेमचन्द की कृतियों में है। कहानियों और उपन्यासों के उपयुक्त सरल और बोलचाल की जैसी भाषा धीरे-धीरे चल निकली वैसे ही गंभीर विचारों और भावों की अभिव्यक्ति के लिए उच्चकोटि के प्रशस्त गद्य की रचना भी हुई, जिसका उदाहरण पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने समीक्षाग्रन्थों द्वारा प्रस्तुत किया। छायावादकालीन गद्य साहित्य का पर्यवेक्षण (१) कथा साहित्य, (२) नाटक, (३) निबन्ध और (४) आलोचना नामक उपशीर्षकों के अन्तर्गत करना अधिक सुविधाजनक होगा।

कथा साहित्य : उपन्यास और कहानी—

प्रेमचन्द—

हिन्दी में, कहानियाँ और प्रसिद्ध उपन्यास सेवासदन, प्रकाशित कराने से पूर्व, प्रेमचन्द उर्दू के लेखक के रूप में पर्याप्त ख्याति अर्जित कर चुके थे। हिन्दी में उनका आगमन एक शुभ घटना थी। इसके बाद उनकी कीर्ति बढ़ती ही गई और अपनी क्रमागत रचनाओं द्वारा वे सफल से सफलतर होते गये। 'सेवासदन' सामाजिक उपन्यास है जिसका आधार दहेज की कुप्रथा है। इस कुप्रथा के कारण

होने वाली अनेक विषादमयी और करुण स्थितियों का इसमें चित्रण है और हमारे समाज के अनेक सड़े-गले अंगों का भी उद्घाटन किया गया है। इसके बाद के उपन्यास 'प्रेमाश्रम' में गाँव के किसानों के जीवन की कठिनाइयों और विपत्तियों का चित्रण है जिसका कारण निरंकुश और परोपजीवी ज़मींदारों का लोभ और अविचारपूर्ण-अत्याचार था। 'रंगभूमि' उनका विशालकाय ग्रन्थ है। इस विशाल उपन्यास में अहिंसा सिद्धान्त को प्रश्रय देकर दृढ़ता और इच्छाशक्ति की व्यंजक नाना परिस्थितियों के सहारे एक अत्यन्त रोचक कथा की सृष्टि की गई है। इसमें गाँधीवाद की छाप और असहयोग-आन्दोलन का प्रभाव सुगमता से देखा जा सकता है। सूरदास, सोफिया जाह्नवी इत्यादि के चरित्र अत्यन्त सफलतापूर्वक अंकित हुए हैं। कथावस्तु का संगठन, सफल चरित्र-चित्रण और बोलती हुई परिस्थितियों का उपस्थापन—सभी विषयों में 'रंगभूमि' महान् रचना के गुणों से युक्त है। 'रंगभूमि' का राजनैतिक आग्रह 'कायाकल्प' के पुनर्जन्म सम्वन्धी तत्त्वज्ञान में वदल जाता है। 'निर्मला' और 'प्रतिज्ञा' अपेक्षाकृत छोटे उपन्यास हैं परन्तु रचना-कौशल में बेजोड़ हैं। 'ग़बन' स्त्री की आभूषण-प्रियता और पति द्वारा इसके लिए किये गये ग़बन की कहानी है। इसमें ग्रामीण जीवन के विविध चित्र मिलते हैं। विशेषतया ज़मींदारों और पुलिस के अत्याचारों का चित्रण है। इसमें किसी मत का आग्रह नहीं है और इसकी कथावस्तु सुसंगठित है। उनके अन्तिम उपन्यास 'गोदान' में जीवन के दो परस्पर विरोधी पहलुओं का चित्रण साथ-साथ किया गया है। शहरी जीवन की भीड़-भाड़ और आडम्बर का वैषम्य गाँवों के अभाव और पीड़ा भरे जीवन से दिखाया गया है। 'होरी' का चरित्र वस्तुतः सजीव और सशक्त है। 'कर्मभूमि' का विषय भी किसानों और मज़दूरों की गरीबी और पीड़ा है। इसकी कहानी कुछ आकर्षक स्त्री-चरित्रों के कारण बहुत रोचक बन पड़ी है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों का क्षेत्र जीवन के समान ही विशद और व्यापक है। इनकी कथावस्तु पात्रों के वैयक्तिक सुख-दुःख का निरूपण करती हुई विशाल राजनैतिक और सामाजिक पृष्ठ-भूमि में विकास पाती है। इन चित्रणों में उन्होंने गाँव या कस्बों के जीवन का चित्र अनेक ब्यौरों में दिया है। सूक्ष्म पर्यवेक्षण का प्रमाण पद-पद पर मिलता है। वैयक्तिक, सामाजिक, स्वार्थ अथवा परार्थ सम्बन्धी सीधे-सादे या उलझन भरे सभी प्रकार के लक्ष्य इनमें वैविध्य और समृद्धि का संयोजन करते हैं। गाँवों के खेतिहरों और मजदूरों के जीवन को वे विशेष महत्त्व देते हैं क्योंकि इनकी जीवनचर्या का उनको सर्वोत्तम परिचय प्राप्त था। दलितों और पीड़ितों के प्रति उनमें सहज सहानुभूति है। पीड़ा के आगार भारतीय ग्राम उनका ध्यान इसी कारण आकृष्ट करते हैं। समाज के अन्याय से पीड़ित अछूतों और हिन्दू विधवाओं के जीवन में भी वे दिलचस्पी लेते हैं। गाँवों के दरिद्र-दुखियों को अधिक

महत्व देने के कारण इन दिनों उन्हें प्रगतिशील अथवा मार्क्सवादी कहा गया है, परन्तु सचाई यह जान पड़ती है कि समाज के प्रति अनुराग और निर्धनों के प्रति सहानुभूति उनमें स्वाभाविक है और इसका उद्गम उनकी उदार भावना में है। उनमें सैद्धान्तिकता नहीं है इस कारण उनका समाजवाद मार्क्सवादी के स्थान पर 'यूटोपियन' अधिक है। प्रेमचन्द का दृष्टिकोण मूलत: आदर्शवादी है। वे समाज की वर्तमान अव्यवस्था और अधोगति में से संघर्ष की जगह पारस्परिक सहयोग पर आश्रित ऐसी सुव्यवस्था लाना चाहते हैं जो समाज के अधिकांश के लिए आनन्द-मूलक हो। उनके उपन्यासों की रचना सामाजिक और राजनैतिक सुधार के उद्देश्य से हुई है। इसका उद्घाटन गाँधीवाद के प्रभाव द्वारा होता है। आदर्शवाद के साथ प्रेमचन्द्र ने यथार्थवादी शैली का भी व्यवहार किया है। उनके सूक्ष्म पर्यवेक्षण और विशद विवरण मनुष्य और वस्तु जगत् के विविध और रोचक चित्रण उपस्थित करने में उन्हें समर्थ बनाते हैं। और अन्योन्याश्रित रूप से मनुष्य के विचार और कार्य सामाजिक शक्तियों के प्रभाव से गठित होकर उनकी रचना के आधार बनते हैं। उन्होंने आन्तरिक मनोवृत्तियों के विश्लेषण अथवा गम्भीर मनोजगत् का अनुधावन नहीं किया है। उनमें वैज्ञानिकों का सा परीक्षण का आवेग नहीं है। जीवन जैसा कुछ सीधा-सादा है, उसी से उनका सम्बन्ध है। उनका मुख्य प्रयोजन जीवन की परिस्थितियों तथा अवस्थाओं और उनके उतार-चढ़ाव से है। उनके चरित्र प्रशंसनीय हैं और कुछ तो अपने दृढ़ संकल्प और सदुद्देश्य के लिए स्मरणीय हैं। प्रेमचन्द गद्यशैली के बहुत बड़े आचार्य थे, उनके वर्णन और सम्वाद इस कथन को पुष्ट करते हैं।

प्रेमचन्द बहुत बड़े कहानीकार हैं। उन्होंने बहुसंख्यक कहानियों की रचना की है और इनमें से कुछ तो ऐसी हैं जिनकी तुलना विश्व की श्रेष्ठतम कहानियों से की जा सकती है, उदाहरणार्थ, 'रानी सारन्धा' 'शतरंज के खिलाड़ी', 'पूस की रात' ऐसी बीसों कहानियाँ हैं जिनमें सर्वोत्तम कहानियों के सभी गुण मिलते हैं। इन सुगठित कहानियों में तीव्र अनुभूतियों की नियोजना हुई है और जीवन के द्वन्द्व अत्यन्त स्वाभाविक रूप में व्यक्त हुए हैं। कहानी के प्रतिबन्धमय ढाँचे के साथ कथावस्तु, चरित्र, कथोपकथन और वातावरण का पूर्ण योग है और प्राय: रोमांचकारी चरम परिणति विश्वासोत्पादक अन्त से संयुक्त है। इस प्रकार कहानीकार प्रेमचन्द की महत्ता उपन्यासकार प्रेमचन्द के समान, बल्कि उससे कहीं अधिक है।

जयशंकर प्रसाद--

नाटकों के विपरीत, जयशंकर प्रसाद के 'कंकाल' और 'तितली' उपन्यास

वर्तमान समाज के दोषों का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हैं। 'कंकाल' में अन्धविश्वास और मिथ्या आदर्शों सहित समाज के ह्रासोन्मुखी ढाँचे का रहस्योद्घाटन किया गया है। 'तितली' में ग्रामीण जीवन की नाना अवस्थाओं की संघर्षमय कहानी है। इस रचना में जीवन और चरित्र का चित्रण अत्यन्त यथार्थ है तथा इसमें जीवन के कुत्सित और घृणित पक्षों का चित्रण सुधार के ही उद्देश्य से किया गया है। 'छाया' और 'आकाशदीप' आदि में संग्रहीत कहानियों में उनके नाटकों का विशिष्ट वातावरण मिलता है। इन कहानियों की कथावस्तु प्राचीन इतिहास से गृहीत है और इनमें कल्पना और कवित्व का भी पूर्ण योग है। वस्तुतः इनमें से कुछ तो गद्य-काव्य के समान हैं।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'—

ये इस युग के अन्य महत्वपूर्ण कहानीकार और उपन्यासकार हैं। उनके 'माँ' और 'भिखारिणी' उपन्यासों को अधिक प्रसिद्धि मिली। प्रेमचन्द के ही समान वे भी घरेलू और सामाजिक विषयों को ही पसन्द करते हैं, पर उनकी रुचि संकुचित और कार्यक्षेत्र अपेक्षाकृत संकीर्ण है। इन सीमाओं के होते हुए भी उनका कार्य संवर्द्धनीय है। उनकी कहानियाँ सहज-स्वाभाविक गति से चलती हैं और मानवीय तथा सहानुभूतिपूर्ण तत्त्वों द्वारा हृदय को स्पर्श करती हैं। इनमें आदर्शवादी प्रवृत्ति प्रधान है और अश्लीलता और क्षुद्रता का परिहार है।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव—

इनके उपन्यासों का यत्किंचित सामीप्य कौशिक के उपन्यासों से है। इन्होंने 'विदा' नामक उपन्यास लिखकर सर्वप्रथम साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश किया। इस उपन्यास में बड़े नगरों में निवास करने वाले उच्चवर्ग के लोगों का जीवन-चित्र दिया गया है। सामाजिक गोष्ठियाँ, बेरोक-टोक स्वच्छन्द विहार, प्रवंचनापूर्ण विलास और वेश-भूषा का मिथ्याडम्बर; ये सब उस जीवन के अवयव हैं जिनको लेखक ने अंकित किया है।

वृन्दावनलाल वर्मा—

इन्होंने भी मुख्यतया सामाजिक प्रवृत्तियों के चित्रण और आलोचन के लिए कई उपन्यास लिखे हैं। परन्तु इनका कृतित्व मुख्यतः इनके 'गढ़कुंडार' और 'विराटा की पद्मिनी' नामक ऐतिहासिक उपन्यासों में है, विशेषतः गढ़कुंडार में। गढ़कुंडार १४वीं शती के बुन्देलखण्ड का ऐतिहासिक जीवन चित्र उपस्थित करता है। इसमें पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष और घृणा से जर्जर वीर बुन्देलों की आपसी लड़ाइयों का विस्तृत और विश्वसनीय दिग्दर्शन है। लेखक इतिहास का पंडित भले न हो वह अपने विषय से सम्यकरूप से परिचित है और कल्पना-शक्ति के योग से ग्रहीत

कहानी को रोमांचकारी और विश्वासोत्पादक बनाने में समर्थ है। दूसरा उपन्यास 'विराटा की पद्मिनी' तद्वत सफल नहीं है।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' और जैनेन्द्रकुमार—

किसी समय प्रेमचन्द्र को छोड़कर, उग्र सबसे अधिक लोकप्रिय उपन्यासकार थे। नवीन और मौलिक उपादानों के कारण उनकी कहानी अधिक आकर्षक होती है। अपने समसामयिक अंग्रेज़ लेखक डी० एच० लारेंस के समान 'उग्र' ने ऐन्द्रिय आकर्षण को ही अपनी कहानियों का विषय बनाया। विषय-निर्वाह में वे प्रायः असंयत रहे। परिणामतः एक ओर तो उनकी 'चन्द हसीनों के खतूत' और अन्य रचनाओं ने अनेक पाठकों को अपनी ओर आकृष्ट किया, दूसरी ओर उन्हें कठोर आलोचनाओं का लक्ष्य बना दिया। अश्लीलता के प्रश्न को छोड़कर देखें तो लेखक कहानी-कला और गद्य-शैली में अत्यन्त निपुण है तथा उसकी रचनाओं में प्रसंगान्तर के साथ नवीन व्यंजनाओं के प्रयोग से अधिक रोचकता आ गई है। 'उग्र' के समान ही हिन्दी को नई शैली देनेवाले दूसरे लेखक जैनेन्द्र-कुमार हैं। 'परख' हिन्दी साहित्य में पहला मनोवैज्ञानिक उपन्यास है। 'कट्टो' और 'बिहारी' जैसे चरित्र आन्तरिक भावों और गहरे विचारों की भूमिका पर प्रस्तुत किए गये हैं और अन्य चरित्रों के विषय में भी आंतरिक वृत्तियों पर ही अधिक बल दिया गया है। जैनेन्द्रकुमार और 'उग्र' ने सुंदरतम छोटी कहानियाँ भी लिखी हैं जिनमें उनके उपन्यासों की शैलीगत विशेषताएँ संरक्षित हैं।

चतुरसेन शास्त्री ने सुधारवाद का पुट देकर मनोवैज्ञानिक उपन्यास लिखे। इनका स्तर उतना उच्च नहीं है जितना इनकी कुछ कहानियों का। चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' ने, जिनका युवावस्था में देहान्त हो गया, 'मंगल प्रभात' नामक उपन्यास और कुछ कहानियाँ लिखीं जिनका संग्रह 'नन्दन निकुंज' नामक पुस्तक में है। वे संस्कृत के प्राचीन आख्यानों की विशद और विस्तृत वर्णन-शैली के पक्षपाती थे। उनकी शैली अलंकारमयी और संस्कृतगर्भित है। उनकी कुछ कहानियाँ सुन्दर बन पड़ी हैं तथा उनकी रचना मानवीय भावों के ज्ञान के आधार पर हुई है और भावों के घात-प्रतिघात का भी उनमें प्रयोग है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावाद काल के ये पन्द्रह वर्ष गद्य कथा-साहित्य के लिए अत्यन्त समृद्ध हैं। प्रेमचन्द के साथ ही अन्य अनेक प्रतिभाशाली उपन्यासकार और कहानीकार इस समय वर्तमान थे।

नाटक

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके समसामयिक लाला श्रीनिवासदास और राधाकृष्णदास ने हिन्दी के नाटय-साहित्य में रचनाएँ प्रस्तुत कीं परन्तु इस

शताब्दी के आरम्भिक बीस वर्ष नाटक के विचार से अनुत्पादक थे। छायावाद युग में भी कथा-साहित्य जैसी सफलता प्राप्त करने में नाटककार समर्थ न हो सके। अच्छे नाटकों की अपेक्षाकृत कमी के मुख्य कारण हैं—रंगमंच का अभाव और आदर्श की अनिश्चयात्मकता। ऐसी स्थिति में कोई सुनिश्चित मार्ग ग्रहण करना नाटककारों के लिए कठिन था। उनके सामने संस्कृत के प्राचीन नाटक थे जिनकी विशिष्ट शैली थी। इसके बाद द्विजेन्द्र लाल राय और गिरीशचन्द्र घोष के वे अनूदित और लोकप्रिय बँगला नाटक थे जिनमें यूरोप के दुःखान्त और सुखान्त नाटकों का त्रुटिपूर्ण अनुकरण था। जनसाधारण के लिए केवल पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों के अभिनय सुलभ थे। इनमें अभिनय की तड़क-भड़क ज्यादा रहती थी और सुरुचिपूर्ण जनों को वे प्रदर्शन भोंड़े और विरक्तिकर जान पड़ते थे। लोग शेक्सपीयर, शॉ, मोलियेर और इब्थेन जैसे यूरोपीय नाटक-कारों के नाटकों से भी सीधे तौर पर परिचित हो चले थे। इतने विभिन्न और विविध प्रभावों के समक्ष हिन्दी के नाटककारों के लिए यह निश्चय कर पाना कठिन कार्य हो गया था कि अपने नाटकों की रचना वे किस रूप में करें। तो भी, कुछ विदेशी प्रभाव निश्चित रूप से जहाँ-तहाँ दिखाई देते हैं। जहाँ प्राचीन नाट्यशास्त्र के अनुसार दुःखान्त लिखना तो वर्जित था ही, हत्या और युद्ध के दृश्यों का सन्निवेश भी रंगमंच के लिए निषिद्ध था, वहाँ अब इन प्रतिषेधों का कोई पालन न करता था। प्राचीन नाटकों के चरित्र बहुधा एकाकार होते थे। अब अधिक वैयक्तिकता की प्रवृत्ति हो चली थी।

जयशंकर प्रसाद—

असाधारण प्रतिभा का संकेत देनेवाले इस युग के एकमात्र नाटककार जयशंकर प्रसाद थे। आरम्भ में अभ्यास के लिए उन्होंने छोटे-छोटे नाटकों की रचना की। 'राज्यश्री' के द्वारा उन्होंने विस्तृत नाटक की रचना में हाथ लगाया। 'राज्यश्री' में हर्षकालीन कन्नौज का ऐतिहासिक चित्रण है। इस नाटक की नायिका हर्ष की विधवा बहन राज्यश्री है। वह उलझनपूर्ण राजनीतिक दृश्य, जिसमें राज्यश्री का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, सत्य और ऐतिहासिक तथ्य के विवरणों से सम्पन्न है। राज्यश्री एक महत्त्वपूर्ण स्त्री है। उसका शारीरिक सौन्दर्य, नीतिज्ञता और बुद्धि-मत्ता उसे समान भाव से कथावस्तु का प्रमुखतम पात्र बनाते हैं। 'अजातशत्रु' नामक दूसरे महत्त्वपूर्ण नाटक में मगध और कोशल के शासकों के राजनैतिक षड्यंत्रों और युद्धों का वस्तु विषय ग्रहीत है जिसमें अंशतः वत्स और अवन्ती भी लिप्त हैं। भगवान् बुद्ध का प्रभाव पृष्ठभूमि में रहता है और घटनाओं का नियमन करता है। क्रमशः कार्य जटिल हो जाता है और नायक अजातशत्रु संकल्प की

दृढ़ता नहीं दिखा पाता। 'स्कन्दगुप्त' को सामान्यतया प्रसाद की उत्कृष्ट रचना कहा जाता है। स्कन्दगुप्त ने, जो इस नाटक का नायक है, कुछ समय के लिए हूणों के आक्रमण से इस देश की रक्षा की। इसके द्वारा प्रसाद जी ने वास्तविक रूप में शिष्ट, वीर, और प्राज्ञ चरित्र का निर्माण किया है। उसमें कर्त्तव्य-भावना है और आत्मोत्सर्ग की शक्ति है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक इसके बाद प्रणीत हुआ, जो चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन और चरित्र को प्रस्तुत करता है, जिसने सिल्यूकस को परास्त किया और एक विशाल साम्राज्य पर शासन किया। इस नाटक की कथा-वस्तु अधिक सन्तोषजनक नहीं है। यत्र-तत्र पात्रों के लम्बे और अनावश्यक कथोपकथन में अधिक समय लगा दिया गया है। परन्तु 'चाणक्य' और 'कल्याणी' ये दो पात्र नाटककार की आश्चर्यजनक निपुणता का प्रमाण देते हैं। मुद्राराक्षस की अपेक्षा यहाँ चाणक्य अधिक मानवोचित और उदात्त गुणों से युक्त है और कल्याणी कोमलता और सौजन्य के छोरों को छूती है। 'ध्रुवस्वामिनी', 'स्कन्दगुप्त' या 'चन्द्रगुप्त' के समान महत्त्व की रचना नहीं है फिर भी यह कापुरुष रामगुप्त और उसके वीर और स्वाभिमानी अनुज चन्द्रगुप्त के चरित्रों का वैषम्य उद्घाटित करती है और ध्रुवस्वामिनी की वेदनाओं द्वारा हमारे भीतर कभी करुणा और कभी क्रोध के भावों को जगाती है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' उस भीषण प्रतिशोध की कहानी है जिसे जनमेजय ने अपने पिता परीक्षित की मृत्यु का बदला लेने के लिए नागों से लिया था। इसके अतिरिक्त प्रसाद ने 'विशाख', 'कामना' और 'एक घूँट' की रचना की। प्रसाद के नाटकों के विषय प्राचीन इतिहास से ही ग्रहीत हैं और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को विविधता और सजीवता देने में वे सर्वत्र सफल हुए हैं। इतिहास-विषयक उनके गंभीर पांडित्य ने और सूक्ष्म कल्पना-शक्ति ने मिलकर इस कार्य को साध्य बनाया है। पात्रों की विशिष्टताओं का निर्माण कुछ तो प्रत्येक नाटक की जीवन की जटिलताओं और वातावरण द्वारा होता है और कुछ उन पात्रों के आन्तरिक विचारों और प्रवृत्तियों द्वारा। पात्रों और कार्यों के मूलगत सामंजस्य का निर्वाह प्रायः मिलता है। ये नाटक जीवन के उच्च सिद्धान्तों की अभिव्यंजना और प्रतिपादन के लिए लिख गये थे, परिणामतः इनमें विशिष्ट मर्यादा और गंभीरता पाई जाती है। कवित्वपूर्ण अंश इनमें यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं और ये सूक्ष्म कल्पना का प्रदर्शन करते हैं। इन विशेषताओं के कारण वे अधिक लोकप्रिय हुए हैं और सम्प्रति प्रसाद वर्तमान युग के हमारे सर्वश्रेष्ठ नाटककार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। तो भी कुछ कारण उनके नाटकों को रंगमंच पर सफलतापूर्वक अभिनीत होने में कठिनाई पैदा करते हैं। भाषा में वैविध्य का अधिक अभाव है और कथोपकथन कहीं-कहीं अत्यधिक साहित्यक और प्रवाहशून्य हैं।

कथावस्तु प्राय: मन्दगामी है और जहाँ-तहाँ उसमें तनिक भी गति नहीं है। इन नाटकों का दार्शनिक आधार प्राय: अत्यन्त गंभीर है और ऐतिहासिक विवरण अपरिचित। यदि रंगमंच के उपयुक्त इनका संस्करण तैयार किया जा सके तो इनमें से अधिकांश त्रुटियों का मार्जन हो जायगा। कुछ नाटकों का उत्साही अभिनेताओं द्वारा अत्यन्त सफल अभिनय किया जा चुका है, यद्यपि इसके लिए विशेष तैयारी करनी पड़ी थी।

अन्य नाटककार—

इस युग में ऐतिहासिक नाटक लिखने वाले दूसरे लेखक हैं, हरिकृष्ण प्रेमी। उनके नाटकों का सम्बन्ध भारतीय इतिहास के मुसलिम काल से है। **'रक्षाबन्धन'** उनका सुप्रसिद्ध नाटक है। १९२० के बाद बंडित बदरीनाथ भट्ट ने भी कुछ नाटकों की रचना की जिनमें 'चन्द्रगुप्त' अधिक प्रसिद्ध है। गोविन्दवल्लभ पन्त का **'वरमाला'** नाटक छोटा और मुख्यत: अभिनेय था, कि तु अपने परवर्ती नाटकों में लेखक यह विशेषता रक्षित न कर सका। पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने **'महात्मा ईसा'** नामक नाटक लिखा जो प्रकाशित होते ही लोकप्रिय हुआ। पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी के 'कृष्णार्जन-युद्ध' नाटक का उत्साही अभिनेताओं द्वारा अनेक स्थानों पर अभिनय किया गया और उसका खूब स्वागत हुआ। लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'अशोक' नामक ऐतिहासिक नाटक में कालक्रम-भंग दोष पाये जाते हैं। उनके उत्तरकालीन नाटक इब्सेन और शॉ के अनुकरण पर समस्या विशेष पर वाद-विवाद मात्र हैं। फिर भी हिन्दी में एक नई नाटकरचना-शैली के प्रवर्तन का श्रेय उनको मिलना ही चाहिए।

इस युग में एकांकी नाटकों की रचना भी पर्याप्त मात्रा में हुई; मुख्यतया रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण 'प्रेमी', जगदीश चंद्र माथुर आदि के द्वारा।

निबन्ध और आलोचना—

यह युग निबन्धों के लिए उतना उर्वर नहीं रहा, जितना आलोचना के लिए। यह वस्तुत: आश्चर्य की बात है कि जिस युग में प्रगीत, कहानी, और एकांकी नाटक इतनी अच्छी तरह फूले-फले, निबन्ध ही क्यों लोकप्रिय होने से वंचित रह गया। आलोचनात्मक निबन्धों को छोड़ दें तो निबन्ध नाम से गणनीय अन्य कोई रचना नहीं है। गद्य-काव्य नाम की एक नये प्रकार की रचना का इन दिनों चलन हुआ जिसमें गद्य के छोटे-छोटे खण्डों में प्रेम, निराशा, घृणा आदि भावों की व्यंजना भावावेशमयी शैली में की गई। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की **'गीतांजलि'** के अंग्रेजी गद्य रूपान्तर और वाल्ट ह्विटमैन की **'लीव्ज आव ग्रास'** ने इस प्रकार की रचनाओं के लिए स्फूर्ति और प्रेरणा दी। इस प्रकार की रचनाओं के श्रेष्ठतम

उदाहरण रायकृष्णदास की '**साधना** और **छायापथ**' वियोगी हरि का '**अन्तर्नाद**' और चतुरसेन शास्त्री का '**अन्तस्तल**' है। डा० रघुवीरसिंह की '**शेष स्मृतियाँ** अतीत की विशद स्मृतियों से परिपूर्ण है और मुगल-कालीन भारत के जीवन का रोचक चित्र उपस्थित करती है।

आलोचना-क्षेत्र में प्रमुख कार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का है। ऐसे समय जब पाश्चात्य समीक्षा से ग्रहण करने की अविवेकपूर्ण सामान्य प्रवृत्ति थी, उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया और नवीन दृष्टि-कोण से उसकी व्याख्या कर हमारे प्राचीन साहित्य-सिद्धान्तों की प्रामाणिकता का प्रतिपादन किया। साहित्य-सिद्धान्त सम्बन्धी उनकी रचनाएँ '**काव्य में रहस्य-वाद**', '**अभिव्यंजनावाद**' और अन्यान्य विचारोत्तेजक निबन्ध '**चिन्तामणि**' नामक ग्रन्थ में संगृहीत हैं। तुलसीदास और सूरदास पर उनकी पुस्तकें और जायसी-ग्रन्थावली में संलग्न उनकी भूमिका निर्णयात्मक समीक्षा का श्रेष्ठ आदर्श उपस्थित करती है तथा उनकी साहित्यिक सूक्ष्मेक्षिका, प्रशस्त रुचि, और विद्वत्ता का प्रमाण प्रस्तुत करती है। इस युग के आरम्भिक वर्षों में ही बाबू श्यामसुन्दरदास ने हिन्दी के पाठकों के लिए साहित्य-समीक्षा के सिद्धांतों पर '**साहित्यालोचन**' नाम का प्रसिद्ध और विशद ग्रन्थ प्रस्तुत किया। लाला भगवानदीन ने, जिनमें असा-धारण ग्रन्थ-पांडित्य था; तुलसी, सूर, और दीनदयाल गिरि की आलोचनायें लिखकर समालोचना की प्रगति में मूल्यवान् योग दिया; साथ ही उन्होंने सूर, केशव, बिहारी आदि प्राचीन कवियों की रचनाओं का सटिप्पण सम्पादन भी किया। पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और डा० पीताम्बरदत्त बड़-थ्वाल ने '**कबीर बचनावली**' और '**कबीर ग्रंथावली**' नामक अपने सम्पादित ग्रन्थों में कबीर की रचनागत विशेषताओं को नये ढंग से प्रकट किया और तत्संबंधी कुछ कठिन प्रश्नों का समाधान भी किया। पण्डित सुमित्रानन्दन पन्त ने '**पल्लव**' की भूमिका में काव्य-शैली के विषय में कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न उठाये तथा '**पन्त जी और पल्लव**' शीर्षक एक लेखमाला में निराला ने उनके विचारों की आलोचना की। पण्डित अवध उपाध्याय ने भी छायावाद पर एक लेखमाला प्रस्तुत की। गणित के सिद्धान्तों और व्यंजक मानचित्रों से पूर्ण उनकी प्रेमचन्द के उपन्यासों की आलोचना, कहना न होगा, वैचित्र्यपूर्ण थी। निस्सन्देह, इस युग के आलोचना साहित्य का पर्यवेक्षण करने से यह अच्छी तरह प्रमाणित हो जाता है कि रचनात्मक साहित्य के समान ही आलोचनात्मक साहित्य को भी पाश्चात्य आदर्शों और शैलियों ने प्रभावित कर लिया था तथा साहित्यकारों ने उनको स्वच्छन्दतापूर्वक अपनाया।

अठारहवाँ प्रकरण

हिन्दी साहित्य १६३५-१६५०—छायावादोत्तर-युग

हम देख चुके हैं कि १९२० के लगभग किस प्रकार हिन्दी-साहित्य में मौलिक परिवर्तन आ गया था। गांधीवाद ने उस तीव्र और स्पष्ट परिवर्तन को, जिसकी जड़ें उपनिषद् और पाश्चात्य मानवतावाद में थीं, उत्पन्न और परिपुष्ट किया था। इसके साथ ही इसी समय के लगभग, कला के नये सिद्धांतों ने हिन्दी के कवियों और लेखकों को प्रभावित कर नई प्रेरणा दी। इसका परिणाम छायावाद युग का विकसित और प्रौढ़ साहित्य है। १९२० के बाद से दस वर्षों तक नई साहित्यिक शक्तियों ने अत्यन्त तेजस्वी रचनाएँ उपस्थित कीं परन्तु एक दशक की समाप्ति होते न होते यह शक्ति लुप्त होने लगी। छायावाद की कविता में माधुर्य और सौन्दर्य पर इतना बल दिया गया कि धीरे-धीरे लोगों का मन ऊबने लगा और वैयक्तिक भावों का पूर्वाग्रह इ ना अधिक था कि और आगे न जा सका। इसके अलावा नई परिस्थितियों के प्रभाव से साहित्य में गुणात्मक परिवर्तन की माँग की जाने लगी थी। मोटे तौर पर कह सकते हैं कि १९३५ के लगभग भारतीय राजनीति में एक स्पष्ट परिवर्तन देखा गया, शुद्ध राजनीति की जगह राजनैतिक आर्थिक प्रश्नों को प्राधान्य मिला। १९३४ में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। इसी समय के लगभग कम्युनिस्ट पार्टी गैरकानूनी करार दे दी गई लेकिन इसके सदस्य अपने सिद्धान्तों का प्रचार या तो कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में या कांग्रेस में रहकर करते रहे। देवली कैम्प जेल में सरकार ने राजनैतिक चेतनावाले आतंकवादी बन्दियों को वैयक्तिक हत्याओं के मार्ग से हटाने के विचार से कम्युनिस्ट साहित्य, विशेषतया मार्क्स और लेनिन की रचनाएँ, देकर कम्युनिज़्म के प्रचार में सहायता की। १९३६ में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने लखनऊ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की अध्यक्षता ग्रहण कर उसकी नीति और योजना में नई प्रवृत्ति का संचार किया। इससे पहले कांग्रेस पूँजीपतियों, जमींदारों और मजदूरों-किसानों के बीच संघर्ष का अवसर आने पर कोई भी पक्ष ग्रहण करने से कतराती थी। अब पहले पहल कांग्रेस ने देश के शोषित मजदूर किसानों का पक्ष ग्रहण करने की भावना व्यक्त की और इस प्रकार

इसकी नीति स्पष्टतया समाजवाद की ओर उन्मुख हुई। १९३६ में ही लखनऊ में प्रेमचन्द के सभापतित्व में अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ का अधिवेशन हुआ जिसमें सशक्त भाषा में जन-साधारण के सामाजिक और आर्थिक अभ्युदय के लक्ष्य की घोषणा की गई। दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य है सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स की भारत-यात्रा के बाद भारत सरकार द्वारा न केवल कम्युनिस्ट पार्टी का वैधानिक घोषित होना वरन् प्रोत्साहन दिया जाना। इस प्रकार मुक्त रूप से सिद्धांतों के प्रचार का सुयोग मिला क्योंकि रूस और ब्रिटेन सामान्य शत्रु जर्मनी और जापान से युद्ध-रत थे। १९४३ के बंगाल के अकाल का परिणाम था अनन्त यंत्रणा और ५० लाख से अधिक जनों की मृत्यु। इस घटना ने तमाम बंगाली कवियों और लेखकों के दृष्टिकोण का परिवर्तन कर दिया। रवीन्द्र की परम्परा का परित्याग कर दिया गया और बंगला साहित्य एक भिन्न पथ पर अग्रसर हुआ जिसमें जन-साधारण की पीड़ा के लिए महती समवेदना और वर्तमान दुरवस्था को समाप्त कर देने की तीव्र और अदम्य आकांक्षा थी। वर्तमान शताब्दी में देश की सभी प्रवृत्तियों को प्रतिध्वनित करने वाले हिन्दी-साहित्य ने बँगला साहित्य से आनेवाले इस प्रभाव को भी ग्रहण किया। उपर्युक्त कारणों से इन पन्द्रह वर्षों में हिन्दी साहित्य, वामपक्षीय विचारों की ओर अधिकाधिक झुकता हुआ समाजवादी लक्ष्यों से ही अधिक संबद्ध रहा।

हिन्दी साहित्य में समाजवादी या प्रगतिशील विचारों के बढ़ने का कारण आंशिक रूप से विश्वविद्यालयों का शिक्षा प्रसार भी है। विश्वविद्यालयों में शिक्षित नवयुवक नई विचार धाराओं का परिचय प्राप्त कर बहुधा उनकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं। नवीन मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण के नई पीढ़ी के लेखकों में सर्वप्रिय होने का कारण भी कुछ अंशों तक यही है। फ्रायड, आडलर, और युंग के शोधों और उपगमों ने हमारे लेखकों को नया मार्ग देकर साहित्य को समृद्ध किया है। इसी प्रकार वर्तमान युग के अनेक हिन्दी कवि यूरोपीय प्रतीक-वादियों की शैली और सिद्धांत से असन्दिग्ध रूप से प्रभावित हुए हैं। छायावादी काव्य में यह प्रभाव सीमित परिमाण में ही पाया गया, परन्तु हमारे कुछ नये कवियों की नवीनतम रचनाओं में यह प्रभाव अधिक उभर कर आया है। यद्यपि नई धारा के कवियों द्वारा रिम्बों, वर्लेन, मलार्मे, वैलरी, और रिल्के का नामोल्लेख भी प्रशंसा और सम्मानपूर्वक मिलता है तथापि डब्ल्यू० बी० येट्स और टी० एस० ईलियट का प्रभाव सर्वाधिक द्रष्टव्य है। वर्गसाँ और अरविन्द का प्रभाव भी उल्लेखनीय है। ये प्रभाव वैयक्तिक रूप से जहाँ-तहाँ मिलते हैं परन्तु कभी-कभी उनमें से कई एक ही कवि की रचना में एकत्र मिलते हैं। हमारे नवीन साहित्य-कारों की रचनाओं में मार्क्सवाद, स्वप्नसिद्धान्त, और प्रतीकवाद की शैली का

समन्वय हमें यूरोपीय अतियथार्थवादियों की मिश्रित संस्कृत का स्मरण कराता है। यही नहीं, अस्तित्ववाद नामक नवीनतम साहित्यिक आन्दोलन भी हमारे साहित्य को प्रभावित कर रहा है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हमारे साहित्य और पाश्चात्य साहित्य के बीच सम्बन्ध अब अतीत की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ और सामान्य हो गये हैं। नवीन हिन्दी कथा साहित्य में यथार्थवाद को, प्रायः समाजवादी यथार्थवाद को, अधिक प्रश्रय दिया गया परन्तु साथ ही उपचेतन के रहस्योद्घाटन और यौन समस्याओं के चित्रण की प्रवृत्ति भी उतनी ही बलवती थी। नाटक जहाँ का तहाँ बना रहा, यद्यपि इन दिनों कुछ बहुत अच्छे नाटक लिखे गये। इस युग की कहानियों, एकांकियों, और नाटकों में साहित्य के अन्य बड़े अंगों की ही विचारधाराओं का अनुसरण पाया जाता है परन्तु उनमें से कुछ अपनी शैली के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। इन वर्षों में, कुछ अत्युत्तम व्यक्तिव्यंजक निबंध और रेखाचित्र लिखे गये। गवेषणापूर्ण समीक्षा की परम्परा विश्वविद्यालयों के केन्द्रों में संरक्षित रही यद्यपि इन वर्षों में पंडित रामचन्द्र शुक्ल जैसा विद्वान् और सूक्ष्मदर्शी समालोचक कोई नहीं हुआ। परन्तु आलोचनात्मक सूक्ष्म दृष्टि की नवीनता और व्यंजना की कुशलता से युक्त अनेक आलोचकों ने सामयिक पत्र पत्रिकाओं में महत्वपूर्ण विषयों पर लेख लिखे और साहित्य-सिद्धान्तों, साहित्यकारों और उनकी कृतियों पर महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की रचना की। इन पन्द्रह वर्षों के हिन्दी साहित्य का विकास वैविध्य-विशिष्ट है और इस अवधि का साहित्य १९३५ के पूर्ववर्ती साहित्य से अधिक आधुनिक है।

सन् ३५ के लगभग नवीन हिन्दी कविता का आविर्भाव हुआ। स्पष्टतया इसका नवीन रूप छायावाद कालीन कविता की प्रतिक्रिया द्वारा निर्धारित हुआ। छायावाद काल के छोटे और बड़े कवियों की रचनाओं में व्यक्तिगत भावना, कल्पना, तथा मधुर मादक संगीत का प्राधान्य था। इसके विपरीत नवीन कविता प्रारम्भ से ही यथार्थपरक तथा सामाजिक अनुभूति से अनुप्राणित हुई। दलित और शोषित वर्गों के प्रति संवेदना और सहानुभूति इस काल के प्रायः सभी कवियों में मिलती है। यह अंशतः नवीन चेतना तथा किसी अंश में उस नवीन जीवनदर्शन से उद्भूत है जिसने यूरोप से आकर पिछले वर्षों में भारतीय जीवन को अधिकाधिक प्रभावित किया है। नई कविता की दूसरी विशेषता है उसकी प्रयोगशीलता। जो कविता प्रयोगवादी नहीं है, वह भी प्रयोगशील है। काव्य के विषय और कलेवर दोनों में सतत परिवर्तनशील नवीनता परिलक्षित हुई है। विषयचयन के सम्बंध में परंपरागत रूढ़ियों का पूर्ण परित्याग करके आज का हिन्दी कवि अपनी काव्यवस्तु के लिए स्वतन्त्रतापूर्वक जीवन के सभी क्षेत्रों की खोज में संलग्न है। स्थूल और सक्ष्म, चेतन और उपचेतन सभी में उसको अपने काव्य

के उपयुक्त विषय प्राप्त करने की सम्भावना निहित दिखाई पड़ती है। शैली और रूप-विधान में तो प्रयोगशीलता और भी अधिक स्पष्ट हुई है। एक ओर तो लोकप्रचलित और कभी-कभी अनगढ़ शब्दों का निस्संकोच प्रयोग हुआ है और दूसरी ओर नवीन प्रतीकों और जटिल मानसिक अवस्थाओं से सम्बन्धित रूपकों का। शैली की निर्माण पद्धति, छन्दयोजना सभी नवीन हैं और उनका आधार उन नवीन प्रयोगों और अन्वेषणों में है जिनमें आज का कवि संलग्न है। जैसे आधुनिक यूरोपीय कविता, और उससे भी अधिक अमरीकी कविता में, परम्परा की अपेक्षा प्रयोगों का ही प्राधान्य है, उसी प्रकार नवीन हिन्दी कविता में भी परम्परागत आदर्शों को छोड़कर नवीन आदर्शों और मूल्यों को ग्रहण करने के लिये हिन्दी कवि तत्पर और प्रयत्नशील दिखाई पड़ता है। उसका एक बड़ा कारण यह है कि अब वाह्य प्रभाव हिन्दी साहित्य में अत्यन्त प्रचुर परिणाम में वेग के साथ प्रविष्ट हो रहे हैं। फलतः नवीन रूपों और प्रकारों की सृष्टि हो रही है। जब कभी इन प्रभावों को कवि सम्यक् रूप से आत्मसात् नहीं कर पाता, तब अन्तर्विरोध के कारण उसका काव्य विकृत हो जाता है। किन्तु यह तो हुई असफल कवियों की बात। जो कवि इन नवीन उपकरणों का उचित उपयोग करने में सफल हुए हैं, उनकी कविता में नवीनता और आधुनिकता का चमत्कारपूर्ण आकर्षण मिलता है। त्रुटियों और अभावों के बावजूद नवीन हिन्दी कविता अपने रूप और स्वर में अत्यंत आधुनिक है, और उसमें तथा आधुनिक पाश्चात्य कविता में सहज ही समानता देखी जा सकती है।

सन् ३५ के उपरांत के ५ वर्ष को हम संक्रान्ति का काल मान सकते हैं। परिवर्तन के चिह्न दिखाई पड़ रहे थे, किन्तु किसी नवीन व्यवस्था का स्वरूप अभी तक निखर कर सामने नहीं आया था। इतने पर भी नवीन विकास की दिशा क्या होगी यह समझने में कठिनाई किंचित्मात्र भी न थी। छायावादयुग की कविता रूमानी और प्रतीकवादी थी और उसमें व्यक्तिगत भावना और कल्पना की ही प्रमुखता अंत तक बनी रही। इस अहंवादी कविता के प्रति अब असन्तोष प्रकट हुआ और यह माना जाने लगा कि कवि का प्रधान कर्म समाज से विमुख होकर अपनी ही वैयक्तिक मानसिक समस्याओं में उलझकर रह जाना नहीं है वरन् उसका उत्तरदायित्व समाज और सम्पूर्ण मानवता के प्रति है। अतः कविता अब बहिर्मुखी होकर सामाजिक चेतना से प्रेरित हुई। यह नवीन लक्षण पूर्वकालीन कवियों की नवीन रचनाओं में दिखाई पड़ने लगा। प्रसाद, निराला, पन्त आदि सभी का स्वर मानवता के प्रति आदर और सहानुभूति से भर गया और सम-सामयिक प्रश्नों की ओर उन्होंने अधिक ध्यान दिया। इसी संक्रान्ति काल में कुछ अन्य पूर्वकालीन कवियों में मानवता के प्रति अन्याय की अनुभूति ने विद्रोही

स्वर ग्रहण किया। 'नवीन' ने भूखे मानव को जूठे पत्तल चाटते हुये देख कर सारे संसार को भस्मीभूत कर देने की बात सोची और भगवतीचरण वर्मा की 'भैंसा गाड़ी' नाम की कविता में दरिद्रों और दलितों के प्रति असीम समवेदना ओजपूर्ण भाषा में मुखरित हूई। इसी भाँति दिनकर की रचनाओं में भी एक नवीन तेजस्विता परिलक्षित हुई, और उनकी वाणी में एक नई ललकार का समावेश हुआ। साथ ही साथ नरेन्द्र शर्मा और बच्चन की कविताओं में व्यक्तिगत निराशा का स्वर गहरा हो चला, यह भी पुरानी व्यक्तिनिष्ठ कविता से उद्भूत उचाट और असन्तोष का ही प्रकाशनमात्र था। सन् '३७ में 'रूपाभ' का प्रकाशन श्री सुमित्रानन्दन पन्त के सम्पादकत्व में आरम्भ हुआ, यद्यपि इस साहित्यक पत्रिका का प्रकाशन दो वर्षों से अधिक न चल सका तथापि आधुनिक हिन्दी कविता के इतिहास में इसका विशेष महत्व है। कविता के क्षेत्र में जो नवीन प्रयोग हो रहे थे, 'रूपाभ' ने उनकी अभिव्यक्ति के लिए साधन प्रस्तुत किया है। इस पत्रिका को सभी तत्कालीन प्रतिष्ठित कवियों और लेखकों का सहयोग प्राप्त था। दूसरी अल्पजीवी पत्रिका थी 'उच्छृंखल' जिसका प्रकाशन सर्वप्रथम सन्'३९ में हुआ, और जिसमें विशेष रूप से मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों पर आधारित रचनाओं के प्रकाशन के लिए सुयोग मिला। सन् ३५ से ४० तक की रचनाओं को हम प्रवृत्तियों की दृष्टि से चार मुख्य श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—(१) ऐसी रचनाएँ जो सामाजिक चेतना पर आधारित थीं। (२) ऐसी रचनाएँ जो मन की अतल गहराई में प्रविष्ट होकर आन्तरिक भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति प्रस्तुत करती थीं। (३) निराशा और उचाट की भावना से प्रेरित रचनाएँ। (४) ऐसी रचनाएँ, जिनमें प्रकृति और बाह्य जीवन का सहज और स्वाभाविक चित्रण था।

१९४० तक परिस्थिति कुछ साफ हो चली थी। यूरोपीय महासमर छिड़ गया था और धीरे-धीरे महँगाई बढ़ने लगी थी। अभाव और महँगाई की चरम-परिणति बंगाल के भीषण दुर्भिक्ष के रूप में हुई। किन्तु एक प्रकार से इस विभीषिका से सारा देश त्रस्त हो उठा। हिन्दी कविता में १९४० के बाद प्रगतिवाद का विकास हम इसी सामाजिक और आर्थिक पीठिका के आधार पर समझ सकते हैं। यद्यपि कुछ अन्य कारण भी थे, जिनका संकेत हम कर चुके हैं। दो एक वर्षों के बाद ही प्रयोगवादी आन्दोलन ने शक्ति ग्रहण की और अज्ञेय तथा उनके सहयोगियों ने पाठकों के सामने एक नवीन आदर्श तथा काव्य-रचना की एक नई शैली रखी। सन् १९४३ में प्रकाशित होने वाले 'तारसप्तक' नामक संग्रह में दोनों ही प्रकार के नमूने मिलते हैं। धीरे-धीरे दो सम्प्रदाय बन गए और प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद के समर्थकों में बहुत दिनों तक वाद-विवाद चलता रहा।

प्रयोगवादियों का दावा है कि काव्य-क्षेत्र से व्यक्ति और उसकी मानसिक क्रियाओं के महत्त्व को एकदम पृथक् नहीं किया जा सकता और न तो सूक्ष्म कल्पना, नवीन रूपकों, तथा प्रतीकों के उपयोग से कविता का मूल स्वरूप विकृत ही होता है। इसके विपरीत इन शैलीगत उपकरणों और विशेषताओं से काव्य में चमत्कार तथा सौन्दर्य की सृष्टि होती है। प्रगतिवादियों का दावा है कि उनकी कविता में ही सामाजिकता और साधारणीकरण के गुण मिलते हैं, और प्रयोगवादियों की कविता प्रतिगामी, अस्पष्ट तथा ह्रासोन्मुख भावनाओं के कुहरे से ढँकी हुई है। यह झगड़ा बहुत कुछ निरर्थक है क्योंकि सामाजिक चेतना तथा प्रयोगशीलता प्राय: सभी कवियों में मिलती है। मतभेद मुख्यत: राजनैतिक मतों और सम्प्रदायों के प्रभाव के कारण ही चलता रहा और दिन प्रति दिन उग्र होता गया। १९५१ में दूसरा सप्तक प्रकाशित हुआ, जिसमें दो पुराने और पाँच नये कवियों की रचनाएँ संकलित हैं। इन कविताओं में कोई नवीन तत्त्व नहीं मिलते और न नवीन प्रवृत्तियों का संकेत ही मिलता है, केवल भाषा की सादगी और सफाई कुछ और बढ़ गई है। दूसरे सप्तक के कवियों के अतिरिक्त कुछ नई पौध के अन्य कवि भी हैं, जिनकी रचनाएँ समृद्धि और सफलता की सम्भावना से पूरित हैं। यहाँ इस काल के गीतिकारों के सम्बन्ध में भी कुछ लिख देना आवश्यक है। मधुर गीतों की परम्परा छायावाद काल से चली आ रही थी। प्रसाद और निराला की इस प्रकार की रचनाएँ हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। १९३५ के बाद के काल में भी शम्भूनाथ सिंह, हंसकुमार तिवारी तथा अन्य गीतिकारों ने सुन्दर रचनाएँ लिखकर उस परम्परा को अधिक सम्पन्न और उन्नत बनाया। १९४७ के बाद कुछ कवियों ने मानो नवयुग के सिंहद्वार पर खड़े हो कर पीछे की ओर दूर तक दृष्टि डाली। उनकी दृष्टि पतन और पराजय के पूर्व के वैभव के युगों पर पड़ी, और उन्होंने उसी युग के गान गाए। श्री मैथिली शरण गुप्त का 'द्वापर' श्री दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' तथा श्री द्वारका प्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन' इसी कोटि की रचनाएँ हैं। इस सामान्य परिचय के उपरान्त अब हम सन्' ३५ से बाद की प्रमुख धाराओं के सम्बन्ध में कुछ अधिक विस्तार से लिखेंगे।

उत्तरजीवी कवि

बाबू मथिलीशरण गुप्त जिन्होंने छायावाद की नवीन विशेषताओं के अनुकूल अपने आपको बना लिया था इस युग के अनुरूप न बन पाये। उनके **'कुणाल गीत'** के कुछ पद्य सर्वसाधारण के कल्याण के अभिनव सिद्धान्त का संकेत करते हैं परन्तु इन अपवादों के होते हुए भी यह सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि कवि के भाव और शैली नवीनतम रचनाओं में ज्यों के त्यों, अपरिवर्तित, रहे हैं।

इस कालावधि में उन्होंने पौराणिक कथाओं पर काव्य-रचना की। **महादेवी वर्मा** अपने पूर्वकालिक काव्य-सिद्धान्तों को अनन्य भाव से मानती आई हैं। वे घनिष्ठतम भावों की व्यंजना में ही दत्तचित्त रहीं जिसमें प्रसन्नता के गिने चुने क्षण और गंभीर दुःख की गहरी छाप है। गंभीर स्थितियों और घटनाओं पर उनकी प्रतिक्रिया व्यक्त होती रही है; जैसे बंगाल के अकाल और गांधी-हत्या काँड के अवसर पर; परन्तु, तिस पर भी, वे वैयक्तिक व्यंजना में ही स्थितिशील रहीं। बच्चन ने काव्य-रचना का प्रारम्भ उस समय किया जब छायावाद-युग समाप्त होने को था परन्तु इनकी कविताओं में छायावाद की एक विशेषता अत्यन्त गहरे और सशक्त रूप में है। प्रारम्भ से ही वे अपने ही अन्तस्तल के भावों को ध्वनित करते आ रहे थे विशेषतया क्षति और नैराश्य की मनोदशा का। यह निराशावाद, जो कुछ तो उमरखैयाम के प्रभाव से और कुछ वैयक्तिक कारणों से सम्भव है; उनकी कविता का मूल स्वर बन गया। सियाराम शरण गुप्त ने अपेक्षाकृत अधिक समयानुकूलता प्रदर्शित की और उनके कुछ नये ढंग के काव्य-प्रयोग आकर्षक हैं। पंडित माखनलाल चतुर्वेदी और पंडित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' भी उत्तरजीवियों में उल्लेखनीय हैं, यद्यपि 'नवीन' की कुछ कविताएँ समाजवादी मानवतावाद से ओतप्रोत हैं।

प्रगतिवाद

छायावाद के दो प्रधान कवि पन्त और निराला प्रगतिशील समाजवादी विचार-धारा से बलपूर्वक आकृष्ट हुए। हम पहले ही देख चुके हैं कि कैसे 'गुंजन' पन्त की अर्थभूमि और शैली में परिवर्तन प्रदर्शित करता है। यह परिवर्तन 'युगान्त', 'युग-वाणी' और 'ग्राम्या' में और स्पष्ट दिखाई दिया। इनमें विषयनिष्ठता अधिक है, कल्पना और अधिक संमूर्त्तित और ठोस हुई है और दरिद्रों तथा शोषितों के प्रति वास्तविक सहानुभूति व्यक्त हुई है। 'युगान्त' और 'युगवाणी' में सैद्धान्तिक विचार प्रमुख हैं परन्तु 'ग्राम्या' में ग्रामीण जीवन के दुःख और अभाव भरे विशद चित्र कौशलपूर्वक अंकित हैं। पन्त यद्यपि मार्क्स के भौतिकवादी समाजवाद की ओर आकृष्ट हुए परन्तु वास्तविक अर्थ में मार्क्सवादी कभी नहीं हुए। गांधीवादी मानव-तावाद, विवेकानन्द के विचार और स्वयं पन्त के वैयक्तिक प्रतिवर्तनों ने उनकी स्थूल मार्क्सवाद से रक्षा की। १९४४ के बाद पन्त में फिर परिवर्तन आता है। उनकी नवीन कृतियाँ 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि', और 'उत्तरा' बाह्य से आभ्यन्तर जीवन की ओर उन्मुखता व्यक्त करती हैं। इस समय वे अरविन्द दर्शन से प्रभावित हुए और अन्तश्चेतना में शाश्वत सत्यों की खोज में संलग्न हुए। उनकी पदा-

वली और छन्दोवैशिष्ट्य में आनुषंगिक परिवर्तन घटित हुआ। जान पड़ता है, छायावाद की पुरा शैली का पुनर्ग्रहण किया गया है। निराला ने नई प्रवृत्ति की अभिव्यंजना 'कुकुरमुत्ता', 'वेला', और 'नये पत्ते' में की है, इन सभी रचनाओं की शैली ओज और विविधता में बेजोड़ है। इन कविताओं का आकर्षण एक ओर तो उस नवीन छन्दोविधान में है जो सुस्पष्ट सादगी में लोकगीतों के निकट पहुँचता है, दूसरी ओर उस कूट और व्यंग में, जो निराला की कविताओं की विशेषता निर्धारित करता है। 'दिनकर' और 'अंचल', जिन्होंने छायावाद के पतनकाल में काव्य रचना प्रारम्भ की, प्रगतिशील आन्दोलन से प्रभावित हुए। पूर्वयुगीन ये लेखक यद्यपि बदलते हुए समय के साथ बहुत कुछ वदल गये थे तथापि प्रारम्भिक दिनों की रचना-प्रवृत्तियों को छोड़कर सर्वथा स्वतंत्र न हो पाये थे। आदर्शवाद, मूर्त्त-विधान, और संगीत, तथा विशुद्ध वैयक्तिक व्यंजना, नवीनतम रचनाओं में भी उनको जहाँ तहाँ उद्‌घाटित कर ही देते हैं। परन्तु कुछ तरुण कवि मार्क्सवाद के निश्चित प्रभाव में आये, उनकी कविता व्यक्तिनिष्ठता और अलंकृति से अधिक विमुक्त है अतएव अधिक पूर्णता से नये प्रकार की है। उनका विषय सामाजिक, विशेषतया समाज-शास्त्रीय है और उनका घोषित लक्ष्य है वर्ग-संघर्ष का चित्रण जो उनके अनुसार विश्व-कल्याण का एकमात्र प्रशस्त पथ है। उनकी कविता स्पष्ट रूप से प्रकट करती है कि वे अन्तिम सीमा तक कल्पना और भावुकता की अवहेलना करने पर तुले हैं और विषय-वस्तु को बाह्यार्थनिरूपक दृष्टि से नग्न भाषा और प्रायः अपरिमार्जित छन्दोविधान में प्रतिपादित करना चाहते हैं। प्राचीन साहित्यिक प्रतिमानों के अनुसार उनकी कविताएँ इतिवृत्तात्मक और गद्यात्मक हैं परन्तु यह संदिग्ध विषय है कि उन मानदण्डों का प्रयोग इन कविताओं के लिए कहाँ तक उचित है क्योंकि ये कवि उन सिद्धान्तों को मूलतः अस्वीकार करते हैं और चाहते हैं कि उनकी रचनाओं की समालोचना नवीन सामाजिक परिस्थितियों से मेल खानेवाले अभिनव उद्देश्यों और श्रेष्ठता के प्रतिमानों से की जाय। अत्यन्त निभ्रान्त रूप में प्रगतिशील मार्क्सवादी प्रवृत्तियों को अपनी रचनाओं में प्रकट करने वाले कवियों में रांगेय राघव, भारत-भूषण अग्रवाल, केदारनाथ अग्रवाल और नागार्जुन मुख्य हैं।

रांगेय राघव की कविताओं के विषय मुख्यतः मजदूरों, किसानों, तथा कम्यूनिस्ट पार्टी के उद्देश्यों से सम्बन्ध रखते हैं, और उनकी कविताओं का निर्माण और विकास भी मार्क्सवादी दृष्टिकोण को लेकर ही होता है। वे कम्यूनिस्ट विचारों के कवि थे, और मार्क्सवाद से ही वे मानवता का त्राण सम्भव मानते थे। कवि-कर्म के पुराने आदर्शों को उन्होंने व्यक्तिमूलक और पलायनवादी करार देकर सामाजिक उद्देयों के ग्रहण के लिए बलपूर्वक आग्रह किया। उनका विश्वास

था कि काव्यगत रूढ़ियों के परित्याग तथा सामाजिक एवं आर्थिक सुधार के लक्ष्य को लेकर ही कविता अग्रसर हो सकती है। उनकी कविता सोद्देश्य और सामाजिक चेतना से संपृक्त है। शैली सरल और छन्द-विधान वैशिष्टय तथा चमत्कार विहीन है। केदारनाथ अग्रवाल की कविता कभी-कभी ग्रौम्य-गीतों के धरातल पर उतर कर प्रभाव उत्पन्न करती है। स्थानीय पुट और भाषा में कुछ कुछ भदेसपन उसमें विद्यमान रहता है, किन्तु कवि के विश्वासों की दृढ़ता दलितों के प्रति उसकी सहानुभूति तथा व्यंग्यात्मक शैली के कारण श्री अग्रवाल की रचनाओं में रोचकता अनायास आ जाती है। नागार्जुन की कविताओं की शैली अत्यन्त अभिधा-मूलक और गद्यात्मक हो जाती है, किन्तु कुछ कविताओं में कवि की अनुभूति सहज एवं अत्यन्त मार्मिक ढंग से व्यक्त हुई है। इस मैथिल कवि की रचनाओं में ग्राम्य जीवन का आकर्षण और उसकी कठिनाइयाँ दोनों ही अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढंग से अंकित हुए हैं। श्री त्रिलोचन शास्त्री की सामाजिक चेतना, मार्क्सवाद के ढर्रे पर नहीं चलती। कवि का निजी अनुभव मानो उसकी रचनाओं में आप से आप मुखरित हो गया है। ग्राम्य जीवन के यथार्थ निरीक्षण के आधार पर इतने स्वाभाविक और सरल ढंग से काव्य-रचना कदाचित् इस युग के किसी अन्य कवि ने नहीं की है। श्री त्रिलोचन शास्त्री के सानेटों में भी नवनिर्माण कौशल के अतिरिक्त सरल और सहज अनुभूति का वैशिष्टय मिलता है। इन कवियों के अतिरिक्त कुछ अन्य भी हैं, जिनमें प्रगतिवादी सिद्धान्त और भावना स्पष्ट रूप से विद्यमान है। श्री शमशेर बहादुर सिंह दिन पर दिन मार्क्सवाद की ओर अधिकाधिक झुकते गए। अपनी नई कविताओं में वे जन-जीवन और मार्क्सवाद की ओर विशेष रूप से उन्मुख दिखाई पड़ते हैं, यद्यपि उनकी पहिले की कविताओं में काव्य शिल्प और काव्य शैली में प्रयोगों की प्रवृत्ति अधिक बलवती दिखाई देती है। पहिले की कविताएँ अत्यधिक प्रयोगात्मक होने के कारण कुछअस्पष्ट थीं, किन्तु कवि की नई रचनाएँ अधिक साफ और निखरी हुई हैं।

प्रयोगवाद

१९४३ ईसवी में तारसप्तक का प्रकाशन हुआ। इस महत्वपूर्ण संग्रह-ग्रन्थ की भूमिका में श्री अज्ञेय ने कवियों की प्रयोगशीलता पर जोर दिया। उन्होंने लिखा कि वे सभी कवि जिनकी कविताएँ संग्रहीत थीं, अन्वेषक थे, वे राही थे, और गन्तव्य तक पहुँच चुकने का दावा उनमें से किसी को भी न था। अनेक बातों में वे एक दूसरे से भिन्न थे। समानता केवल इस बात में थी कि वे नये प्रयोगों के लिए उत्सुक और तत्पर थे। बस इसी बात को पकड़ कर कवियों के एक सम्प्रदाय को, जिसके अग्रणी श्री अज्ञेय स्वयं माने जा सकते हैं, प्रयोगवादी नाम से अभिहित किया गया।

यह नाम अब इतना प्रचलित हो गया है कि स्वयं श्री अज्ञेय के अनेक बार सफाई देने के बावजूद यह प्रयुक्त हो रहा है।

प्रयोगवाद नाम स्वीकार करने में सब से बड़ी कठिनाई यह है कि अर्थभूमि और शैली दोनों की दृष्टि से आज के अधिकांश कवि प्रयोगों में विश्वास रखते हैं, अतः किसी एक समुदाय को ही प्रयोगवादी कह देना अधिक समीचीन नहीं है। प्रगतिवाद नाम के सम्बन्ध में भी कुछ ऐसी ही कठिनाई है। सामाजिक चेतना तो प्रायः सभी कवियों में मिलती है, भेद केवल मात्रा और स्तर का है। ऐसी दशा में कुछ थोड़े से कवियों को ही प्रगतिवादी कह देना सही नहीं मालूम पड़ता। यथार्थ तो यह है कि प्रगतिवाद और प्रयोगवाद एक दूसरे के नितान्त विरोधी नहीं है, अपितु दोनों की आधारभूमि बहूत कुछ सामान्य और सम्मिलित है। इसीलिए दोनों के बीच की दीवाल अब धीरे-धीरे टूट भी रही है। किन्तु जब तक दोनों का एकीकरण नहीं हो जाता, तब तक सुविधा के लिए इन दोनों नामों का स्वीकार करना अधिक अनुचित न होगा।

प्रयोगवादी कवियों का काव्य मुख्यतः व्यक्तिनिष्ठ है, व्यक्ति समाज की इकाई ही नहीं वरन् उसका केन्द्र भी है, और इसलिए उसका अपना महत्व है। मानव मन, मानव भावनाएँ, मानव-संकल्प-विकल्प आदि काव्य के लिए अत्यन्त उपयुक्त विषय प्रस्तुत करते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान ने काव्य की सीमाओं को विस्तृत बना दिया है और मन की गहराई में पैठ कर अतलदर्शी कवि अभिनव प्रभाव उत्पन्न करता है। इसी भाँति शैली और मूर्तिविधान के सम्बन्ध में भी नए साधन उपलब्ध हैं। जैसा कि अँगरेज कवि और विचारक टी० यस० इलियट ने स्पष्ट कर दिया है हर एक युग की अपनी नई भाषा और शैली होती है और काव्य रचना इसी नई शैली में होनी चाहिए। परम्परा का नया अर्थ समझा गया और यह माना जाने लगा कि परम्परा का निर्माण केवल पुनरावृत्ति द्वारा ही नहीं होता वरन् वह प्रयोगोंद्वारा ही आगे बढ़ती है। इन सभी विचारों और स्थापनाओं का प्रभाव नई हिन्दी कविता में परिलक्षित हुआ है। इसका सबसे चमत्कारपूर्ण और सुन्दर रूप श्री अज्ञेय की रचनाओं में मिलता है, जिसमें उपचेतन मन में निहित वासनाओं और अस्पष्ट आकांक्षाओं का नवीन प्रतीकों तथा रूपकों द्वारा अभिव्यक्तीकरण हुआ। श्री अज्ञेय की कविता अनेक स्थलों पर यूरोपीय प्रतीकवादियों और विशेष-कर टी० एस० इलियट की याद दिलाती है। विषय और शैली की नवीनता तथा परिमार्जित भाषा की दृष्टि से निस्सन्देह अज्ञेय की कविता अत्यन्त महत्वपूर्ण है। श्री गिरजा कुमार माथुर की काव्य-प्रतिभा अत्यन्त समृद्ध और सुशक्त है। उनकी रचनाओं का यद्यपि पूर्ववर्ती युग की कविता से सीधा सम्बन्ध है तथापि कवि ने उसे नवीन विशेषताओं से समन्वित किया है। अपनी रूमानी मस्ती, अल्हड़पन,

सौन्दर्य-भावना, और संगीत माधुर्य में श्री गिरजा कुमार की कविता बेजोड़ हैं। 'मंजरी' में संकलित कविताएँ छायावादी कवियों का स्मरण दिलाती हैं, किन्तु धीरे-धीरे रचना में संयम का अंश बढ़ता गया और कवि की सामाजिक चेतना भी अधिक प्रखर हो गई। श्री प्रभाकर माचवे पर फ्रायड का गहरा प्रभाव पड़ा है और साथ ही साथ भारतीय दर्शन और प्राचीन साहित्य के प्रति भी उनका अनुराग है। इन सभी प्रभावों के मिलने से उनकी कविता में एक अनोखा स्वाद मिलता है। यद्यपि रचना-सौष्ठव की कमी अनेक स्थलों पर खटकती है। गजानन मुक्तिबोध की अन्तर्दृष्टि पैनी है और फलतः उनकी अनुभूति भी अत्यन्त सूक्ष्म हो जाती है। श्री भवानी प्रसाद मिश्र ने लोक-प्रचलित भाषा में बड़ लहजे के साथ अपने सरल और उदात्त विचार व्यक्त किए हैं। विषय और भाषा दोनों ही सामान्य हैं, किन्तु कहने के ढंग में एक ऐसी नवीनता है कि रचनाओं का प्रभाव अत्यन्त आकर्षक हो जाता है। श्री हरिनारायण व्यास में प्रकृति-प्रेम का प्राधान्य है। उनके प्राकृतिक चित्र सामाजिक चेतना और सहानुभूति से मिश्रित होकर अत्यन्त हृदय-स्पर्शी बन जाते हैं। श्री नरेश मेहता ने अपनी कविताओं में समाजवादी विचारों का समावेश किया है, किन्तु वे मुख्य रूप से सौन्दर्यभावना और मधुर संगीत के कवि हैं। उनकी कल्पना में रंगीनी का अंश पर्याप्त मात्रा में मिलता है। श्री धर्मवीर भारती ने यौवन और मस्ती के गान गाए हैं, जिनमें उनकी निर्बन्ध भावनाएँ बिना किसी कृत्रिम आवरण के सामने आ गई हैं। भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति और भाषा की सजीवता के कारण इस कवि की कविताएँ अत्यन्त रोचक प्रतीत होती हैं।

गीतकार

इन वर्षों में सुन्दर गीतों का सृजन हुआ और उनका प्रचलन बढ़ता ही जा रहा है। हिन्दी में गीतों की अभिवृद्धि के अनेक कारण हैं। कवि-सम्मेलनों में इनका सस्वर पाठ किया जाता है और रेडियो पर प्रसारित होने से इनकी लोक-प्रियता और भी बढ़ गयी है। संगीतकार रवीन्द्र का निस्सन्देह इनके विकास पर असर पड़ा है। किन्तु इन सब से अधिक प्रोत्साहन इन गीतों को सिनेमा से प्राप्त हुआ है। जब से सवाक् चित्रों का अभ्युदय हुआ तभी से हिन्दी कविता में गीतों की माँग भी बढ़ने लगी है। अधिकांश रचनाओं में सिनेमा संगीत की लय और ध्वनि का अनुकरण मिलता है। यह विचारणीय प्रश्न ध्यान में आता है कि कविता में अर्थ के ऊपर संगीत की जो प्रधानता इन गीतों में मिलती है, वह साहित्य के मूलगत सिद्धान्तों की दृष्टि से उचित भी है अथवा नहीं। किन्तु रोचकता और मनोविनोद की दृष्टि से इन गीतों का बहुत बड़ा मूल्य है और यही कारण

है कि असंख्य जन इन्हें चाव से पढ़ते और सुनते हैं । इन गीतकारों में कुछ तो अत्यन्त प्रतिभा-सम्पन्न हैं और उनकी रचनाएँ अत्यन्त मोहक होती हैं । निराला की 'अर्चना' के गान तन्मयता और सौष्ठव में अपने रचयिता के उपयुक्त ही हैं । निराला प्रारम्भ से ही गीतों की रचना करते आए हैं और उनकी इस प्रकार की रचनाओं में सदैव मधुरिमा का अजस्र स्रोत बहता रहता है । बच्चन के गान भी मस्ती और सफाई में बेजोड़ है । भाषा की सादगी और सफाई की दृष्टि से बच्चन का बहुत बड़ा महत्त्व है । छायावाद काव्य की आलंकारिकता और अतिशय मिठास से जब पाठकों का मन भर गया था उस समय बच्चन ने सीधी-सादी भाषा में मस्ती के गान गाए और वे रसिकों के कण्ठहार बन गए । श्री हंसकुमार तिवारी ने अनगिनत गीतों की रचना की और उनकी रचनाएँ सुन्दर और आकर्षक हैं । उनके गीतों में कोमल भावनाओं को स्पर्श करने तथा सुन्दर रूप विधान प्रस्तुत करने की असीम क्षमता निहित है । श्री जानकी वल्लभ शास्त्री के गीतों में अत्यधिक मिठास रहती है और उनकी पदावली संस्कृतगर्भित तथा अत्यन्त कोमल शब्दों से भरी हुई होती है । बनारस के श्री शम्भूनाथ सिंह गीतों के उत्कृष्ट रचयिता के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके हैं । इधर उनका दृष्टिकोण स्पष्टतः समाजवादी हो गया है अतः उनकी रचनाओं में जनता के प्रति आकर्षण तथा शोषितवर्ग के प्रति सहानुभूति अभिव्यक्त हुई है ।

जैसा हम पहले ही कह चुके हैं, इस काल में कतिपय कवियों ने प्राचीन भारतीय जीवन और साहित्य से सम्बन्धित विषयों पर खण्डकाव्य की रचना की । श्री दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' इस प्रकार का एक महत्त्वपूर्ण काव्य है, जिसमें कवि ने युधिष्ठिर-भीष्म के संवाद का सहारा लेकर युद्ध की आधुनिक समस्या पर प्रकाश डाला है । पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र रचित 'कृष्णायन' में श्री कृष्ण का सम्पूर्ण चरित्र अंकित है । कवि ने सफलतापूर्वक इस महान कार्य को सम्पन्न किया है । यद्यपि इस काव्य की रचना अवधी में हुई है, तथापि नवीनता का पुट स्थान-स्थान पर मिलता है । श्री मैथिलीशरण गुप्त का 'द्वापर' तथा श्री सोहनलाल द्विवेदी रचित 'कुणाल' अन्य खण्ड काव्य हैं, जिनका यहाँ उल्लेख आवश्यक है ।

इसी समय नकेनवाद के नाम से बिहार के कुछ कवियों ने काव्यरचना सम्बन्धी नवीन प्रयोग किए । किन्तु उनके प्रयास में स्थायित्व न था । इस प्रयत्न में वे अनेक पाश्चात्य मतों और वादों से प्रेरणा प्राप्त करके अपने कुछ निजी प्रयोग करने में तत्पर थे ।

अब हम उन धाराओं का विवेचन करेंगे, जिनके अनुसार हिन्दी गद्य का पिछले वर्षों में विविध रूपों में विकास हुआ ।

(क) कथा साहित्य—छायावाद युग में कथा-साहित्य पर प्रेमचन्द का प्रभाव मुख्य था; परन्तु जैनेन्द्रकुमार ने 'परख' और 'सुनीता' में पहले ही मनोवैज्ञानिक कहानियाँ लिखने का प्रारम्भ कर दिया था। छायावादोत्तर कालमें प्रेमचन्द का उतना सबल प्रभाव नहीं रह गया था। मनोवैज्ञानिक उपन्यास अधिक लोकप्रिय हुए और इलाचन्द्र जोशी एवं अज्ञेय जैसे प्रतिभाशाली लेखकों ने इस प्रकार की प्रशंसनीय कृतियों की सृष्टि की। अज्ञेय का 'शेखर : एक जीवनी' मनोविश्लेषणपूर्ण सफल उपन्यास है और सूक्ष्म एवं उपचेतन मन के चित्रण में कृतकार्य है। जीवनी की शैली पर लिखे हुए इस उपन्यास का नायक 'शेखर' ही उन विविध प्रसंगों और मानसिक अवस्थाओं के बीच जिनका वर्णन इस पुस्तक में हुआ है, एकता का सूत्र प्रस्तुत करता है। स्पष्टतया इस रचना पर जेम्स ज्वायस् प्रभृति पाश्चात्य उपन्यासकारों का गहरा प्रभाव है और मनोविश्लेषण की खोजों तथा मान्यताओं का इतना खुल्लमखुल्ला उपयोग किया गया है कि ऐसा प्रतीत होने लगता है कि लेखक का सरोकार उपन्यास-रचना से भी अधिक मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों से है। दूसरे भाग में कथावस्तु कुछ अधिक सुसंगठित है। श्री अज्ञेय का नया उपन्यास 'नदी के द्वीप' रचनाशैली की दृष्टि से अधिक उत्कृष्ट है। यद्यपि कामवासना के स्पष्ट चित्रण में यह 'शेखर : एक जीवनी' से भी आगे बढ़ गया है। चेतन और उपचेतन मानसिक अवस्थाओं और उलझनों के चित्रण में श्री अज्ञेय ने अत्यधिक सफलता प्राप्त की है और उनकी गद्य-शैली भी अत्यन्त परिमार्जित तथा रोचक है। सभी बातों को ध्यान में रखते हुए यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं हो सकता कि प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास लेखकों में श्री अज्ञेय उच्चतम स्थान के अधिकारी हैं। इलाचन्द जोशी के 'निर्वासिता' और अन्य उपन्यास 'सन्यासी', 'परदे की रानी', 'प्रेत और छाया' मनुष्य के आचरण को उपचेतन मन के प्रभाव से निर्द्धारित चित्रित करते है, और मानव की निराशा को दमन और कुण्ठा के परिणाम से उत्पन्न प्रदर्शित करते हैं। यद्यपि अपने सभी उपन्यासों में श्री जोशी ने पात्रों की मानसिक चेष्टाओं और प्रवृत्तियों का विश्लेषण प्रस्तुत किया है, तथापि उन्होंने इस प्रकार का विश्लेषण पात्रों द्वारा ही कराया है और यथा-संभव अपने व्यक्तित्व को पृथक् रखा है और इस प्रकार उन्होंने उपन्यास रचना में नाटकीय शैली को ग्रहण किया है, और उसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। उपन्यास और कहानियों में दूसरी प्रवृत्ति मार्क्सवाद के प्रभाव से पैदा हुई। यशपाल के 'दादा कामरेड', 'देश द्रोही', 'दिव्या', और 'पार्टी कामरेड' तथा उनकी नवीन कहानियाँ इस ढंग के कथा-साहित्य के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। यशपाल रचनाशैली में निपुण, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लेखक हैं, परन्तु उनकी कृतियों में कुछ बड़े दोष हैं। राजनीतिक उद्देश्य की प्रमुखता गम्भीर बाधक हो जाती है। फलतः उनकी कहानियाँ कभी-कभी प्रचार मात्र के उद्देश्य

से लिखी जान पड़ती हैं। इसके अतिरिक्त यौन-समस्या उन्हें इतना आकृष्ट करती है कि वे बार-बार तत्संबंधी प्रसंगों की अवतारणा लज्जाशून्य ढंग से करते हैं और उनका चित्रण बहुधा नग्न अश्लीलता तक जा पहुँचता है। कामवासना-जन्य सम्बन्धों के नग्न चित्रण की ओर आज के हिन्दी उपन्यास-लेखकों का झुकाव सामाजिक और साहित्यिक दृष्टि से एक बहुत बड़ी समस्या उपस्थित करता है, क्योंकि इससे न केवल नैतिकता के स्वीकृत प्रतिमानों को धक्का लगता है वरन् सुरुचिपूर्ण पाठकों का इससे मनोविनोद भी नहीं होता। इसके अतिरिक्त नग्न चित्रण वाले कामवासना सम्बन्धी उपन्यासों में जीवन का सम्यक् और सन्तुलित निरूपण न रहने के कारण उनमें यथार्थ की अपेक्षा जीवन की खण्डित और कृत्रिम अभिव्यक्ति ही अधिक मिलती है। राँगेय राघव, रामचन्द्र तिवारी, नरोत्तमप्रसाद नागर जैसे तरुण लेखकों का दृष्टिकोण भी प्रगतिशील था और उन्होंने अपनी रचनाओं में सामाजिक न्याय के लिए और आर्थिक वैषम्य को दूर करने के लिए आवाज़ उठाई। उपेन्द्रनाथ अश्क ने अपने उपन्यास 'गिरती दीवारें' में अनेक नवीन प्रश्न उठाये। यह मध्यवर्ग के एक पंजाबी नवयुवक के जीवन की आकर्षक कहानी है, जो अनोखे और बहुधा भद्दे अनुभवों के बीच कालयापन करता है। उसके जीवन के दो सर्वप्रमुख तत्त्व हैं, रोजी कमाने की आकांक्षा और वासना की भूख। मार्क्सवादी विचार और फ्रायडीय मनोविज्ञान युगपत वह मूलाधार है, जिसके चतुर्दिक कहानी चक्कर काटती है। भगवतीचरण वर्मा का 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' अत्यन्त सुसंगठित उपन्यास है। इसका वस्तु-विषय कम्यूनिज्म, आतंकवाद, और गांधीवाद का सैद्धान्तिक संघर्ष है। कथा का निर्वाह सूक्ष्म व्यंग से पूर्ण है और रोचकता अन्त तक बराबर बनी रहती है। 'आखिरी दाँव' इसी लेखक की एक दूसरी कृति है, जिसमें एक जुआरी की प्रेमकथा उपन्यास के रूप में लिखी गई है। इस युग में राहुल सांकृत्यायन और वृन्दावन लाल वर्मा ने ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। राहुल जी ने 'वोल्गा से गंगा' में कहानियों के रूप में मानवविकास की विविध अवस्थाएँ अंकित की हैं। इसी विषय पर लिखी हुई श्री भगवतशरण उपाध्याय की कहानियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। यह कहानियाँ तीन संग्रहों 'सबेरा', 'गर्जन' और 'संघर्ष' में संग्रहीत हैं और वस्तुनिरूपण, भाषा-शैली, तथा रोचकता के लिए समानरूप से श्लाघनीय हैं। श्री वृन्दावन लाल वर्मा की नवीन रचनाएँ, 'महारानी लक्ष्मीबाई', 'मृगनयनी' आदि लेखक की रचना-शैली में नवीन विकास की सूचना देती हैं। पण्डित हजारी-प्रसाद द्विवेदी का 'बाणभट्ट की आत्मकथा' इस बात का सफलतम उदाहरण है कि प्रतिभाशाली लेखक कैसे तथ्य और कथा का संयोजन करके उसके द्वारा न केवल व्यक्ति की ही अनुसृष्टि कर सकता है, प्रत्युत युग के विशिष्ट वातावरण

को भी उपस्थित कर सकता है। इस पुस्तक की रचना विषय के अनुरूप शैली में ही हुई है और इसमें अतीत काल के विपुल और विशद विवरणों का उपयोग आश्चर्य-जनक है। मनोविज्ञान के आधार पर लिखा हुआ डा० देवराज का उपन्यास 'पथ की खोज' कई प्रकार से एक सफल और विशिष्ट रचना है। इसी भाँति श्री धर्मवीर भारती के भी दो उपन्यास 'गुनाहों के देवता', और 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' निर्माण-पद्धति की नवीनता और भाषा-शैली के आकर्षणों से समन्वित हैं। अन्त में निराला के बिल्लेसुर बकरिहा और नागार्जुन के 'बलचनमा' का जिक्र कर देना भी आवश्यक है। इन दोनों उपन्यासों में ग्रामीण जीवन और उनकी समस्याओं का अत्यन्त मार्मिक और सजीव निरूपण हुआ है। उपर्युक्त उपन्यासों में से जो १९५० के बाद प्रकाशित हुए हैं, उनकी चर्चा पुनः अगले अध्याय में की जायेगी।

इस युग में उच्च कोटि की कहानियों की रचना हुई। इसका विकास भी उपन्यास की ही धारा पर हुआ। प्रेमचन्द द्वारा प्रवर्तित परम्परा समाप्त हो गई। भगवतीचरण वर्मा की कहानियों के संग्रह 'इन्स्टालमेन्ट' और 'दो बाँके' व्यंग और हास्य के कारण नवीन आकर्षण से युक्त हैं। जैनेन्द्र कुमार, 'नरोत्तम प्रसाद नागर, और अज्ञेय की त्रयी मुख्यतया सूक्ष्म और अन्तर्दर्शी मनोवैज्ञानिक विलेषण से पूर्ण कहानियों के लेखन के लिये विख्यात है। इसके उत्कृष्ट उदाहरण अज्ञेय के 'विपथगा', 'परम्परा', और 'कोठरी की बात' नामक कहानी संग्रहों में प्राप्त होते हैं। प्रगतिशील लेखकों ने यशपाल और 'अश्क' ने बहुत ही उच्च स्तर की कहानियाँ लिखीं। इस युग के अन्य सफल कहानीकारों का नाम निर्देश मात्र करेंगे। ये हैं, राधाकृष्ण, अमृतलाल नागर, सर्वदानन्द वर्मा, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', सुमित्रा कुमारी सिनहा, चन्द्रकिरण सौनरिक्शा, विष्णु 'प्रभाकर', रामचन्द्र तिवारी, और राँगेय राघव। साधारणतया हम कह सकते हैं कि हिन्दी कहानी में अत्यधिक उन्नति हुई और जिन लेखकों का हम नामोल्लेख कर चुके हैं, उनकी कुछ रचनाएँ तो श्रेष्ठतम थीं।

(ख) **नाटक**—इस युग में नाटकों का प्रणयन न तो परिमाण में और न गुण में सन्तोषजनक था। इसके मुख्य कारण हैं हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में स्थायी रंगमंच का अभाव और सिनेमा की दिन-दिन बढ़नेवाली लोकप्रियता। सिनेमा के आविर्भाव के पूर्व यदि सुदृढ़ हिन्दी रंगमंच की स्थापना हो चुकी होती तो बात कुछ और होती। तब नाटक ह्रासोन्मुखी होने की जगह अपने सधर्मा सजातीय सिनेमा की नई विशेषताएँ ग्रहण कर सका होता और अभिवृद्धि की नवीनतम संभावनाओं का उद्घाटन करता। परन्तु नाटक के स्थान पर सिनेमा ने ही दर्शकों की मनोवृत्ति का परितोष किया और नाटकों के अभिनय की आवश्यकता को समाप्त कर दिया। परिणाम यह हुआ कि नाटकों का महत्त्व और प्रभाव उतना नहीं बढ़ सका जितना उचित था। नाटक साहित्यकला का अत्यन्त व्यंजक रूपविधान है

और इसके विकास का रुद्ध होना परिताप का विषय है। कथा-साहित्य में निरन्तर बढ़ती हुई रुचि का आंशिक कारण कुछ तो आधुनिकतम नाटच-साहित्य की असंतोष-जनक गति है। इस समय के उल्लेखनीय नाटककार हैं, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्द-दास, और लक्ष्मीनारायण मिश्र। उदयशंकर भट्ट मूलतः जयशंकरप्रसाद की परं-परा में आते हैं। उन्होंने लगभग एक दर्जन नाटकों की सृष्टि की है जिनका कथातत्त्व पुराण अथवा प्राचीन इतिहास से ग्रहीत है। 'विश्वामित्र', 'मत्स्यगंधा' और 'राधा' नामक अपने भावनाटचों में उन्होंने सौन्दर्य, प्रेम, और संगीतमय संसार का अंकन किया है। केन्द्रीय पात्र असीम आकर्षणमयी नारियाँ हैं। उनका सुप्रसिद्ध नाटक 'अम्बा' है। इन नाटकों के गुण-दोष वही हैं जो जयशंकरप्रसाद के नाटकों के। चरित्र-चित्रण अत्यन्त आकर्षक है, अनेक गीत तो इतने सुन्दर हैं कि स्वतंत्र प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकते हैं, कथोपकथन वहुधा उच्चकोटि की भाषा में और अंशतः मन्थर हैं। इन नाटकों का अभिनय किया जा सकता है और सुशिक्षित प्रेक्षक इन्हें पसन्द करेंगे। सेठ गोविन्ददास बहुत ही कर्मठ कलम धारण करते हैं और उन्होंने बहुत बड़ी संख्या में ऐतिहासिक, आलंकारिक और यथार्थवादी नाटक लिख डाले हैं। उन्होंने कुछ नाटकों में लक्ष्मीनारायण मिश्र की शैली में सामाजिक महत्त्व की समस्याओं पर लिखने का प्रयत्न किया है। शैली के विचार से सेठ गोविन्ददास के ये नाटक बहुत उच्च स्थान के अधिकारी नहीं हैं। शैली कृत्रिम कौशलों से पूर्ण है। कथोपकथन में पर्याप्त शक्ति और गति नहीं है और लम्बे मंच-निर्देशन उबाने वाले जान पड़ते हैं। लक्ष्मीनारायण मिश्र कृत 'गरुड़ध्वज' एक ऐसा नाटक है जिसमें लेखक ने अपनी प्रिय शैली का संयोजन अनिश्चित ऐतिहासिक विषयवस्तु से किया है। इसी कारण नाटक समुचित प्रभाव की सृष्टि करने में असमर्थ है यद्यपि इसमें नाटककार का रचना-कौशल प्रकट है।

इन वर्षों में एकाँकी नाटक की रचना विकासोन्मुख रही। इस प्रकार की रचना का नमूना यूरोप के लोकप्रिय एकांकी नाटकों में मिला और हमारे घटते हुए अवकाश ने इसके प्रचार को प्रोत्साहन दिया। इस युग के सुप्रसिद्ध एकांकी-कार हैं रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', भुवनेश्वर प्रसाद, विष्णु प्रभाकर, और श्री जगदीशचन्द्र माथुर।

(ग) निबंध और आलोचना—

पिछले अध्याय में हम अच्छे निबंधों के अभाव पर खेदप्रकाश कर चुके हैं। इस अवधि में उक्त अभाव कुछ दूर हुआ। कितने ही लेखकों ने सफलतापूर्वक उच्च-कोटि के निबन्ध लिखे। व्यक्ति-व्यंजर्क साहित्यिक निबंध प्रायः सियाराम शरण गुप्त, गुलाबराय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, और हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखे। साहित्य-सिद्धान्तों और साहित्यकारों और उनकी रचनाओं पर भी आलोचना-

निबंध इन दिनों अधिक लिखे गये । छायावाद और छायावादोत्तर काल के कवियों और लेखकों पर पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी ने गंभीर विचार-शक्ति और व्यंजना-कौशल प्रदर्शित करने वाले लेख लिखे । पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने साहित्यिक विषयों पर अनेक लेख लिखे । पण्डित चन्द्रवली पाण्डेय के भाषा-समस्या और साहित्य विषयक लेख समान भाव से उनके गंभीर पाँडित्य और ओजस्वी व्यंजना शैली को प्रकट करने वाले थे । नगेन्द्र ने विद्वत्ता पूर्ण और विषयप्रबोधक आलोचनात्मक लेख लिखे । डा० रामविलास शर्मा अपने विचारों को जोरदार और प्रायः उग्र ढंग से उपस्थित करना पसन्द करते हैं । अज्ञेय बोध और ज्ञानपूर्वक लिखते हैं और शिवदान सिंह चौहान अपनी आलोचनाओं में गम्भीर अध्ययन और मनन का परिचय देते हैं । इस काल के कुछ अन्य विशिष्ट आलोचक थे, डा० देवराज, श्री प्रकाशचन्द्रगुप्त, श्री नलिन विलोचन शर्मा, श्री शिवनाथ, श्री विनयमोहन शर्मा । समालोचनात्मक निबन्धों के अतिरिक्त कुछ लेखकों ने इस युग में गम्भीर स्वाध्यायपूर्ण रचनाएँ प्रदान कीं । इस प्रकार के कार्य पूर्णतया तो नहीं फिर भी अधिकांश में विश्वविद्यालयों में सम्पन्न हुए । काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय में पण्डित विश्वनाथप्रसाद मिश्र घनानन्द-साहित्य के अध्ययन और मनन में संलग्न थे और कवि की सम्पूर्ण रचनाओं का विद्वत्तापूर्ण भूमिका के साथ उन्होंने प्रकाशन कराया ।

पण्डित चन्द्रबली पाण्डेय की कृति 'तसव्वुक अथवा सूफीमत' अपने ढंग की एकमात्र प्रामाणिक और पाण्डित्यपूर्ण पुस्तक है तथा केशवदास पर उनका आलोचनात्मक ग्रन्थ सम्मानित हुआ । इलाहाबाद के डा० माताप्रसाद गुप्त ने तुलसीदास और जायसी के विषय में ज्ञानवर्द्धक कार्य किया । लखनऊ विश्वविद्यालय के डा० दीनदयाल गुप्त का 'अष्टछाप' स्मरणीय विराट ग्रन्थ है । उसी विश्वविद्यालय के डा० केसरीनारायण शुक्ल ने आधुनिक हिन्दी-साहित्य के सामाजिक और सांस्कृतिक आधार पर एक महत्वपूर्ण पुस्तक 'आधुनिक काव्य-धारा का सांस्कृतिक स्रोत' की रचना की । डा० भगीरथ मिश्र द्वारा रीतिकालीन साहित्य पर प्रशंसनीय कार्य हुआ । पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी द्वारा सम्पादित **'सूरसागर'** नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा कई भागों में प्रकाशित हुआ । उन्होंने सूरदास पर एक पृथक् ग्रन्थ भी प्रकाशित किया है जिसमें महाकवि की काव्यात्मक विशेषताओं का सूक्ष्म विश्लेषण है । डा० नगेन्द्र की देव विषयक कृति विद्वत्तापूर्ण है । डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी के आदि-काल सम्बन्धी खोज-ग्रन्थ में अनेक जटिल प्रश्नों पर नवीन प्रकाश डाला है । पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के दो और आलोचनात्मक ग्रन्थ प्रकाशित हुए, 'प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन' तथा 'आधुनिक साहित्य' । इस प्रकार इन वर्षों में हिन्दी-समीक्षा में बहुमुखी और सन्तोषजनक प्रगति हुई ।

उन्नीसवाँ प्रकरण

सन् १९५० के बाद का हिन्दी साहित्य

साहित्यिक युग दशकों के अनुसार नहीं बदलते, किन्तु १९५० के आस-पास परिवर्तन के अनेक चिह्न प्रकट होने लगे और फलतः हिन्दी साहित्य में संक्रान्ति उत्पन्न हो गई। इस दृष्टि से पिछले चौदह-पन्द्रह वर्षों के साहित्य को एक पृथक इकाई मान कर उस पर विचार कर लेना अनुचित न होगा।

दीर्घकालीन प्रयत्न के बाद हमारे देश ने सन् १९४७ ई० में राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त की। स्वतंत्रता प्राप्ति भारतीयों के लिए एक अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं उत्तेजक घटना थी। शताब्दियों की परतंत्रता मिट गई और जनता ने स्वतंत्र वातावरण में साँस ली। सारे देश में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई और लोग भावी उत्थान और समृद्धि के स्वप्न देखने लगे। यह आह्लादपूर्ण दशा प्रायः तीन वर्षों तक चलती रही किन्तु समय के साथ धीरे-धीरे स्वप्न मिटने लगे और वास्तविक समस्यायें सामने आने लगीं। एक नवीन लोकतांत्रिक संविधान तैयार हो गया था किन्तु संसदीय लोकतंत्र, जिसका हमने वरण किया था, अभी इस देश में अपनी प्रशस्त परम्परा स्थापित न कर पाया था। वयस्क मतदान पर आधारित संसदीय लोकतंत्र को अपने वास्तविक रूप में परिचालित करने के लिए पिछले पन्द्रह वर्षों में निरन्तर प्रयत्न होता आया है। तीन चुनाव हो चुके हैं और संसद तथा विधान परिषदों की कार्यवाही बहुत कुछ नियमित और सुव्यवस्थित हो गई है किन्तु सशक्त विरोधी दल का अभाव अब भी बना हुआ है। विरोधी पक्ष अभी तक अल्पसंख्यक तथा अपने में ही विभाजित होने के कारण उतनी सफलतापूर्वक अपना कार्य नहीं कर पाता है जितना अपेक्षित है। अतः सत्ताधारी दल यदि चाहे तो निरंकुश बन सकता है। इन वर्षों में प्रमुखता कांग्रेस दल की ही बनी रही किन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि कांग्रेस में मूलभूत परिवर्तन आ गये हैं। गांधी की अध्यात्मवादी आदर्शवादी, अहिंसावादी प्रेरणा धीरे-धीरे लुप्त हो रही है। गांधी के प्रभाव के स्थान पर नेहरू का प्रभाव अधिक सबल दिखाई देने लगा है। कहना न होगा कि अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर नेहरू का दृष्टिकोण गांधी के दृष्टिकोण से भिन्न था।

यह देखना है कि अब पंडित जवाहरलाल नेहरू के निधन के उपरान्त कांग्रेस की नीति किस मार्ग का अनुसरण करेगी।

सन् १९५० के बाद भारत ने नेहरू के नेतृत्व में तटस्थता को ही अपनी वैदेशिक नीति का मूलाधार बनाया। पंचशील एवं शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्तों की घोषणा बार-बार की गई और उसी आधार पर हमारी सरकार ने अनेक देशों के साथ समझौता भी किया। वस्तुस्थिति यह है कि हमारा देश रूस और अमेरिका दोनों ही के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध का निर्वाह करता है और दोनों की सद्भावना उसे प्राप्त है। तटस्थ देशों की श्रेणी में भारतवर्ष का अपना विशिष्ट स्थान है और हम सदैव परतंत्र और शोषित देशों के साथ अपनी सहानुभूति प्रगट करते आये हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों में हमारे नेताओं की आस्था है और हमारी सरकार उसकेकार्यान्विय में सक्रिय सहयोग प्रदान करती रही है।

लोकतंत्र की सम्यक स्थापना तथा समुचित वैदेशिक नीति-निर्धारण इन दो गम्भीर समस्याओं के साथ ही साथ तीसरी समस्या भी सामने आई। राजनीतिक स्वतंत्रता तो प्राप्त हो चुकी थी किन्तु देश में चारों ओर विपन्नता का साम्राज्य था। राष्ट्रीय सम्पत्ति का बहुत बड़ा अंश पूँजीपतियों के हाथ में हो गया था और गरीब जनता दानों के लिए मुहताज थी। आँकड़ों से यह पता चला कि राष्ट्रीय आय बहुत कम थी और जनता का जीवन स्तर शोचनीय अवस्था में था। दरिद्रता और असंतोषप्रद सम्पत्ति-वितरेण का हल निकालने के लिए योजनाओं का सहारा लिया गया। अनियोजित आर्थिक व्यवस्था में प्रगति बहुत धीरे-धीरे होती है। केवल योजनाओं के सहारे ही अल्पकाल में समुचित प्रगति सम्भव है। अतः सन् १९५१ में पंचवर्षीय योजनाओं का क्रम प्रारम्भ हुआ। द्वितीय योजना पूरी हो चुकी है और तीसरी योजना चल रही है। इन योजनाओं में उत्पादन वृद्धि के अतिरिक्त न्यायसंगत अर्थ वितरण का ध्येय भी सामने रखा गया है। तीसरी योजना तो स्पष्टतः समाजवादी है। योजनाओं के फलस्वरूप निम्नवर्ग के जीवन स्तर में कुछ उन्नति हुई है किन्तु मध्यवर्ग, विशेषकर निम्न मध्यवर्ग, प्रायः अछूता ही रह गया है। उसकी समस्यायें तो और भी गम्भीर हो गयी हैं क्योंकि कतिपय अनिवार्य कारणों से मूल्य वृद्धि का क्रम निरन्तर चल रहा है, किन्तु मध्यवर्ग की आमदनी में उसी अनुपात में वृद्धि नहीं हुई है।

उपर्युक्त राजनीतिक एवं आर्थिक प्रभावों से हिन्दी साहित्य में किस प्रकार परिवर्तन उत्पन्न हुए हैं, यह कहना कठिन है। यह तो स्पष्ट है कि समकालीन राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों से इन पन्द्रह वर्षों का हिन्दी साहित्य न तो व्यापक और न गम्भीर रूप में प्रभावित हुआ है, तब भी हम यह नहीं कह सकते कि वह समसामयिक प्रभावों से अछूता रह गया है। कहने का अभिप्राय केवल यह है कि

साहित्यिक प्रतिक्रिया उतनी तीव्र नहीं है जितनी १९२० के बाद गांधीवाद और १९३० के बाद मार्क्सवाद की थी। इन वर्षों में न तो हिन्दी साहित्य उद्वेलित हुआ है और न उसमें किसी प्रबल आन्दोलन का आविर्भाव हुआ है। इसके विपरीत उसमें शनैः शनैः स्थिरता और एकरूपता आ रही है। हम यह कह सकते हैं कि संसदीय लोकतंत्र के क्रमिक विकास के साथ हिन्दी साहित्य भी एक सुनिश्चित मार्ग पर अग्रसर हो रहा है। हमारी वैदेशिक नीति का प्रभाव भी हिन्दी साहित्य पर पड़ा है। उसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि हिन्दी लेखक अब उदारतापूर्वक विदेशी प्रभावों को ग्रहण एवं आत्मसात करता है। वह किसी देश विशेष, जाति विशेष, सम्प्रदाय विशेष का अनुचर मात्र नहीं है, अपितु सार्वदेशिक और सार्वभौम दृष्टिकोण अपना कर अपना कार्य सम्पन्न करता है। छायावाद युग से अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित होनेवाला गान्धीवादी-दर्शन पिछले दशक की तटस्थता और पंचशील सिद्धान्त के साथ घुल-मिलकर एकाकार हो गया है। इस प्रकार दोनों के ही सम्मिलित प्रभाव से हिन्दी कवियों और लेखकों के उद्देश्यों में विशालता और उदारता की उपलब्धि हुई है। यह मानना पड़ेगा कि योजनाओं का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर केवल नगण्य मात्र है। योजनाओं से साहित्यकारों के मन में न तो कोई नया उत्साह, न कोई नई प्रेरणा उत्पन्न हुई है। यदाकदा रेडियो पर विकासगीत सुनने को मिलते हैं और सरकारी पत्र-पत्रिकाओं में वे प्रकाशित भी होते हैं, किन्तु भाखरा, हीराकुंड, भिलाई और रूरकेला में मानव प्रयास का जो विराट स्वरूप देखने को मिलता है, उसको विषय बनाकर न तो कवियों ने और न उपन्यास लेखकों ने रचनायें प्रस्तुत की हैं। योजनाओं ने साहित्य-प्रणेताओं में रागात्मक एवं कल्पनात्मक प्रतिक्रिया नहीं उत्पन्न की है।

सांस्कृतिक एवं बौद्धिक परिवर्तनों का साहित्य पर अधिक सीधा और प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। सन् १९३० ई० के लगभग योरोप में परम्परा से स्वीकृत मूल्यों का विघटन शुरू हो गया। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था, साम्राज्यवादी राजनैतिक व्यवस्था, रोमन कैथालिक धर्मव्यवस्था इन सभी को चुनौती दे दी गई। नवीन मनोविज्ञान ने मानव मन का एक नितान्त नवीन मानचित्र प्रस्तुत किया और नैतिक मूल्यों में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन परिलक्षित होने लगा। फलतः मानव जीवन के आदर्श बदलने लगे और मानव व्यवहार ने भी नया रूप ग्रहण किया। उसके साथ ही साहित्य में संक्रान्ति उत्पन्न हो गई और उसमें 'आधुनिकता' का आविर्भाव हुआ। यह आधुनिकता विषयवस्तु, रूपव्यवस्था, एवं अभिव्यंजना शैली सभी में प्रकट हुई। हिन्दी साहित्य में प्रत्यक्ष रूप से परम्परागत मूल्यों का विघटन तथा आधुनिकता का प्रवेश सन् १९४० और १९५० के बीच के वर्षों में देखने को मिला। वह दशक उथल-पुथल का काल था जिसमें पुरानी आस्थायें हिल उठीं और नई

मान्यतायें स्वीकृति के लिए आग्रह करती हुई सामने आईं। विभिन्न सम्प्रदाय थे, अतः परिस्थिति उलझी हुई प्रतीत होती थी। कविता में छायावादी, प्रगतिवादी, प्रयोगवादी, तथा अन्य प्रकार के प्रभाव कार्य कर रहे थे। उपन्यास लेखकों में फ्रायडवादी, मार्क्सवादी, गांधीवादी आदि थे। इसी प्रकार नाटक, निबन्ध, कहानी, आलोचना आदि में भी नवीन किन्तु आपस में विरोधी तत्व प्रगट हुए।

जो दशक १९५० में प्रारम्भ हुआ उसमें तथा उसके बाद के वर्षों में स्थिति कुछ साफ होने लगी। परिवर्तन और क्रान्ति के समय जो आवेश और द्वन्द्व व्याप्त हो गया था वह धीरे-धीरे मिटने लगा और आधुनिकता के लक्षण सुपरिचित और सर्वग्राह्य प्रतीत होने लगे। अब नवीन लेखक केवल विद्रोही और प्रयोगकर्त्ता नहीं रह गया, वरन् उसे लोक अभिरुचि ने सम्मान प्रदान किया। स्थिरता और एकरूपता साहित्य के सभी अंगों में परिलक्षित हुई, किन्तु उसका सबसे स्पष्ट प्रमाण कविता में द्रष्टव्य हुआ। पूर्वगामी दशक के तीनों प्रमुख सम्प्रदायों, छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का पारस्परिक विरोध मिटने लगा और आपस में वे एक दूसरे के निकट आ गये। फलतः अब स्थिति यह है कि नई कविता के अन्तर्गत विभिन्न लक्षणों और रूपों का समाहार हो गया है और परस्पर विरोधी स्वर नहीं सुनने को मिलते। इसी प्रकार गद्य-साहित्य में भी आधुनिकता और नवलेखन के अन्तर्गत विभिन्न विशेषतायें और नवीनतायें समाहित और एकत्रित हो गई हैं। निष्कर्ष यह निकलता है कि १९५० के पूर्व की तुलना में आज के हिन्दी साहित्य में अधिक निश्चयात्मकता है, उसकी रूपरेखा अधिक स्पष्ट है। वह नवीन और आधुनिक है किन्तु उसका यह गुण अब हमें चकित नहीं करता और न हमें उसके स्वीकार करने में अब किसी आपत्ति का ही सामना करना पड़ता है।

अद्यतन हिन्दी साहित्य तथा उसके प्रत्येक अंग पर आधुनिकता की छाप अंकित है। हम यह तो नहीं कह सकते कि परम्परा से उसका सम्बन्ध टूट गया है, किन्तु निःसन्देह वह नवीनता से अभिभूत है। छायावाद युग में हिन्दी के कवियों और लेखकों ने अंग्रेजी साहित्य से प्रेरणा प्राप्त की, किन्तु वह प्रेरणा कम से कम सौ वर्ष पुराने स्रोतों से मिली थीं। कवियों ने १९ वीं शताब्दी के योरोपीय स्वच्छन्दतावादी कवियों का आदर्श अपने सामने रखा और उपन्यास लेखकों ने भी १९ वीं शताब्दी की कृतियों को ही सामने रखकर अपने उपन्यासों का निर्माण किया। विवेच्यकाल में पाश्चात्य देशों से जो प्रेरणा और कलात्मक सिद्धान्त प्राप्त हुए हैं, वे नितान्त नवीन हैं। १९२० के बाद आज तक जो आधुनिकता योरोपीय और अमरीकी साहित्य में मिलती है उसी का किंचित् परिवर्तित रूप हमारे साहित्य में प्रकट हुआ है।

'ग्रहण' तथा 'प्रयोग' आज की आधुनिकता के यही दो मूलमंत्र हैं। अब हिन्दी

साहित्य की एक देशीयता मिट गई है और वह सार्वभौम प्रभावों को तेजी से ग्रहण कर रहा है। अधिकांश प्रभाव पाश्चात्य देशों से, अर्थात् योरोप और अमरीका से, आये हैं। आज से पचास वर्ष पहले नव्य शैली में लिखी हुई कृतियों की कड़ी आलोचना होती थी, किन्तु आज उनका स्वागत होता है। रचनात्मक आदर्शों तथा लोक अभिरुचि दोनों का ही झुकाव नवीनता की ओर है। विभिन्न देशों से आने वाली शैलीगत तथा रूपविधान संबंधी विशेषताओं का आधुनिक हिन्दी साहित्य में खुलकर प्रयोग हो रहा है। इसके अतिरिक्त विषय-वस्तु के चयन में भी वाह्य प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रहे हैं। काव्य-रचना के कुछ निश्चित विषय परम्परा से चले आये थे और प्राचीन आचार्यों ने उनको मान्यता प्रदान की थी। क्षेत्र-विस्तार के कारण अब उन परम्परागत विषयों से अलग बिलकुल नये विषयों के आधार पर साहित्य रचना अग्रसर हो रही है। जिन मानसिक और सामाजिक समस्याओं को लेकर पिछले पन्द्रह वर्षों में प्रभूत साहित्य का प्रणयन हुआ है उनका प्राचीन परम्परा में स्थान न था। हमारे कवियों और लेखकों ने वाह्य प्रभावों को ग्रहण करने के साथ ही साथ नवीन प्रयोग भी किये हैं। यह तथ्य उनके साहस और उनकी योग्यता का द्योतक है। कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक सभी में विदेशी लेखकों का अंधानुकरण मात्र नहीं किया गया है, वरन् उनके सिद्धान्तों पर आधारित नवीन प्रयोग निरंतर होते आये हैं। फलतः हमारे आज के हिन्दी साहित्य में बाह्य प्रभावों को आत्मसात् करने के बावजूद मौलिकता की कमी नहीं है। उदाहरणार्थ 'नयी कविता' की रूप व्यवस्था का विश्लेषण करने पर यह बात सहज ही देखी जा सकती है कि इसमें विदेशी तत्वों के साथ भारतीय एवं मौलिक उपकरण समुचित रीति से मिले हुए हैं। हम यह नहीं कह सकते कि आज के उपन्यास की 'टेकनीक' सोलहो आने विदेशी है।

अब हम १९५० के पश्चात् लिखे जाने वाले हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त दिग्दर्शन प्रस्तुत करेंगे। पहले हम गद्य-साहित्य का सिंहावलोकन करेंगे और तत्पश्चात् काव्य-कृतियों पर विचार किया जायेगा। गद्य साहित्य के अन्तर्गत उपन्यास, कहानी निबन्ध, समीक्षा सभी का विवेचन किया जायेगा। नाटक और एकांकियों पर अलग-अलग विचार व्यक्त करने के पश्चात् अंत में गत पन्द्रह वर्षों की हिन्दी कविता की रूपरेखा प्रस्तुत की जायेगी।

१—**उपन्यास** :—वर्तमान 'आधुनिकता' का यह एक प्रमुख लक्षण है कि आज के हिन्दी साहित्य में उपन्यास और कहानी का महत्व बहुत बढ़ गया है। योरोप में भी कथा-साहित्य मुख्य रूप से पिछले दो सौ वर्षों में ही विकसित हुआ है, और निरन्तर नवीन रूप और विशेषतायें परिलक्षित करता आया है। १९५० के बाद हिन्दी उपन्यास ने यथेष्ट प्रगति की है और फलतः पिछले दशकों की अपेक्षा इसमें

कहीं अधिक वैविध्य और समृद्धि के लक्षण दिखाई देते हैं। इन वर्षों में काफी बड़ी संख्या में ऐसे उपन्यास लिखे गये हैं जिनका स्तर शैली और शिल्प की दृष्टि से ऊँचा है और जिनके विषय वस्तु में नवीन आकर्षण है। आज के उपन्यास साहित्य में इतनी अधिक विविधता है और उसमें इतने नवीन प्रयोग किये गये हैं कि उसका श्रणी विभाजन कठिन हो गया है। तब भी दो-तीन कोटियाँ प्रमुख रूप से हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं : (अ) आंचलिक, (ब) मनोवैज्ञानिक, (स) वैयक्तिक और (द) पारिवारिक समस्याओं से सम्बन्धित। पूर्वगामी दो-तीन दशकों में कथा साहित्य के क्षेत्र में प्रमुखता एतिहासिक, राजनीतिक और सामाजिक विषयों पर लिखी हुई रचनाओं की ही थी। आज के नवीन युग में उन विषयों के प्रति पाठकों का आकर्षण घट गया है और कथा-साहित्य सामान्यतः व्यक्ति निष्ठ हो गया है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में व्यक्ति के मानसिक द्वन्दों और अवसादों का विश्लेषण हुआ है और जिन समस्याओं को लेकर उपन्यास लिखे गये हैं वे भी अहं-वादी समस्यायें हैं। सामाजिक और आर्थिक उद्देश्य आंचलिक उपन्यासों में विशेष महत्व रखते हैं किन्तु अधिकांश रचनाओं में साथ ही साथ काम वासना और यौन सम्बन्धों का भी चित्रण हुआ है। आधुनिक हिन्दी उपन्यास में शिल्प और शैली सम्बन्धी अनेक चमत्कारपूर्ण प्रयोग हुए हैं। सिनेमा और नवीन मनोविज्ञान की उपलब्धियों का खुलकर उपयोग किया गया है, अतः 'फ्री एसोसियेशन', 'सिने-रियो टेक्नीक', 'फ्लैश बैक टेक्नीक' आदि की चर्चा आज के उपन्यासों की समीक्षा के सन्दर्भ में निरन्तर मिलती रहती है।

हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों की परम्परा पुरानी है। द्विवेदी युग में लिखे हुए मन्नन द्विवेदी के दोनों उपन्यास, **रामलाल** तथा **कल्याणी** आंचलिक हैं। उनमें पूर्वी उत्तरप्रदेश के कतिपय जनपदों का जीवन अंकित है; आज से पचास वर्ष पूर्व भारतीय ग्रामीण जीवन कैसा था, इसका पता उनसे भली प्रकार लग जाता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में भी कुछ आंचलिक विशेषताएँ समाविष्ट हैं और कई स्थलों पर 'लोकल कलर' अर्थात् स्थानीय विशेषताओं का सुन्दर उपयोग हुआ है। किन्तु १९५० के पूर्व आंचलिक उपन्यासों के सर्वमान्य लेखक वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यास विशेष महत्व रखते हैं। इतिहास और जनश्रुति के आधार पर निर्मित उनके विशिष्ट उपन्यासों में बुन्देलखंड और उसके लोकजीवन का विशद चित्रण हुआ है। अद्यतनकाल में आंचलिक उपन्यासों का उत्कृष्ट विकास हुआ है। इस कोटि की पहली उल्लेखनीय रचना, **बलचनमा** १९५२ में प्रकाशित हुई। इस उपन्यास का कथानायक बलचनमा दलित और शोषित निम्नवर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। वह जमींदारों की क्रूरता एवं अर्थ और भोगलिप्सा के विरुद्ध विद्रोह करता है। **बलचनमा** में पतनोन्मुख जमींदारी प्रथा का यथार्थ निरूपण हुआ है और नागा-

र्जुन की समाजवादी दृष्टि आद्योपान्त प्रगट हुई है। दरभंगा जिले के जनजीवन तथा उसकी सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं का इस उपन्यास में सम्यक निरूपण हुआ है। लोकभाषा का प्रचुर प्रयोग होने पर भी भाषा असाहित्यिक नहीं हुई है। नागार्जुन का दूसरा आंचलिक उपन्यास **बाबा बटेसर नाथ** १९५४ में प्रकाशित हुआ इसमें एक पुराना बट वृक्ष दो सौ वर्षों की कथा कहता है जिससे दरभंगा जिले के रुपउली ग्राम का इतिहास उद्घाटित होता है। शिल्प की दृष्टि से यह एक नया प्रयोग है। पूर्निया जिला से सम्बन्धित फणीश्वर नाथ 'रेणु' के दोनों उपन्यास **मैला आंचल** (१९५४) तथा **परती : परिकथा** विशेष लोकप्रिय हुए। उनमें विहार के पूर्निया जिला का ग्राम्य जीवन अपनी सभी विशेषताओं के साथ चित्रित हुआ है। यथार्थ निरूपण के साथ ही साथ लेखक ने ग्राम्यजीवन की उन सभी समस्याओं पर प्रकाश डाला है जो सामान्यजनों के जीवन को अनिश्चित और संकटापन्न बना देती है। उच्चवर्ग के जमींदार और धनीमानी लोग अपनी अर्थ लोलुपता और कामवासना की तृप्ति के लिए जिन जघन्य कार्यों को करने में तनिक भी संकोच नहीं करते थे, उनका प्रभावोत्पादक निरूपण हुआ है। भाषा में कुछ भदेसपन अधिक आ गया है और निर्माण शैली भी अधिक संतोषप्रद नहीं है। छोटी-छोटी घटनाओं की कथानक में नियोजना हुई है किन्तु उनसे जो सूत्र बना है वह न तो बहुत स्पष्ट और न अधिक सुदृढ़ है। शिव प्रसाद मिश्र 'रुद्र' का उपन्यास **बहती गंगा** (१९५२) अपने ढंग की अनूठी कृति है। सत्तरह कहानियों को एकत्र एवं सम्वद्ध करके लेखक ने काशी के पिछले दो सौ वर्षों के वास्तविक जीवन का रूप खड़ा कर दिया है। 'लोकल कलर' का जितना सुन्दर प्रयोग इस उपन्यास में हुआ है वैसा हिन्दी में अन्यत्र दुर्लभ है। उदयशंकर भट्ट ने एक अत्यन्त सफल आंचलिक उपन्यास लिखा है, **सागर, लहरें, और मनुष्य**। इसमें पश्चिमी समुद्र तट पर बरसोवा गाँव में रहनवाले मछुओं का जीवन वर्णित है। उनके राग-द्वेष, उनके पारस्परिक द्वन्द्व, और आकर्षण अत्यन्त रोचक ढंग से प्रस्तुत किये गये हैं। प्रकृति के निकट साहचर्य में सरल जीवन व्यतीत करने वाले मछुओं का जीवन कामवासना और यौन-आकर्षण से किस प्रकार उद्वेलित रहता है, इसका आभास इस उपन्यास में मिलता है।

वर्तमान हिन्दी उपन्यास में प्रयोगात्मकता पग-पग पर परिलक्षित हुई है। मनोवैज्ञानिक एवं काम-विषयक उपन्यासों की परम्परा जैनेन्द्र, इलाचन्द जोशी, अज्ञेय आदि पूववर्ती दशकों में प्रारम्भ कर चुके थे। सन् १९५० के बाद मनोविज्ञान और कामवासना का महत्व और भी बढ़ गया है। अनेक लेखकों की कृतियों के मूल में यह धारणा है कि प्रेम और कामवासना जनित सम्बन्ध मन और शरीर की भूख मिटाते हैं, अतः वे विशेष आपत्तिजनक नहीं हैं। दाम्पत्य जीवन की शुद्धता

और पवित्रता में जो विश्वास चला आया है उसे वे कृत्रिम, अनावश्यक तथा मनोवैज्ञानिक रीति से हानिकर मानते हैं। स्वतंत्र प्रेम और यौन सम्बन्ध को प्रश्रय देनेवाले मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में अज्ञेय लिखित **नदी के द्वीप** (१९५१) प्रमुख है। इसमें चार प्रमुख पात्रों की मनोदशा एवं यौन-सम्बन्धों का चित्रण खुलकर हुआ है। भुवन, रेखा, और गौरी के पारस्परिक सम्बन्ध का उद्घाटन बिना संकोच और संयम के किया गया है, अतएव उपन्यास की अनेक परिस्थितियाँ अत्यधिक शृंगारिक प्रतीत होती है। इस काल में लिखा हुआ अज्ञेय का दूसरा उपन्यास **अपने अपने अजनबी** विचारात्मक कृति है। इसमें अस्तित्ववाद की व्याख्या प्रस्तुत की गई है और सब मिलाकर यह उपन्यास असफल माना जायेगा। विचारात्मक उपन्यास का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण, डा० देवराज द्वारा लिखित **अजय की डायरी** है। इस उपन्यास में शैली और शिल्प-विधान के नये प्रयोग किये गये हैं और दैनन्दिनी का आश्रय लेकर कथा विकसित हुई है । इस उपन्यास पर अन्तर्राष्ट्रीयता की छाप दिखाई पड़ती है। वस्तुविन्यास की दृष्टि से धर्मवीर भारती का उपन्यास **सूरज का सातवाँ घोड़ा** विशेष महत्व रखता है। इसमें माणिक मुल्ला के मुख से कथा कहलाई गई है। विभिन्न प्रकार की कथायें अन्तर्कथाओं के रूप में आपस में सम्बन्धित हैं। अलिफ लैला की शैली का यह एक नवीन रूप है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के लघु उपन्यास **सोया हुआ जल** में भी अभिनव प्रयोग किये गये हैं। एक पान्थ शाला के विभिन्न कक्षों में सोये हुए व्यक्तियों की कहानी एक बूढ़े पहरेदार के स्वपनों में उभड़ कर प्रगट होती है। सिनेरियो पद्धति पर लिखे हुए इस उपन्यास में अनेक लघुचित्र गुम्फित किये गये हैं। नरेश मेहता के उपन्यास **डूबते मस्तूल** (१९५४) में भी नये प्रयोग का उद्देश्य प्रत्यक्षरूप से दिखाई देता है। सारी घटनाएँ एक दिन और दो बजे रात तक की अवधि में निबद्ध हुई हैं। रंजना के केन्द्रीय चरित्र-चित्रण का उपन्यास में विशेष स्थान है। उसी के सहारे अनेक प्रणय एवं योन सम्बन्धो का समावेश किया गया है और नारी शरीर की दुर्गति का चित्र खींचा गया है। रघुवंश के **तंतुजल** (१९५८) नामक उपन्यास की सम्पूर्ण विवृत्ति 'फ्लैश बैक' शैली में हुई है। सीमित अवधि के भीतर नीरा और नरेश की गहरी मानवीय संवेदना को बड़े सशक्त ढंग से व्यक्त किया गया है । इस उपन्यास में पारिवारिक सम्बन्धों से उत्पन्न कुंठा के रूप को समग्र संवेदना के साथ प्रगट किया गया है। गिरधर गोपाल के **चाँदनी के खंडहर** (१९५४) और राजेन्द्र यादव के **उखड़े हुए लोग** में मध्यवर्गीय पारिवारिक जीवन का चित्र मनोवैज्ञानिक भूमिका पर अंकित किया गया है। इन दोनों उपन्यासों में उने द्वन्दों, कुंठाओं तथा अन्य मानसिक विकारों का चित्रण जिनसे आज मध्यवर्ग आक्रान्त और पीड़ित है संतोषप्रद रीति से हुआ है। भगवतीचरण वर्मा का उपन्यास भूले बिसरे चित्र अत्यन्त लोकप्रिय

हो गया है। इसमें १९ वीं शती के अंतिम चरण से लेकर २०वीं शताब्दी के तीसरे दशक तक की बदलती हुई भारत की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थितियों का चित्रण किया गया है। इन बदलती हुई परिस्थितियों के उद्घाटन के लिये उपन्यासकार ने मुंशी शिवलाल के चार पीढ़ियों को आधार बनाया है। इस उपन्यास की पाँच समस्यायें हैं : (१) मध्य वर्ग का विकास और ह्रास, (२) सामंत वाद का विनाश और पूंजीवाद की उत्पत्ति, (३) बदलती हुई सामाजिक मान्यतायें, (४) राजनीतिक चेतना और जागृति और (५) हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का नया उपन्यास **चारुचन्द्र लेख** अपने ढंग की अनोखी कृति है। ऐतिहासिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा अनेक अन्य स्रोतों से प्राप्त प्रचुर सामग्री को लेखक ने पाण्डित्य तथा भावुकता के साथ इस उपन्यास में सन्निविष्ट किया है। शिल्प विधान में नये प्रयोग किये गये हैं, दैनिन्दिनी शैली, वर्णन शैली तथा अन्य कई शैलियों का समिश्रण किया गया है। अनेक प्रकार से द्विवेदी जी की यह रचना मौलिक और चमत्कारपूर्ण है।

प्रबंध चिन्तामणि में एक कहानी दी गई है कि वासुकि नाग के पुत्र नागार्जुन ने आचार्य पादलिप्तक (पालित्तिय) से पहले आकाश-गमन की विद्या सिद्ध की, फिर गुरु मुख से सुन कर कोटि वेधि रस सिद्धि करने के प्रयत्न में सातवाहन की एकमात्र रानी, समस्त स्त्री गुणों से विभूषित चन्द्रलेखा की सहायता प्राप्त की। परन्तु चन्द्रलेखा के दोनों पुत्रों न षड्यंत्र कर रस सिद्धि हो जाने के पश्चात् कुशास्त्र से नागार्जुन का वध कर डाला। इसी कथा का आधार ग्रहण कर द्विवेदी जी ने एक ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास की रचना की है जिसमें ईसा की तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारतीय इतिहास की राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक हलचलों का एक जीवित चित्र प्राप्त होता है। पृथ्वीराज, जयितचन्द्र, परमर्दिदेव की अर्द्ध निजंधरी तथा अर्द्ध-ऐतिहासिक महावीरों की कथा को, जैसा कि **पृथ्वीराज रासो** पुरातन प्रबंध संग्रह तथा अन्य समसामयिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, पूव पीठिक बना कर उनमें आये कतिपय विशिष्ट पात्रों—यथा जयभिचन्द्र के सर्वमुद्राधिकारी विद्याधर भट्ट, परमर्दिदेव के चारण जगनायक, **पृथ्वीराज रासो** के रचयिता चंदबलिदय के सुपुत्र जल्हन जिन्होंने रासो को पूरा किया तथा पृथ्वीराज तथा जयिभचन्द्र के दरबार की शोभा राजनर्तकी करनाटी के उत्तरकालीन जीवन की संगति मिलाते हुए, सातवाहन, चन्द्रलेखा, मैना अथवा मैनसिंह, बोधा प्रधान तथा अलहना बघेला जैसे काल्पनिक पात्रों के योग से एक विशिष्ट सांस्कृतिक उपन्यास की रचना की गयी है।

२—**कहानी** :—हिन्दी कहानी के विकास क्रम के सम्बन्ध में श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का निम्नलिखित सिंहावलोकन विचारणीय है :

"प्रेमचंद के हिन्दी में कहानी लिखना प्रारंभ करने से कुछ ही समय पूर्व जयशंकर 'प्रसाद' और चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' कहानियाँ लिख रहे थे। इस तरह इन तीनों को एक तरह से समकालीन कहा जा सकता है।

"हिन्दी कहानी की दृष्टि से इस सदी की तीसरी और चौथी दशाब्दियाँ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। तीसरी दशाब्दी (१९२१-१९३१) में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', सुदर्शन, चतुरसेन शास्त्री, शिवपूजन सहाय, रायकृष्ण दास, भगवती प्रसाद वाजपेयी, उग्र आदि प्रतिभाएँ भी हिन्दी कहानी को प्राप्त हुई जिन्होंने हिन्दी कहानी को खूब समृद्ध किया। हमारी राय से बीसवीं सदी का चौथा दशक (१९३१-१९४०) हिन्दी कहानी का सर्वश्रेष्ठ काल था, जब पूर्वोक्त लेखकों के अतिरिक्त जैनेन्द्र कुमार, अज्ञेय, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, कमला चौधरी, विष्णु प्रभाकर, अश्क, उषादेवी मित्रा, सत्यवती मल्लिक, मन्मथनाथ गुप्त आदि हिन्दी कहानी में नये नये तत्वों का समावेश करने लगे। इन दो दशकों में हिन्दी कहानी जैसे एक सदी की मंजिल पार कर गई और हमारी धारणा है कि १९३९ में हिन्दी कहानी विश्व-कहानी की तुलना में नगण्य नहीं रही थी। हिन्दी कहानी का स्थान यथेष्ट सम्माननीय हो गया था।

"यह एक आश्चर्य की बात है कि प्रथम महायुद्ध के साथ-साथ जिस हिन्दी कहानी में असाधारण जीवन और निखार आया था वही हिन्दी कहानी दूसरे महायुद्ध से कुण्ठित होने लगी। सन् १९३९ से १९५० तक के काल में एक स्पष्ट और लम्बा गत्यवरोध हिन्दी कहानी में दिखाई देता है। हमारे कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि उस युग में अपेक्षाकृत कम कहानियाँ लिखी गई; अपितु हमारी उक्त स्थापना का अभिप्राय यह है कि इस युग में हिन्दी कहानी का स्तर न सिर्फ ऊँचा न हो पाया, बल्कि सब मिला कर हिन्दी कहानी का स्तर कुछ गिर ही गया।

"वर्तमान दशक में हिन्दी कहानी में फिर से गति दिखाई देने लगी है। कितने ही श्रेष्ठ नये कहानी लेखक इस दशक में हिन्दी को उपलब्ध हुए हैं: मोहन राकेश, अमृत राय, रामकुमार, भीष्म साहनी, कृष्ण बलदेव वैद, राजेन्द्र यादव, कृष्ण सोबती, कमलेश्वर, शेखर जोशी, ओम्प्रकाश श्रीवास्तव आदि। इन नये लेखकों से हिन्दी कहानी को निस्सन्देह नया बल मिला है।"

एक अन्य लेखक ने नयी कहानी के प्रमुख लेखकों तथा उनकी प्रधान कृतियों की और अधिक लम्बी सूची प्रस्तुत की है जिसे हम नीचे दे रहे हैं:

"नई पीढ़ी के कहानीकारों में कमल जोशी ("पत्थर की आँख", "चार के चार", "फूलों की माला"); धर्मवीर भारती ("चाँद और टूटे हुए लोग"); देवेन्द्र इस्सर ("फूल, बच्चा और जिन्दगी"); रामकृष्ण ("अपना राज, अपने आदमी"); नमिता लुम्बा ("जिन्दगी के अनुभव"); राजेन्द्र यादव ("खेल-

खिलौने"); ओंकार शरद ("झपकियाँ"); विष्णु प्रभाकर ("संघर्ष के बाद"); कृष्णचन्दर ("पाँच रुपये की आजादी"); मोहन सिंह सेंगर ("नरक का न्याय"); मन्मथ नाथ गुप्त ("बलि का बकरा", "रक्त के बीज"); देवीदयाल चतुर्वेदी मस्त ("हवा के रुख"); शिवप्रसाद सिंह ("आर पार की माला"); हरिशंकर परसाई ("हँसते हैं रोते हैं"); मार्कण्डेय ("पान फूल", "महुए का पेड़"); आदि हैं जो इस क्षेत्र में तेजी से आगे बढ़ रहे हैं।"

इन नये लेखकों के अतिरिक्त उपेन्द्रनाथ 'अश्क', 'अज्ञेय', यशपाल आदि पुराने लेखकों ने भी १९५० के बाद ऐसी अनेक कहानियाँ लिखी हैं जिनमें पर्याप्त नवीनता है। नवीनतम हिन्दी कहानी में आधुनिकता के लक्षण सर्वाधिक स्पष्ट रूप में प्रगट हुए हैं। कहानी स्वभाव से ही सार्वभौम होती है और फलतः विभिन्न देशों में लिखी हुई कहानियों में आश्चर्यजनक एकरूपता मिलती है। इसीलिए आज की हिन्दी कहानी ने अन्तर्राष्ट्रीय तत्वों और प्रभावों को बड़ी सरलतापूर्वक ग्रहण कर लिया है। कहानी के क्षेत्र में विभिन्न प्रकार के नये प्रयोग किये जा रहे हैं। ये प्रयोग विषय चयन, वस्तु निर्माण, चरित्र चित्रण, वातावरण सभी से संबंधित हैं। पिछले दशकों में सामाजिकता पर विशेष आग्रह था और प्रेमचंद से प्रभावित कहानियों का स्वर सामान्यतः आदर्शवादी होता था। अद्यतन काल में विशेष आग्रह मनोविज्ञान तथा वैयक्तिक समस्याओं पर है। मानसिक द्वन्दों और कुंठाओं का चित्रण खुलकर हुआ है और जब कभी पारिवारिक जीवन का निरूपण हुआ है उसमें भी मनोवैज्ञानिक शैली को ही आधार बनाया गया है। शिल्प विधान में नवीनता विशेष रूप से परिलक्षित हुई है। एक अनुभव, एक मानसिक उलझन, अथवा किसी लघु समस्या को लेकर ऐसी कहानियों का निर्माण किया जाता है जिनमें वातावरण का विशेष महत्व होता है। उपन्यास में मनोविज्ञान और सिनेमा से प्राप्त जिन नवीन साधनों का उपयोग हो रहा है उन्हीं की सहायता कहानी लेखन में भी ली जा रही है। फलतः अभिव्यक्ति की नवीन शैली विकसित हो रही है।

३. **निबन्ध**—हिन्दी निबंध ने पिछले चौदह-पन्द्रह वर्षों में कोई विशेष प्रगति नहीं की है। न तो उसमें नवीन प्रवृत्तियाँ ही प्रगट हुई हैं और न लेखकों की नई पौध का आविर्भाव ही हुआ है। इस काल के प्रमुख निबंध कार प्रायः वे ही हैं जो पूर्ववर्त्ती दो-तीन दशकों में लिखते रहे हैं। इस गत्यवरोध का कारण अन्तर्राष्ट्रीय है। वर्तमान शताब्दी के प्रथम दो-तीन दशकों में स्पेन, इंगलैंड, फ्रांस आदि समुन्नत देशों में विशिष्ट निबंधों की रचना प्रचुर परिमाण में हुई। उन दशकों को हम निबंध लेखन का स्वर्ण युग कह सकते हैं। तदुपरान्त निबंध ह्रासोन्मुख हो गया और अब यह प्रश्न विचारणीय हो गया है कि निबंध लेखन का उद्धार किस प्रकार किया

जाय। कुछ ऐसी ही बात हिन्दी निबंध लेखन के बारे में भी सही है।

विवेच्य काल के निबंध लेखकों में स्वर्गीय बाबू गुलाब राय, भदन्त आनंद कौसल्यायन, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। बाबू गुलाब राय के निबंध संग्रह हैं **फिर निराशा क्यों** ? और **मेरी असफलताएँ**। इन सभी निबंधों में शैलीगत चमत्कार परिलक्षित हुआ है। व्यंग और विनोद के कारण उनमें विशेष रोचकता आ गई है। गंभीर विषयों को भी मनोरंजक शैली में व्यक्त किया गया है। यह लेखक के जिन्दादिली का प्रमाण है। भदन्त आनंद कौसल्यायन के अधिकांश निबंध गंभीर विषयों पर हैं किन्तु लेखक का अपना निजी दृष्टिकोण है जिसके कारण प्रभावोत्पादकता बढ़ गई है। इनके निबंध-संग्रहों के नाम हैं : **जो भूल न सका** और **रेल का टिकट**। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के तीन निबंध संग्रह प्रकाशित हुए हैं, **विचार और वितर्क, कल्पलता,** तथा **अशोक के फूल**। द्विवेदी जी ने गंभीर विषयों पर भी निबंध लिखे हैं किन्तु उनके सर्वाधिक सफल निबंध **अशोक के फूल** में संकलित हैं। उत्कृष्टता की दृष्टि से द्विवेदी जी के कुछ निबंध उच्चतम कोटि में स्थान पाने योग्य हैं। शान्तिप्रिय द्विवेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी आदि ने भी कुछ अच्छे निबंध लिखे हैं। जीवन की समस्याएँ दिन प्रतिदिन गंभीर होती जा रही हैं तथा पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक उलझनें बढ़ती जा रही हैं। फलतः हल्के कलात्मक निबंधों के लिखने की हमारी क्षमता क्षीण होती जा रही है। आज की पत्र-पत्रिकाओं में या तो गंभीर समीक्षाएँ प्रकाशित होती हैं अथवा राजनीतिक विषयों पर टिप्पणियाँ। कलात्मक वैशिष्ट्य रखने वाले वैयक्तिक निबंधों का प्रचलन घटता जा रहा है।

४. **समीक्षा** : इस काल में साहित्यिक समीक्षा ने संतोषप्रद उन्नति की है। नेतृत्व उन्हीं विशिष्ट विद्वानों के हाथ में है जिनका उल्लेख हम पिछले प्रकरण में कर आये हैं; बाबू गुलाब राय, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि। बाबू गुलाब राय की **रस मीमांसा** अत्यन्त स्पष्ट एवं विद्वत्तापूर्ण है। डा० नगेन्द्र भी मूलतः रसवादी है यद्यपि इनकी समीक्षा में भारतीय तथा पाश्चात्य तत्वों का सहज सम्मिश्रण मिलता है। उनका दृष्टिकोण संतुलित है तथा उनकी व्याख्याएँ बड़ी ही साफ होती हैं। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का दृष्टिकोण मानववादी है और उन्होंने साहित्य को मानव जीवन और मानव व्यक्तित्व के संदर्भ में ही रख कर उसका मूल्यांकन किया है। उनके आलोचनात्मक लेखों में वही सहृदयता एवं सौष्ठव देखने को मिलता है जिनके कारण उनके उपन्यास एवं निबंध रोचक और लोकप्रिय बन गये हैं। भारतीय एवं पाश्चात्य तत्वों का उत्कृष्ट समन्वय आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की समीक्षा में मिलता है। वे मौलिक ढंग से साहित्यिक कृतियों को देखते और

परखते हैं; अतः उनके निबंधों में चमत्कारपूर्ण नवीनता मिलती है। अपने विश्वासों और निष्कर्षों को वे आग्रहपूर्वक प्रस्तुत करते हैं किन्तु उनमें न तो संतुलन की कमी है और न उदारता की। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र प्राचीन साहित्य के पण्डित हैं ही, उनके आधुनिक साहित्य सम्बन्धी लेख भी उनकी सुरुचि और गंभीर ज्ञान के द्योतक हैं। उनका **रामचरित मानस** का नवीन संस्करण अत्यन्त आधिकारिक है और उसको तैयार करके मिश्र जी ने हिन्दी साहित्य की वहुत वड़ी सेवा की है। इन विद्वानों के निर्देशन में पिछले वर्षों में प्रभूत शोध कार्य हुआ है जिससे साहित्यिक अध्ययन और मूल्यांकन का कार्य सुगम हो गया है।

नव्य हिन्दी समीक्षा सामान्यतः दो धाराओं में प्रवाहित हो रही है। पहली धारा के प्रतिनिधि लेखक हैं स्वर्गीय डा० रांगेय राघव, डा० रामविलास शर्मा, श्री शिवदान सिंह चौहान तथा श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त। इन सभी विद्वानों का दृष्टि-कोण मूलतः मार्क्सवादी है और इन्होंने साहित्यिक मूल्यांकन का प्रतिमान उसी दृष्टिकोण से निर्धारित किया है। वे साहित्य का सीधा सम्बन्ध समाज और उसकी समस्याओं से मानते हैं और उनकी निश्चित धारणा है कि साहित्य मानव प्रगति में सहायक सिद्ध होता है, वह केवल उपभोग और आनंद का साधन मात्र नहीं है। उपर्युक्त सभी विद्वानों ने समीक्षा के क्षेत्र में स्तुत्य कार्य किया है और उनके लेखों में उनके पाण्डित्य एवं उनके सुदृढ़ विश्वासों की छाप सर्वत्र दिखाई देती है। दूसरी धारा के अग्रगण्य लेखक हैं श्री अज्ञेय। इस समुदाय के लेखकों ने पाश्चात्य समीक्षा में प्रचलित विश्लेषण, व्याख्या तथा मूल्यांकन की सम्मिलित शैली अपनाई है। इनका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी है और काव्य कृति को ही ये समीक्षा का मुख्य विषय मानते हैं; उसी के विश्लेषण की नई पद्धतियाँ अपनाई गई हैं, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, व्यवस्थामूलक विश्लेषण तथा शाब्दिक विश्लेषण। अनेक नवीन लेखकों ने इस परिपाटी पर अच्छा कार्य किया है; किन्तु यह मानना अनुचित न होगा कि इस नयी समीक्षा का रूप मूलतः सामुदायिक है अर्थात् मूलभूत सिद्धान्तों और नियमों को एक विशिष्ट समुदाय ने विज्ञापित किया है जिसके अन्तर्गत अनेक प्रतिभा सम्पन्न लेखक आ जाते हैं। किन्तु श्री अज्ञेय को छोड़ कर अन्य किसी समी-क्षक का नामोल्लेख आवश्यक प्रतीत नहीं होता। हाँ यह लिख देना उचित है कि डा० देवराज का चिन्तन नयी समीक्षा के प्रसंग में विशेष महत्व रखता है।

सन् १९५० के अनन्तर कतिपय पत्रिकाओं ने हिन्दी समीक्षा की प्रगति में महत्वपूर्ण योगदान किया है। 'अज्ञेय' द्वारा सम्पादित 'प्रतीक' कुछ दिन निकल कर बंद हो गया किन्तु अपने लघु जीवन काल में उसने एक विशिष्ट दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व किया। दिल्ली से प्रकाशित होने वाली त्रैमासिक पत्रिका 'आलोचना' ने अपने चार-पाँच साल के जीवन काल में हिन्दी साहित्य की वहुत बड़ी सेवा की।

उसके सम्पादक क्रमशः श्री शिवदान सिंह चौहान, भारती—साही—सर्वेश्वर दयाल सक्सेना तथा आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी हुए और सम्पादकों के परिवर्तन के साथ पत्रिका की नीति भी बदलती रही। किन्तु सामान्यतः हम कह सकते हैं कि 'आलोचना' में प्रकाशित गंभीर निबंधों तथा सम्पादकीय टिप्पणियों ने अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों पर पाठकों का ध्यान केन्द्रित किया और हिन्दी समीक्षा को समृद्ध बनाया। डा० रामविलास शर्मा द्वारा सम्पादित आगरा से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'समालोचक' भी विशेष उल्लेखनीय है। उसमें प्रकाशित निबंधों का स्तर भी ऊँचा था और कई महत्वपूर्ण सम्पादकीय लेख भी प्रकाशित हुए। लखनऊ से निकलने वाली मासिक पत्रिका 'युग चेतना' की नीति अत्यन्त उदार थी और उसमें सभी श्रेणियों के उत्कृष्ट आलोचनात्मक निबंध प्रकाशित होते थे। खेद का विषय है कि ये सभी पत्रिकायें थोड़े ही दिन प्रकाशित होकर बन्द हो गईं।

५. नाटक : १९५० के उपरान्त आने वाले वर्षों में हिन्दी नाटकों ने किसी विशेष प्रगति अथवा परिवर्तन का परिचय नहीं दिया है। 'प्रसाद' ने जिस स्वच्छन्दतावादी ऐतिहासिक परम्परा का प्रारंभ किया था वह आज भी सजीव और सबल है। फलतः पिछले पन्द्रह वर्षों की प्रमुख नाट्य रचनायें अधिकाँशतः ऐतिहासिक हैं। इतिहास के सुविख्यात पात्रों तथा सुपरिचित घटनाओं के आधार पर लिखे हुए नाटकों का स्वर सामान्यतः रोमाण्टिक एवं आदर्शवादी है। वर्तमान शताब्दी के तीसरे और चौथे दशकों में जिस प्रकार के समस्यामूलक नाटकों का प्रचलन बढ़ गया था वे इस समय नहीं लिखे जा रहे हैं। विदेशों में भी उनकी परम्परा प्रायः लुप्त हो चली है। अतएव हिन्दी में उनका न लिखा जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। पाश्चात्य देशों में मनोविज्ञान तथा अभिव्यंजनवाद के प्रभाव से जिस प्रकार के नवीन नाटकों का सृजन हुआ है उनका हिन्दी में नितान्त अभाव है। हिन्दी नाटक की प्रगति अवरुद्ध है और विषय तथा शैली की पुनरावृत्ति के कारण इसकी अवस्था विशेष संतोषजनक नहीं दिखाई देती। इस गत्यवरोध का विशेष कारण यह है कि हिन्दी रंगमंच अभी तक विकसित नहीं हो पाया है और यदि पाश्चात्य शैली पर नव्यतम् कोटि के नाटक लिखे जायँ तो उनके प्रदर्शन की व्यवस्था नहीं हो सकेगी। इसके अतिरिक्त यह मानना पड़ेगा कि 'प्रसाद' के पश्चात् हिन्दी में कोई ऐसा नाटक प्रणेता अभी तक नहीं उत्पन्न हुआ है जो अभावों तथा बाधाओं के रहते हुए भी उत्कृष्ट रचनाएँ प्रस्तुत करने में सक्षम हो। १९५० के पश्चात् लिखे जाने वाले हिन्दी नाटकों का संक्षिप्त उल्लेख मात्र पर्याप्त होगा। श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने इस काल में तीन विशिष्ट नाटक लिखे हैं : **'शपथ'**, **'संवत-प्रवर्त्तन'** और **'ममता'**। इनमें से प्रथम दो ऐतिहासिक हैं और लेखक के लोकप्रिय नाटक **'रक्षा-बन्धन'** के समकक्ष रखे जा सकते हैं। 'प्रेमी' जी के नाटकों का क्षेत्र अत्यन्त प्रशस्त

है क्योंकि उन्होंने शकों और हूणों से लेकर मुगलों तक के काल का निरूपण किया है। ये सभी नाटक भाव-प्रवण और कल्पना के रँग में रंगे हुए हैं। लक्ष्मीनारायण मिश्र के नये नाटक 'वितस्ता की लहरें' और **'दशाश्वमेध'** जयशंकर 'प्रसाद' की परम्परा के अन्तर्गत आ जाते हैं क्योंकि इनका स्वरूप ऐतिहासिक है और दोनों नाटक समकालीन सांस्कृतिक व्यवस्था के चित्रण के उद्देश्य से लिखे गये हैं। मिश्र जी की नाटच-रचना शैली में अब नया मोड़ आ गया है। यथार्थ मूलक समस्यावादी नाटकों से हट कर वे स्वच्छन्दतावादी नाटच पद्धति की ओर उन्मख हुए हैं। सेठ गोविन्द दास के नाटक **रहीम** और **भारतेन्दु** दो महान साहित्यिकों के जीवन वृतान्त पर आधारित हैं और उनमें चरित्र-चित्रण चमत्कार पूर्ण रीति से हुआ है। श्री वृन्दावनलाल वर्मा की नवीन नाटच रचनाएँ **बीरबल, निस्तार, ललित-विक्रम** और **झाँसी की रानी** लेखक की पुरानी रचनाओं से मिलती-जुलती हैं। वर्मा जी के उपन्यासों और नाटकों में इतिहास और लोक जीवन के परिवेश में वैयक्तिक भावनाओं का सुन्दर चित्रण हुआ है। प्रभाव स्पष्टत: स्वच्छन्दतावादी है; यद्यपि लोक-जीवन का यथार्थ निरूपण भी हुआ है। सर्वदानंद के दोनों नाटक **भूमिजा** और **चेतसिंह** रंगमंच के उपयुक्त हैं और उनका सफल अभिनय भी हुआ है। इस काल के नाटकों में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' प्रणीत **अंजो दीदी** का विशेष महत्व है। इस नाटक में वैयक्तिक समस्याओं को रचना का आधार बनाया गया है। अभिनेयता और चरित्र चित्रण की दृष्टि से यह नाटक उत्तम है तथा कथोपकथन में व्यंग के कारण विशेष रोचकता आ गई है। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने **'न्याय की रात'** में प्रशासन में प्रचलित भ्रष्टाचार का उद्घाटन प्रभावोत्पादक ढंग से किया है। इस कालावधि का एक अत्यन्त उत्कृष्ट नाटक **आषाढ़ का एक दिन** है। संवेदनाओं के चढ़ाव-उतार तथा वातावरण के सुन्दर निर्माण के कारण यह नाटक बहुत ही आकर्षक बन गया है। कालिदास का चरित्र चित्रण नये ढंग से किया गया है और मल्लिका की जीवन कथा करुणा से ओतप्रोत है।

६. एकांकी नाटक : एकांकियों के क्षेत्र में इन वर्षों में केवल इने-गिने नवीन लेखकों का प्रवेश हुआ है। मुख्य रूप से पूर्ववर्त्ती दशक में लिखने वाले रचनाकार ही विवेच्च काल में भी सक्रिय रहे हैं। विषय भी वही पुराने हैं : मध्यवर्गीय जीवन और उससे सम्बंधी सामाजिक और पारिवारिक समस्याएँ। शैली में हास्य और व्यंग का सम्मिश्रण अधिकांश एकांकियों में मिलता है। रेडियो-नाटच के बढ़ते हुए प्रचलन ने एकांकियों की लोकप्रियता तथा शिल्पविधान को प्रभावित किया है।

डा० रामकुमार वर्मा ने पिछले वर्षों में नये एकांकियों की रचना नहीं की है किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से उनका उल्लेख आवश्यक है। श्री जगदीशचन्द्र माथुर ने **भोर का तारा** तथा अपने नये एकांकी संग्रह **ओ मेरे सपने** में सफल एकांकी लेखन

का उच्च आदर्श प्रस्तुत किया है। उनकी शैली, सफाई और स्फूर्ति के कारण एकांकी के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। श्री माथुर की रचनाओ मे बोझिलता कही नही आने पाई है ओर सर्वत्र रोचकता व्याप्त रहती है। सेठ गोविन्द दास एक अन्य सफल एकाकी लेखक है। उनकी कृतियो मे सतुलन और शैलीगत परिष्कार के लक्षण सदैव विद्यमान रहते हे। आज के एकाकी लिखने वालो मे उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उनके बहुसख्यक एकाकियो मे मुख्यत सामाजिक समस्याओ को ही विषय बनाया गया है। 'अश्क' जी ने रोचक परिस्थितियो, हास्य, व्यग आदि का अपने एकाकियो मे सुन्दर उपयोग किया है। उदयशकर भट्ट के एकाकी यथार्थ जीवन तथा उसकी सामाजिक और आर्थिक समस्याओ पर आवृत रहते है। श्री विष्णु प्रभाकर के एकाकी सग्रह **क्या वह दोषी था?** मे मनोवैज्ञानिक तथा रेडियो नाटय शैली पर लिखे हुए एकाँकी सकलित है।

७ **कविता** १९५० के पश्चात् हिन्दी कविता का सतोषप्रद विकास हुआ है और उसमे स्थिरता, एकरूपता, वैविध्य, तथा समृद्धि के लक्षण प्रगट हुए है। समष्टि मे देखने पर उसका चित्र अनेक रगो से भरा हुआ और आकर्षक प्रतीत होता है। पुराने युगो के मैथिलीशरण गुप्त तथा माखनलाल चतुर्वेदी ऐसे वयोवृद्ध कवि जीवित हे और यदा कदा काव्य रचना करते रहते है। छायावाद काल के महारथियो मे पत और महादेवी वर्मा की प्रतिभाएँ अब भी अकुठित बनी हुई है। 'निराला' का देहावसान कुछ वर्षो पूर्व हो गया और उसी के लगभग श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का भी निधन हुआ। इन दो यशस्वी कवियो के न रहने से हिन्दी साहित्य की बहुत बडी क्षति हुई है। छायावाद काल की प्रवृत्तियाँ अब भी जीवित है और कई प्रतिष्ठित कवियो की रचनाओ मे परिलक्षित होती रहती है। प्रगतिवादी परम्परा जिसका सूत्रपात सन् १९४० के लगभग हुआ था अब भी सजीव है, यद्यपि पूर्ववर्त्ती दशको की अपेक्षा अब उसकी लोकप्रियता घट गई हे। प्रयोगवाद की क्रियाशीलता अब भी अक्षुण्ण बनी हुई है तथा ऐसी रचनाओ मे नवीनतम प्रयोगो की झलक दिखाई देती है। प्रयोगवाद की आत्यतिक अवस्था प्रपत्तिवाद मे देखने को मिली। 'नकेन' अथवा प्रपत्तिवाद को बिहार के तीन कवियो ने विज्ञापित किया। उनका दावा हे कि उनकी कविता परम्परागत मार्ग से बिलकुल अलग होकर केवल प्रयोगो के बल पर जीवित रह कर अपना प्रभाव उत्पन्न करती है। विवेच्य काल मे कई आख्यानक-काव्य लिखे गये है और अध्यात्मपरक काव्य की रचना भी हुई है। 'दिनकर', 'बच्चन', 'पत' आदि ने नवीन आदर्शो एव उद्देश्यो से प्रेरित विस्तृत काव्य रचनाए इस काल मे प्रस्तुत की है जो काव्य-सौष्ठव और विषयवस्तु की नवीनता के कारण विशेष विचारणीय है।

इस वैविध्य के बीच कविता की जो नई धारा प्रवाहित होती आयी है, सर्व-

प्रथम हमे उस पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए । **'तार सप्तक'** की चर्चा हम पिछले प्रकरण मे कर आये है । हिन्दी मे प्रयोगवाद का सूत्रपात उस काव्य सग्रह के प्रकाशन के साथ हुआ, यद्यपि प्रयोग कुछ पहले से होते आये थे । **तार सप्तक** के सभी कवियो ने प्रयोग, अन्वेषण आदि पर बल दिया और नये रास्ते ढूढ निकालने का अपना सकल्प भी व्यक्त किया । उनकी धारणाओ के अनुरूप नई विशेषताएँ उनकी रचनाओ मे भी प्रगट हुई । **तार सप्तक** के प्राय सभी कवि अब भी काव्य रचना मे सलग्न है । गिरिजा कुमार माथुर के काव्य सग्रह **धूप के धान** के निरीक्षण से पता चलता है कि रोमाँटिक प्रवृत्तियाँ अब अपेक्षाकृत सयत हो चली है किन्तु अन्य विशेषताए वैसी ही बनी हुई है जैसी वे कवि की पूर्ववर्त्ती रचनाओ मे प्रगट हुई थी । लय, बिम्ब, आर शब्द योजना मे गिरिजा कुमार माथर का कोशल बेजोड है । श्री अज्ञेय प्रयोगवादी शाखा के अग्रगण्य कवि है । उनकी काव्य-प्रतिभा अत्यन्त उच्च कोटि की है ओर उनकी रचनाए अपना निजी वैशिष्टय रखती है । प्रकृति और प्रेम ने अज्ञेय का ध्यान सदैव आकृष्ट किया है किन्तु १९५० के बाद लिखी हुई उनकी कविताओ मे प्रतीकत्व और रहस्य भावना का समावेश अधिकाधिक हुआ है । उनके नवीनतम काव्य सग्रह **आँगन के पार द्वार** मे सकलित कविताएँ इस नवीन विकास के अच्छे उदाहरण प्रस्तुत करती है । असाध्य वीणा का प्रतीक-विधान अत्यन्त सफल है तथा चक्रान्त-शिला मे रहस्य भावना की अभिव्यक्ति हुई है । अज्ञय ने बिम्बो की अपेक्षा प्रतीको का ही अधिक उपयोग किया है । उनकी काव्य शैली मे आकर्षक नवीनता है । उसमे स्वाभाविकता और परिष्कार का सहज सम्मिश्रण हुआ है ।

दूसरा सप्तक सन् १९५१ मे प्रकाशित हुआ और उसके प्राय सभी कवि पिछले वर्षो मे सक्रिय रहे है । भवानी प्रसाद मिश्र की नई कविताओ मे प्रकृति-प्रेम, सामाजिक चेतना, और कवि के सरल व्यक्तित्व का सम्मिश्रण पूर्ववत् बना हुआ है । प्रयोगो की दृष्टि से शमशेर बहादुर सिह का विशेष महत्त्व है । उन्होने विषय वस्तु, छन्द विधान, लयनियोजना, पदविन्यास सभी मे नयी खोज की है ओर फलत उनकी रचनाएं आधुनिकता से परिपूर्ण हे । धर्मवीर भारती के कई नये सग्रह निकले है, **अधा युग, सात गीत वर्ष, कनुप्रिया** और **ठडा लोहा** । भारती के काव्य-शिल्प मे अनोखापन है । उनकी रचनाओ मे विचारो का आग्रह निरन्तर बढता गया है और कवि ने प्राचीन और नवीन समस्याओ को नई दृष्टि से देखने का प्रयास किया है ।

तीसरा सप्तक १९५९ मे प्रकाशित हुआ । **दूसरा सप्तक** और **तीसरा सप्तक** के प्रकाशित होने मे लगभग आठ वर्षो का अन्तर था । इन आठ वर्षों मे हिन्दी कविता का एक नवीन उन्मेष अथवा उत्थान प्रकट हुआ जिसे 'नई कविता' की सज्ञा मिली ।

इन वर्षों में प्रगतिवादी काव्य का प्रचलन ढलने लगा और उसके प्रमुख कवियों में प्रयोगात्मकता परिलक्षित हुई। प्रयोगवादी कविता अपने मार्ग पर अग्रसर हुई किन्तु उसमें शनैः शनैः सामाजिकता का समावेश होने लगा। पहले तो प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कविता दो पृथक-पृथक आयामों में विकसित हो रही थी, अर्थात् समाजवादी और व्यक्तिवादी आयाम। १९५० और १९६० के बीच वाले दशक में दोनों का व्यवधान मिटने लगा और वे एक दूसरे के निकट आने लगे। फलतः हिन्दी कविता का विभाजन मिटा और स्थिरता और एकरूपता के दर्शन हुए। नई कविता में इस संयोग के लक्षण दिखाई देते हैं; यद्यपि उसमें प्रमुखता व्यक्तिवादी स्वर की ही सुनाई पड़ती है। नई कविता अनेक बातों में नई है। परम्परा से काव्यधारा शृंगारिकता के वशीभूत होकर संयोग और वियोग के उभय दुकूलों के अन्तर्गत प्रवाहित होती आयी थी। शृंगारिकता का यह मोह नई कविता में नहीं दिखाई देता है और विषय-चयन में उसमें सर्वत्र उदारता एवं स्वतंत्रता के दर्शन होते हैं। नई कविता के लेखकों ने वस्तु नियोजना में भी पर्याप्त स्वतंत्रता दिखाई है। उनका शिल्प नया है किन्तु यह कहना कि उनकी रचनाओं में समुचित साधारणीकरण नहीं हुआ है, ठीक नहीं होगा। पाश्चात्य नई कविता के सिद्धान्तों से गहराई तक प्रभावित होने के कारण वे कविता में जटिलता एवं स्पष्टता को दोष नहीं, अपितु गुण मानते हैं। अज्ञेय ने **तीसरा सप्तक** की भूमिका में लय, शब्दों के स्वभाव, और प्रयोग आदि के बारे में जो बातें लिखी हैं वे प्रायः सभी टी० एस० इलियट, आई० ए० रिचर्ड्स, तथा उनके अनुयायियों के लेखों में मिलती हैं। इसी प्रकार नई कविता का बिम्बवाद तथा क्षणवाद भी पाश्चात्य स्रोतों से आया है। कुँवर नारायण प्रतिभा सम्पन्न और कुशल कवि हैं किन्तु अपने वक्तव्य में कविता के आन्तरिक संगठन और व्यवस्था की जो बात उन्होंने उठाई है वही टी० एस० इलियट की काव्य सम्बन्धी प्रमुख स्थापना है। शिल्पतंत्र में 'फ्री एसोसियेशन' तथा मनोविज्ञान से प्राप्त अन्य साधनों से काम लिया गया है। कहने का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि नई कविता अनुकरणात्मक है और उसमें मौलिकता नहीं है। हम केवल उसकी नवीनता की चर्चा कर रहे हैं और इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं कि हिन्दी की नई कविता और अंग्रेजी के आधुनिकतम काव्य में पर्याप्त साम्य है। निष्पक्ष भाव से देखने पर यह मानना पड़ेगा कि बाह्य-प्रभाव और प्रेरणा के आधार पर हमारे कवियों ने अपनी प्रतिभा के बल से हिन्दी कविता को एक नया रूप दिया है।

तीसरा सप्तक के सभी कवियों ने अपने अपने वक्तव्य में नई कविता की व्याख्या प्रस्तुत की है और प्रत्येक ने अपनी विशिष्ट अभिरुचि के अनुसार किसी एक बात पर विशेष बल दिया है। कीर्ति चौधरी की सहज अनुभूति और अभिव्यक्ति मन को

मुग्ध कर देनेवाली है। मदन वात्स्यायन ने औद्योगिक वातावरण में रहकर जीवन को नई दृष्टि से देखा है और अपनी प्रतिक्रियाओं को व्यंग्यपूर्ण शैली में प्रकट किया है। केदारनाथ सिंह ने मुख्यतः बिम्ब और लय को अपनी रचनाओं में नियोजित करने का प्रयास किया है और उनका प्रयास बहुत कुछ सफल हुआ है। कुँवर नारायण को उत्कृष्ट काव्यप्रतिभा मिली है और उनका रचना-कौशल भी स्तुत्य है। वे कविता में विचार और आन्तरिक संगठन को सर्वाधिक मूल्यवान मानते हैं। तब भी उनकी कई रचनाओं में सुन्दर बिम्बविधान मिलता है। विजयदेव नारायण साही की कविता में उनकी आस्था भलीभाँति मुखरित हुई है और उनकी रचना शैली में चमत्कार-पूर्ण नवीनता है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने मुक्त छन्द, स्वतंत्र अभिव्यक्ति, और लोकगीतों के आधार पर अपने लिए एक नया रास्ता बना लिया है। प्रयागनारायण त्रिपाठी ने काव्याभिव्यक्ति और कविता के उद्देश्य के सम्बन्ध में मौलिक चिन्तन किया है और इन विचारों की छाप इनकी कविता में मिलती है।

हिन्दी कविता के विकास क्रम में नई कविता का इस समय केन्द्रीय स्थान है किन्तु यह स्मरणीय है कि उसके परिपार्श्व में अन्य प्रकार की उत्कृष्ट काव्य-रचना हुई है। पूर्ववर्ती दशकों से चली आनेवाली अनेक प्रवृत्तियाँ सजीव एवं सचेष्ट हैं और अनेक ऐसे समृद्ध-प्रतिभासम्पन्न कवियों ने पिछले पन्द्रह वर्षों में महत्त्वपूर्ण काव्यसर्जन किया है, जो नई कविता की प्रधान विशेषताओं से असम्पृक्त है। प्रगतिवाद का प्रभाव अपेक्षाकृत सीमित हो गया है किन्तु कम से कम दो प्रगतिशील कवि ऐसे हैं जिनका उल्लेख यहाँ आवश्यक है। पिछले कुछ वर्षों में नागार्जुन के दो संग्रह प्रकाशित हुए हैं, **युगधारा** तथा **सतरंगे पंखोंवाली**। इनमें संकलित रचनाओं की वही विशेषताएँ हैं जो पूर्ववर्ती रचनाओं की थीं, अर्थात् साम्यवादी दृष्टि से सामान्यजनों के जीवन का यथार्थ चित्रण हुआ है। शैली अनगढ़ है किन्तु अनेक स्थलों पर काव्यात्मक प्रभाव सघन होकर समाविष्ट हुआ है। इस काल में केदारनाथ अग्रवाल के तीन संग्रह प्रकाशित हुए हैं, **युग की गंगा**, **नींद के बादल**, तथा **लोक और अलोक**। शुरू में केदारनाथ अग्रवाल ने लोकजीवन और लोकगीतों से प्रेरणा ग्रहण की, किन्तु उनकी रचनाओं में अधिकाधिक परिष्कार और कलात्मक सौष्ठव प्रगट होता आया है। उनकी लघु कविताओं में विशेष आकर्षण है। **दिगन्त** में त्रिलोचन ने अपने सानेटों को संकलित किया है। इन सानेटों का स्वर मुख्यतः वैयक्तिक है किन्तु वे सामाजिक उद्देश्यों से बिल्कुल अछूते नहीं हैं।

हिन्दी-काव्य की छायावादी परम्परा भी अभी जीवित है और कुछ ऐसे कवि हैं जिनकी रचनाओं में वे प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूपेण सक्रिय हैं जो १९२० से १९३५ तक प्रमुखतः परिलक्षित हुई। ऐसे कवियों में जानकीबल्लभ शास्त्री, नरेन्द्र शर्मा, सुमित्रा कुमारी सिन्हा, और अंचल विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें जानकी बल्लभ

शास्त्री और सुमित्रा कुमारी सिन्हा ने निराला का मार्ग अपनाया है और नरेन्द्र शर्मा मूलतः भावुक कवि हैं, यद्यपि कुछ वर्षों तक वे मार्क्सवाद से प्रभावित थे। इधर उनका झुकाव आध्यात्मिक रचनाओं की ओर हो गया है। उनके लघु आख्यान काव्य **द्रौपदी** में यह नवीन दृष्टि भलीभाँति व्यक्त हुई है। अंचल ने भी कुछ प्रगतिवादी कविताएँ लिखी हैं परन्तु वे मुख्यतः छायावादी शैली में लिखने वाले रोमान्टिक कवि हैं। उनकी रचनाएँ शृंगारिकता से परिपूर्ण हैं और उनके प्रमुख विषय हैं, प्रकृति, नारीरूप, और प्रणय। इसी प्रसंग में गीत और गीतकारों के सम्बन्ध में भी कुछ कह देना ठीक होगा। वर्तमान काल में गीतों का उन्नयन कई कारणों से हुआ है। **अर्चना** में संग्रहीत निराला की रचनाओं ने गीतकारों का पथ-प्रदर्शन किया है और अनेक गीत रचनेवाले कवि निराला का अनुसरण करते हैं। लोकगीतों की धुन पर भी रचना हो रही है और उसका सबसे अच्छा उदाहरण बच्चन ने प्रस्तुत किया है। सिनेमा संगीत ने भी गीत रचना को प्रोत्साहित और प्रभावित किया है। जानकी बल्लभ शास्त्री, हंसकुमार तिवारी, नीरज आदि पुराने गीत प्रणेताओं के अतिरिक्त कुछ नये गीतकार भी सामने आये हैं, जैसे 'क्षेम', राम दरस मिश्र, कैलाश बाजपेयी, और रविन्द्र 'भ्रमर'। इन गीतकारों ने शैली और संगीत में नये प्रयोग किये हैं।

अब हम वर्तमान युग में प्रचुर एवं उत्तम काव्यरचना करनेवाले तीन उत्कृष्ट कवियों के बारे में कुछ अधिक विस्तार से लिखेंगे। बच्चन ने उस समय काव्यरचना शुरू की जब छायावाद का विघटन शुरू हो गया था। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में मदिरा की मस्ती का आभास मिला, किन्तु साथ ही साथ वितृष्णा और विषाद के बादल भी प्रगट हुए। उचाट और एकाकीपन के गान वे अनेक वर्षों तक गाते रहे, किन्तु उनकी कविता ने हाल के वर्षों में नया मार्ग ग्रहण किया है। **त्रिभंगिमा**, **चार खेमे चौसठ खूंटे** आदि काव्यसंग्रहों से विदित है कि वे अब लोकगीतों की पद्धति पर काव्यरचना कर रहे हैं। उनका यह प्रयोग महत्त्वपूर्ण हैं और लोकगीतों की विभिन्न शैलियों में लिखी हुई बच्चन की रचनायें अत्यन्त रोचक हैं। कुछ कविताओं में व्यंग के अच्छे उदाहरण मिलते हैं।

वर्तमान शताब्दी के पाँचवें दशक तथा उसके उपरान्त श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' ने प्रचुर परिमाण में काव्य रचना की है। इन वर्षों में प्रकाशित होने वाले इनके प्रमुख काव्यग्रंथ हैं, **रश्मिरथी**, **नीलकुसम**, **सीपी और शंख**, **उर्वशी**, और **परशुराम की प्रतीक्षा**। 'दिनकर' जी भावुक कवि हैं और उनकी रचनाओं में ओज और माधुर्य का अद्भुत समावेश हुआ है। कुछ कविताओं में उन्होंने दलित और शोषित जनों के प्रति सहानुभूति व्यक्त की है। सामान्य रीति से हम कह सकते हैं कि 'दिनकर' जी की कविता के दो प्रधान स्वर हैं। एक प्रकार की उनकी कविता ऐसी है जो

तेजस्विता, ओज, और प्रसाद से परिपूर्ण है। कुरुक्षेत्र तथा चीनी आक्रमण के पश्चात् प्रकाशित **परशुराम की प्रतीक्षा** नामक संग्रह में मुख्य रूप से ऐसी आवाहन और उद्बोधन की ओजपूर्ण रचनाएँ मिलती हैं। शृंगार और माधुर्य विषयक उनकी प्रतिनिधि रचना उर्वशी सन् १९६१ में प्रकाशित हुई। उर्वशी और पुरूरवा की प्राचीन कथा को 'दिनकर' जी ने काम-अध्यात्म की नवीन भूमिका पर प्रस्तुत किया है। उर्वशी के अलौकिक रूप का वर्णन तथा उर्वशी और पुरूरवा की प्रणय-केलि का वर्णन शृंगारिक काव्य की सफल परम्परा में आ जाता है किन्तु उर्वशी और पुरूरवा का पारस्परिक आकर्षण किसी उच्चतर आदर्श और उद्देश्य की ओर संकेत करता है उर्वशी और पुरूरवा दोनों ही इस बात को मानते हैं कि मांसल प्रेम की परिणति पारलौकिक प्रेम में होती है। प्रेम के आध्यात्मिक स्वरूप की चर्चा भारतीय और पाश्चात्य दार्शनिकों ने अनेक स्थलों पर की है। इस दृष्टिकोण से लिखे हुए काव्य की सफलता केवल इस बात से आँकी जा सकती है कि किस कौशल से कवि ने काव्य और दर्शन के प्रभावों को समुचित कलापूर्ण रीति से समन्वित किया है।

श्री सुमित्रानन्दन पंत का **अतिमा** नामक काव्य संग्रह कुछ वर्षों पहले प्रकाशित हुआ था। उसकी विशिष्ट कविताओं में छायावादी विशेषताओं के साथ अरविन्द दर्शन का वैसा ही मेल मिलता है जैसा **स्वर्ण-धूलि** और **स्वर्ण-किरण** में। पंत जी का वृहद् काव्य-ग्रंथ **लोकायतन** अभी हाल ही में प्रकाशित हुआ है। विस्तृत पटल पर इस ग्रंथ में कवि ने लोक जीवन और उसकी समस्याओं का विशद चित्र अंकित किया है। इस काव्य की सीमा के अन्तर्गत देशप्रेम और विश्वप्रेम दोनों का ही समावेश हो गया है। कथा वाल्मीकि के आश्रम में सीता, लक्ष्मण, और वाल्मीकि के वार्त्तालाप से प्रारंभ होती है। सीता शक्ति-रूपा और पृथ्वी के कलुष और द्वन्द्वों को नष्ट करनेवाली हैं। इसके पश्चात् भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम का क्रमबद्ध वर्णन है; तदुपरान्त कवि ने अन्तश्चेतन में निहित कलात्मक और आध्यात्मिक मूल्यों की विवेचना की है। युगकवि वंशी और समाज सेवक हरि कथा के दो प्रमुख पात्र हैं। इस काव्य में पंत जी का दृष्टिकोण आदर्शवादी और मानववादी है और स्थूल भौतिक जगत से उठ कर पारलौकिक सत्ता की ओर उनका मन प्रवृत्त हुआ है। कविता का जो आदर्श उन्होंने अपने सामने रखा है उसका सम्बन्ध लोकमंगल से है, मात्र मनोरंजन से ही नहीं! उन्होंने लिखा है :

कलाबाज कहता हरि उनको
उड़ा कल्पना के कनकौवे
बोली का रंग दे गढ़ते जो
अर्थहीन बिम्बों के हौवे

जन धरणीं की प्रसव व्यथा
जिसमें नहीं महत् उद्वेलन
बंध्या वह कवि कला, अहं प्रिय,
लघु निजत्व की थोथी दर्पण !

प्रायः सात सौ पृष्ठों के इस विशाल काव्य में काव्य-सौष्ठव और प्रांजल रचना शैली का सफल निर्वाह चकित कर देने वाला है। वर्णनों की छटा ने **लोकायतन** को विशेष आकर्षक बना दिया है।

उपसंहार

हिन्दी अपने आदिकाल से ही भारत के बहुसंख्यक समुदाय की भाषा रही है। यह पंजाब से पूर्व में बिहार तक, और उत्तर प्रदेश से बरार तक विचार-विनिमय का माध्यम रही है । हिन्दी की अनेक बोलियों को उससे अलगाने का प्रयत्न केवल त्रुटिपूर्ण ही नहीं, अनुचित भी है । हिन्दी की परम्परा आठवीं शताब्दी से लेकर आज तक अखंड है। इस सहस्राधिक वर्ष में विविध प्रकार का प्रचुर साहित्य निर्मित हुआ। आदिकालीन साहित्य यद्यपि अधिकांश नहीं मिलता तथापि एक विशाल परिमाण शेष है। प्राचीन हिन्दी साहित्य का परिमाण कम नहीं है और आधुनिक काल में उसकी सर्वतोमुखी उन्नति हो रही है। सम्प्रति अनेक अंगों-उपांगों-सहित साहित्य-निर्माण की धारा प्रवहमान है, पर इतना ही हमारे संतोष का कारण नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि अँगरेजी अथवा अन्य महत्त्वपूर्ण योरोपीय भाषाओं में प्रतिवर्ष लिखित और प्रकाशित होनेवाली पुस्तकों की अर्द्धसंख्या तक भी हिन्दी नहीं पहुँचती। लेकिन अपने देश की सीमाओं को देखते हुए तुलनाओं को छोड़ दें तो वर्तमान काल में साहित्य-निर्माण की प्रगति में पर्याप्त वेग है, और भविष्य में अत्यधिक वेग की संभावना है। अतएव हिन्दी साहित्य पर्याप्त समृद्ध है । इसके सिवाय इसमें धार्मिक और रहस्यवादी प्रकारों के साथ-साथ धर्मनिरपेक्ष और प्रेमाख्यानक साहित्य भी सम्मिलित है । यह कबीर की निर्गुण बानी और रामचरितमानस जैसे उदात्त काव्य और पदमावत जैसे प्रेमाख्यानक काव्य और सूर के अलौकिक पदों के लिए गर्व कर सकता है। इसकी वर्तमान उपलब्धियाँ भी किसी अंश में न्यून नहीं। उदाहरणार्थ छायावादी काव्य और गत तीस वर्षों में लिखित गद्य कथा-साहित्य का कुछ अंश हमारे साहित्य का प्रकृष्ट भाग होकर रहेगा।

हिन्दी साहित्य की महिमा का प्रमुख कारण उसकी जीवन्तता है। यह ओज और विकास से पूर्ण सप्राण साहित्य है। इस जीवन्तता का महत्त्वपूर्ण उद्‌गम है इसका जन-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध। एक युग में अपने लम्बे इतिहास-मार्ग में हिन्दी साहित्य सामान्य जनता से अलग जा पड़ा था। यह कहा जा चुका है कि किस प्रकार रीतिकालीन कविता दरबारी तड़क-भड़क और सामंती ठाट-बाट

की छवि उतारने में लग गई थी जिसके कारण मतिराम, देव, और पद्माकर जैसे प्रतिभाशाली कवि भी अपना पूर्ण विकास न कर सके। फिर भी यह ध्यान देने की बात है कि जिस समय कविता इस प्रकार रीति की रूढ़ियों से बद्ध थी उस समय घनानन्द, लाल, आलम, बोधा और अन्यान्य कवियों ने सामान्य जीवन से प्रेरणा प्राप्त कर मुक्त और आत्मानन्दी कविता की धारा प्रवाहित की। हिन्दी साहित्य के जनसाधारण के जीवन से निकट सम्पर्क का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है कि इसमें घटित होनेवाले प्रत्येक परिवर्तन की व्याख्या राजनीतिक और सामाजिक विकास-क्रम के आधार पर की जा सकती है। हिन्दी साहित्य का यह संक्षिप्त इतिहास लिखते समय हमारा ध्यान उन सामाजिक और राजनीतिक शक्तियों की ओर बराबर रहा है जिन्होंने नवीन साहित्यिक वातावरण के रूप, अवस्थित और प्रवृत्ति का निर्द्धारण किया है। उदाहरणार्थ चारण काव्य का मूल आधार सामंतों का पारस्परिक युद्ध है, कबीर से सूरदास पर्यन्त भक्ति काव्य अंशतः देशव्यापी निराशा से निकला है और छायावादी काव्य प्रथम महायुद्ध के बाद की विशिष्ट परिस्थितियों द्वारा निर्मित है। यह प्रकट है कि हिन्दी साहित्य नवीन प्रभाव ग्रहण करने और नई परिस्थितियों के अनुसार प्रतिक्रिया करने में समर्थ है। बीसवीं शती का इसका इतिहास इस शक्ति का प्रमाण है। इस शताब्दी के प्रारम्भ से ही हिन्दी साहित्य ने अंग्रेजी, बँगला और मराठी साहित्यों के सम्पर्क से प्राप्त नवीन प्रकारों का ग्रहण और प्रयोग किया। इधर हाल में इसने अमेरिका, योरप, और एशिया के विशाल साहित्य-क्षेत्र से प्रेरणा और रूप-विधान ग्रहण करने में कोई संकोच नहीं किया है। यह हिन्दी के जीवन्त साहित्य होने का पुष्ट प्रमाण है। केवल मुमूर्षु, जड़ या आकर साहित्य मात्र नवीन तथ्यों और भावों को ग्रहण और आत्मसात् करने की ऐसी शक्ति नहीं रखते।

हिन्दी साहित्य का भविष्य अतीत से भी महान् हो सकता है। यह अपरिसीम जान पड़ता है। इसका साहित्यिक परिमाण समृद्धिपूर्ण है, जिसमें समय और भी वृद्धि करेगा। यह आशा सहेतुक है। हिन्दी, संसद् द्वारा भारत की राष्ट्रभाषा और राज्यभाषा स्वीकृत कर ली गई है। इस प्रकार इसने उच्च पद प्राप्त कर लिया है और उसके प्रभाव-क्षेत्र में और अधिक विस्तार हुआ है। अब यह अकेले उत्तर भारत की भाषा न रहकर पूरे देश की भाषा बन गई है। समय के साथ हिन्दी उससे भी बड़ी सुविधाएँ प्राप्त कर लेगी, जो इस देश में अंग्रेजी को एक शताब्दी पर्यन्त प्राप्त थीं, क्योंकि यह अंग्रेजी के समान बलपूर्वक जनता पर लादी नहीं गई, प्रत्युत सर्वसम्मति से इसको अंगीकार किया गया है। यह किसी की भी इच्छा नहीं है कि हिन्दी विभिन्न प्रादेशिक भाषाओंका शासन अथवा उन्मूलन करे, अतएव हिन्दी-साम्राज्यवाद की चर्चा असंगत है। इसके विपरीत हिन्दी नई वस्तु योजना में अपना

विशेष स्थान ग्रहण करेगी और इस बात की सम्भावना है कि हिन्दी और विभिन्न प्रान्तीय साहित्यों में सौहार्दपूर्ण पारस्परिक आदान-प्रदान होता रहेगा। परिणामतः दोनों पक्षों का लाभ और पोषण होगा। इस देश का प्रत्येक साहित्य विशिष्ट ऐतिहासिक, भौगोलिक और सामाजिक परिस्थितियों में निर्मित और पल्लवित हुआ है। इन साहित्यों के विकास में, सम्बद्ध जनता की अन्तः प्रकृति का प्रमुख प्रभाव रहा है। उदाहरण के लिए बँगला साहित्य की सूक्ष्म और तरल भावुकता उसकी अपनी है। इसी प्रकार मराठी पोवाड़े की ओजपूर्ण विशेषता और कुछ दक्षिण भारतीय भाषाओं की कविताओं की दार्शनिकता उनकी भेदक विशेषताएँ हैं। वैसे ही हिन्दी की भी अपनी विशेषताएँ हैं, जो विभिन्न ऐतिहासिक तथ्यों के परिणामस्वरूप आविर्भूत हुई हैं। इनका हमने इस पुस्तक में दिग्दर्शन किया है, और इनका प्रादेशिक साहित्यों पर यथेष्ट प्रभाव पड़ेगा। स्वतन्त्र भारत की नई व्यवस्थाओं द्वारा समुद्गत राजनीतिक ऐक्य की चेतना, इस प्रकार के प्रभावों के मुक्त और अनियंत्रित आदान-प्रदान के लिए अधिक प्रेरक होगी। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र विस्तार के कारण नवीन और महत्त्वपूर्ण रूपों की प्राप्ति के साथ भविष्य में सशक्त होगा। एक विशाल जनसमुदाय की भाषा होना और उसका अखिल राष्ट्र द्वारा अंगीकृत होना भी इसका शक्तिवर्द्धन करेगा। यह स्पष्ट है कि भविष्य में हिन्दी साहित्य की अन्तर्निहित शक्तियों को प्रत्यक्ष करने के लिए विशद और व्यापक आधार प्रदान करना होगा। वस्तुतः इसको भारतीय साहित्य के नए आदर्श का निर्माण करना है जिसमें सम्पूर्ण देश के निवासियों की सामान्य सांस्कृतिक परम्परा का प्रतिनिधित्व हो, यही नहीं देश के विभिन्न भागों के साहित्यिक प्रभावों का मुक्त आकलन भी करना होगा। एक तो इसके अनुसार हमारी प्राचीन आकर परम्परा का ग्रहण होता है, जो इस या उस प्रदेश की न होकर सम्पूर्ण भारत की है। साहित्य की समस्याओं पर गम्भीर विचार किए जा चुके हैं और प्राचीन आचार्यों के विचारों का हम जितना ही पर्यालोचन करेंगे, उतना ही उनके महत्त्व को समझ सकेंगे। हमारे प्राचीन आध्यात्मिक सिद्धान्त और दार्शनिक चिन्तन भी सामान्य सम्पदा है और इनके द्वारा सामान्य साहित्यिक आदर्श का आधार पाया जा सकता है। इन्हीं आधारों पर आवश्यक से उपादानों भारतीय साहित्य का निर्माण होना चाहिए न कि किसी सीमित जीवन-क्षेत्र के आधार पर। देश के प्रत्येक भाग के प्रत्येक जन-वर्ग को अपनी विशिष्ट प्रतिभा और भावनाओं का योगदान इस साहित्यिक गणतन्त्र के निर्माण में करना चाहिए।

विदेशी प्रभावों के विषय में क्या हो? क्या उनकी उपेक्षा की जाय? यह उपेक्षा तो आत्महत्या-जैसी होगी। अगर हम चाहें तो भी उपेक्षा नहीं कर सकते। पिछले अध्यायों में हम दिखा आए हैं कि वर्तमान शती में हिन्दी साहित्य का वैशिष्ट्य

और मार्ग अधिकाधिक वैदेशिक प्रभावों से निर्धारित हुआ है । आरम्भ में इंगलैंड का ही प्रभाव रहा। क्रमशः हमारा परिचय और बढ़ा और हिन्दी-लेखकों ने संसार के इतर भागों के प्रभाव को भी ग्रहण किया। ये वैदेशिक प्रभाव वस्तु विषय के चयन, आदर्शों के विनियोग, और अभिव्यंजना-शैली में सुस्पष्ट हैं। इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि आधुनिक हिन्दी साहित्य की समृद्धि और विविधता के मुख्य कारणों में से एक कारण विदेशी लेखकों और विदेशी आन्दोलनों का तत्पर अध्ययन भी है। सीधे प्रभाव के अतिरिक्त अनुवादों, और आहरणों द्वारा भी हमारे लेखकों ने जो वैदेशिक साहित्य के परिचय द्वारा प्रेरणा और आत्मविश्वास प्राप्त किया, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इनके द्वारा उनके विचारों और प्रवृत्तियों में आमूल परिवर्तन घटित हुआ। विदेशी साहित्यिक आदर्श अतीत में इतने लाभदायक रहे हैं कि उनको भावी साहित्य से बहिष्कृत करने का प्रयत्न हानिकर होगा। साहित्य-क्षेत्र में पार्थक्य-भाव जीवन-क्षेत्र की अपेक्षा अधिक घातक है, और अधुना विश्व में इस पर बल देना पागलपन के सिवा कुछ भी नहीं। इस शती में अमेरिकी साहित्य के द्रुत और समृद्ध विकास का प्रभूतांश इस कारण संभव हुआ कि वहाँ के साहित्यकार प्रत्येक नई पद्धति और चलन का प्रयोग करने के लिए उद्यत थे, और समस्त साहित्यिक सिद्धान्तों के परीक्षण और प्रयोग करने में तत्पर रहे। वस्तुतः गत अस्सी वर्षों में योरप का शायद ही कोई ऐसा वाद या लक्ष्य रहा हो जिसका उपस्थापन या अनुधावन अमेरिका में न हुआ हो। दैवयोग से अमेरिकी साहित्य के लिए साहित्य-साम्राज्य में मुनरो-सिद्धांत लागू न था। हमको इस उदार प्रवृत्ति का अनुसरण करना चाहिए और बाहर से आनेवाले प्रत्येक कलापूर्ण प्रभाव का स्वागत करना चाहिए। पर इसका यह तात्पर्य कभी नहीं कि हम आँख मूँदकर विदेशी विचारों का अनुकरण और ग्रहण करें। मूल वस्तु और पद्धति तो हमारी अपनी ही होनी चाहिए; क्योंकि हमारे साहित्य को हमारे दर्शन, संस्कृति और राष्ट्रीय जीवन के तथ्यों में ही अपनी जड़ें फैलानी होंगी। विदेशी प्रभाव और शक्ति तो समृद्धि के स्रोत-मात्र हैं। देशभक्त होना अच्छी बात है, मगर इसमें संकीर्णता अच्छी बात नहीं। आज और कल के हिन्दी-लेखकों के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने देश और उसकी परम्परा तथा विश्व के विभिन्न भागों में भूत और वर्तमान प्रभावों का गम्भीर ज्ञान अर्जित करें। जब वे इन आवश्यक तथ्यों के प्रति सावधान रहकर साहित्य-रचना करेंगे, तब उनकी कृति में व्यापकता आएगी। इस नए साहित्य का निर्माण हो जाने पर, नए काव्यशास्त्र का निर्माण करना होगा। हमारे साहित्य-विचारकों और शास्त्रज्ञों को इस देश में उपलब्ध नए और प्राचीन साहित्य का परीक्षण करके सामान्य निष्कर्षों की स्थापना करनी पड़ेगी। रस, रीति, अलंकार, वक्रोक्ति, और ध्वनि के प्राचीन आचार्यों की स्थापनाओं से तुलना करते हुए इन

निष्कर्षों का परीक्षण करना होगा। यही नहीं, प्लेटो, अरिस्टॉटल और लाँजिनस से लेकर मार्क्स, फ्रायड और क्रोचे पर्यन्त पाश्चात्य विचारकों के विचार-प्रसंग में भी इनका अध्ययन किया जाना चाहिए। हमारा संतोष तभी सकारण होगा, जब यह आवश्यक कार्य हो चुकेगा। इस बीच हिन्दी-साहित्य, आशा है, उत्तरोत्तर शक्ति-पथ पर अग्रसर होता रहेगा ।